॥ श्री गणेशाय नमः ॥

गुरुमण्डल ग्रन्थमालायाः दशमम्पुष्पम्

निरुक्तम्

(निघण्टुः)

श्रीमन्महर्षियास्काचार्य्य प्रणीतम्

प्रथमो भागः

श्री देवराजयज्वकृत 'निर्वचन' नाम टीका सहितम्

श्रीनाथादिगुरुत्रयं गणपतिं पीठत्रयम्भैरवम् ।
सिद्धौघं बटुकत्रयम्पदयुगं दूतीक्रमं मण्डलम् ॥
वीरान्द्व्यष्ट चतुष्क षष्टिनवकं वीरावलीपञ्चकम् ।
श्रीमन्मालिनि मन्त्रराजसहितं वन्देगुरोर्मण्डलम् ॥

Gurumandal Series No. X.

NIRUKTAM

(NIGHANTU)

BY

Maharshi Yaskacharya

WITH A

COMMENTARY BY

Pandit Devaraja Yajvan

Volume I.

FIRST EDITION 5000

5, Clive Row,
Calcutta.

Vikram Era. 2009 | Christian Era 1952

PREFACE.

Language had become an object of wonder and meditation with the Aryans in India at a very early period, Only two nations of the world viz., India and Greece are credited by Max Muller with having conceived the science of Grammar independently of each other. The facts of language were culled by these Aryan forefathers of ours and used for linguistic generalisations were recorded in NIRUKTA by Yaska who deals with Vedic etymologies. The NIGHANTUKA is the first part of the NIRUKTA, in which synonymous words are taught. This part begins with GAUH and ends with DEVAPATNIS My friend Shri B. D. Trivedi has published this NIGHANTU in the present booklet for the use of. *young students, who may desire to commit it to* memory to facilitate a deeper study of NIRUKTA at a later age. As NIRUKTA is one of the six VEDANGAS its study is necessary for the understanding of the Veda seven from the modern point of view. Shri Trivedi, therefore, deserves our best thanks for the publication of the present booklet which besides helping all students of Vedic literature, aims at popularising our Sacred Books. A close study of which will not fail to inspire the younger generation of Indians to noble ways of thought and life most needed for the regeneration of our Bharatavarsa.

Bhandarkar Oriental
Research Institute
Poona 4
1st July, 1952.

P. K. GODE

* श्रीहरिः *

प्राक्कथन

—:⊛:—

"ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गोवेदोऽध्येयोज्ञेयश्च"

—(::)—

भारतीय अध्ययन-क्रम सबसे प्रथम वेद को पढ़ना जानना बताता है। यथा, "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" वेद पढ़ना चाहिए। यह शास्त्रविधि है। मानवीय धर्मशास्त्र में कहा है "योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्रं कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥" जो द्विजाति वेद न पढ़ कर केवल अन्य साहित्यों का अध्ययन करता है वह सकुटुम्ब शूद्रत्व प्राप्त करता है अर्थात् वेद विहित कर्म करने का अधिकारी नहीं होता है। वेद विद्या के अध्ययन से दैवीबल विकास होकर सम्पूर्ण शास्त्र, विज्ञान, साहित्य, कला आदि के प्रचुर विज्ञान की क्षमता और विद्वज्जीवनी की पात्रता हो जाती है। भारतवर्ष की शिक्षणप्रणाली वेदाध्ययन से प्रारम्भ होती है। वेदार्थ का ज्ञान अति गम्भीर होने से "शिक्षां कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तं छन्दोज्यौतिषं" इन छै अङ्गों का

पहले ज्ञान प्राप्त कर लेना परमावश्यक है। मुण्डकोपनिषद् में आया है:—"द्वेविद्ये वेदितव्ये इति ह्स्म यद् ब्रह्मविदोवदन्ति परा चैवा परा च। तत्र अपरा ऋग्वेदः यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वणः शिक्षा कल्प व्याकरण छन्द ज्योतिष निरुक्तः। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।" धर्मज्ञान के साधन षडंग सहित वेद अपरा विद्या बताये गये हैं। परमपुरुषार्थ ब्रह्मज्ञान के विकासक उपनिषद् भाग को 'पराविद्या' सञ्ज्ञा दी गई।

शिक्षाः—"आत्माबुद्ध्या समेत्यार्थान्" इत्यादि से वर्णों (स्वर-व्यञ्जन) का उच्चारण क्रम जिसमें बताया गया है उस को शिक्षा कहा है। जैसे, तैत्तिरीय में "अथ शिक्षां व्याख्यास्यामः" इस शिक्षाध्याय में वर्ण और स्वर का उच्चारण बताया है। सबसे प्रथम किसी मन्त्र के पूर्ण ज्ञान के पूर्व वर्ण स्वर का उच्चारण-क्रम भलीभांति जानलेना चाहिये। प्राचीन आपिशल व्याकरण पर हमारे एक मित्र ने लिखा है कि उन्होंने ४० वर्षों तक उच्चारण में समय लगाया और उन्होंने मुख के किस स्थान को कितना संकोचन कितना विकाश कर तथा जिह्वा का आकुञ्चन संकोचन तत्स्थान स्पर्श का विधान दिखा कर प्रत्येक वर्ण के सचारुरूप से उच्चारण प्रकारकी प्रक्रिया बताई है। वस्तुतः वर्ण और शब्द का उच्चारण का ज्ञान साहित्य और मन्त्र की मौलिक मर्यादा है "मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।" अशुद्ध उच्चारण कियागया मन्त्र प्रयोगकर्ता के लिये हानिकर सिद्ध हुआ है। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शिक्षा के देनेवाले महानुभाव पूर्ण विद्वान् सर्वतन्त्रस्वतन्त्र और निःस्वार्थ

हों जिससे किसी प्रकार की हानि न हो। जैसे वृत्रासुर ने "इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" में अपने लिये ही पूर्वपद प्रकृति स्वरत्व रख कर घातकता बना ली। सबसे प्रथम स्वरवर्ण का उच्चारण समझना परमावश्यक है शिक्षा का मुख्य अर्थ वर्णस्वर का उच्चारण है।

कल्प :—किस मन्त्र की किस कार्य में कल्पना की जाती है इस विधि का ज्ञान जिससे होता है उसे कल्प कहते हैं। जैसे, आश्वलायन कल्प, बौधायन कल्प, आपस्तम्ब आदि ये कल्प हैं। इन में जिस यज्ञ में जिस कर्म में जो मन्त्र लगाया जाता है, उसका वर्णन है।

व्याकरण :—शब्द की प्रकृति और प्रत्यय के संयोग का उपदेश पद का स्वरूप, पदार्थ का निश्चय व्याकरण से प्राप्त होता है। आज तक भी पाणिनीयादि व्याकरण के आविर्भावकों की शैली पदार्थ निरूपण में प्रयोग की जाती है। कहा भी है :—

"छन्दःपादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षाघ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥

इस श्लोक में वेद की मूर्ति का वर्णन है। साङ्गवेदाध्ययन से ब्रह्मलोक की प्राप्ति शास्त्र ने बतलाई है।

निरुक्त :—"वर्णागमो वर्ण विपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।" उक्त परिभाषा निरुक्त को पञ्चलक्षणात्मक बताती है जिसका आगे स्पष्टीकरण करेंगे। गो शब्द से देवपत्नी शब्द तक निघण्टु का व्याख्यारूप है। किसी

शब्द के अर्थज्ञान में दूसरे व्याकरणादि की अपेक्षा के बिना स्वयं अर्थ के प्रकट करने को निरुक्त कहा है। गो शब्द से प्रारम्भ कर देवपत्नी शब्द तक जो समाम्नाय है उसे यास्क ने, निरुक्त संज्ञा दी है। जैसे, इतने पृथ्वी के नाम इतने हिरण्यादि के नाम आदि। यास्काचार्य ने निरुक्त तीन काण्डों में बताया है। निरुक्त :—(१) निघण्टु, (२) नैगम, (३) देवता यह पञ्चाध्यायी निरुक्त है।

छन्द :—इस में अक्षरों से छन्द बने हैं। किस देवता की स्तुति प्रधानतया किस छन्द में हो यह विधान है "छन्दश्छादनात्" छन्द का ज्ञान वेदार्थज्ञान का अविभाज्य अंग है जिसका ज्ञान न होने से मनुष्य को अज्ञानी लिखा है।

ज्योतिष—"वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत" यज्ञ का काल, पुण्यकाल, उचित अनुचित समय का ज्ञान और ग्रहगति से भौमान्तरिक्ष उत्पात का ज्ञान ज्योतिष से होता है। ज्योतिष ही प्रकाश स्व ब्रह्मज्योति है।

सम्पूर्ण शब्दराशि नाम, आख्यात, निपात और उपसर्ग इन चार स्कन्धों में रहती है। नाम संज्ञा को कहते हैं। निरुक्त प्रत्येक नाम का निर्वचन करता है। यास्काचार्य "नामान्याख्यातजानि" कह कर निर्वचनक्रम निर्देश करते हैं; जैसे, अग्नि शब्द है इसका आख्यातज निर्वचनक्रम है 'अग्निः अग्रणी भवति' आदि है। संज्ञा आख्यात (क्रिया) से बनी है। इससे यह निष्कर्ष आया कि अर्थ के ज्ञान में निरपेक्षतया पद जहाँ कहा गया वह निरुक्त का लक्षण है "अर्थावबोधे निरपेक्षतया। पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्" छान्दोग्य उपनिषद् में आया है "स वा एष आत्मा हृदि तस्य तदेव निरुक्तं हृदयमिति तस्माद् हृदयम्" ८।३।३।

अर्थ के ज्ञान में दूसरे की सहायता बिना जो अर्थ को प्रगट करना होता है उसे निरुक्त कहते हैं। इसी तरह ओङ्कार का निर्वचन किया गया। "आप् धातु" से ओङ्कार बना सर्वमाप्नोतीती ओङ्कारः। स्मृतियों में भी बहुत ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ बिना निरुक्त के नहीं हो सकता। जैसे, "मांस भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यम्। एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः" इति मांसस्य निर्वचनम्। मांस का निर्वचन कौत्स ने किया है, मांसम्-माननं वा मानसम् वा मनोऽस्मिन् सीदति वा। दूसरे स्थान पर मनु में आया है :— "श्राद्धभुक् वृषलीकल्पम्" इस में वृषली शब्द स्त्री का वाचक है। यास्क ने इस शब्द का यह निर्वचन किया है :—"वृषलो वृषशीलो भवति वा वृषाशीलो वा" इसलिये वृषली का अर्थ व्यभिचारिणी हुआ। इसी प्रकार महाभारत में भी आया है "महत्त्वाद् भारतत्वाच्च महाभारत-मुच्यते" निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते"। महाभारत काल में भी स्वतंत्र अर्थ में निरुक्त का ही आश्रय लिया है वहीं मोक्षधर्म में अर्जुन ने पूछा है :—

"भगवन्! भूतभव्येश सर्वभूतसृगव्यय!
लोकधाम जगन्नाथ लोकानामभयप्रद॥
यानि नामानि ते देव! कीर्त्तितानि मनीषिभिः।
वेदेषु सपुराणेषु यानि गुह्यानि कर्मभिः॥
तेषां निरुक्तं त्वत्तोऽहं श्रोतुमिच्छामि केशव!
नह्यन्यो वर्णयेन्नाम्नां निरुक्तं त्वामृते प्रभो॥"

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा "गौणानि तत्र नामानि

कर्मजानिच यानि तत्। निरुक्तं कर्मजानां त्वं शृणुष्व प्रयतोऽनघ !" कहते हैं: हे निष्पाप ! कर्म से जो नाम उत्पन्न हुए हैं उन्हें तुम सुनो। यथा ; यास्क के मत में नाम आख्यातज हैं इस से आगे कहते हैं :—

"नराणामयनं ख्यात मिद मेकः सनातनः।
आपो नारा इति प्रोक्ता आपोवैनरसूनवः।
अयनं तस्य तत्पूर्वमतो नारायणोह्यहम्।"

कात्यायन के मत में "नाम धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे।" नाम और आख्यात उपसर्ग और निपात यह जिस में होते हैं उसे निरुक्त कहते हैं। निरुक्त पञ्चाध्यायी है। यह गवादि शब्द से देवपत्नी तक पांच अध्यायों में विस्तृत है। यह पहले बता दिया गया है। वैदिक मन्त्र पदों के अर्थज्ञान के हेतु यास्क ने समाम्नायः समाम्नातः सव्याख्यातव्यः इत्यादि त्रयोदशाध्यायात्मक निरुक्त की रचना की है।

निरुक्त के बिना वेदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। पञ्चाध्यायी निघण्टु भागत्रय नवाध्याय निरुक्त के आश्रय से वेद के मन्त्रों का ज्ञान होता है। समाम्नाय को निघण्टु कहते हैं। आगे लिखा है, "निगमा इमे भवन्ति छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य" निगमा अर्थात् निश्चय से वे निगूढार्थक हैं "तानि गवादिदेव पत्न्यन्त नामानि छन्दोभ्यः समाहृत्य" मन्त्रों से लेकर ग्रथन किया है जैसे, महर्षि यास्क ने कहा है :— साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्यः असाक्षात्कृतधर्मभ्यो उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरेभ्योबिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषु र्वेदं च वेदाङ्गानि च"। उपरोक्त उपदेश से यह ज्ञान हुआकि पहले कल्प में वेद मन्त्र आकाश में बिखरे हुए थे अर्थात् ईश्वर के अनादि

निःश्वासरूप यह वेदराशि नादात्मक वीचि तरङ्गों में दिव्य आकाशमण्डल में लहरा रही थी इनको कृतधर्मा ऋषियों ने पाया। इन विकीर्ण मन्त्रों को एकत्र कर निघण्टु बना कर अध्ययनाध्यापन द्वारा विस्तार किया गया। पहले इनको ब्राह्मणग्रन्थों में समाधान किया। ब्राह्मणग्रन्थ भी जब वेदार्थ ज्ञान में पर्याप्त न हुए तब इनको निरुक्तादिग्रन्थों में समाधान किया। निरुक्तादि कहने से वेद के छै अङ्गों के बीजभूत षडङ्ग हुए। जैसा पहले कह चुके हैं शिक्षा से स्वरवर्ण का ज्ञान कल्प से मन्त्रों का विनियोग, व्याकरण से विभक्ति आदि का ज्ञान, वेदबोधित कर्म करने का काल का परिज्ञान ज्योतिष से तथा मनुष्यों के शुभाशुभ कर्म विपाकादि अध्ययन विधि को जानने के लिये छन्द और इसी प्रकार शब्द निर्वचन के लिये निरुक्त है "ना निरुक्तविद्‌व्याकुर्यात्"। साथ ही शब्द लक्षण परिज्ञान का मूल व्याकरण ही है। वह शब्दार्थपरिज्ञान आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक धर्मार्थ काम मोक्ष रूप पुरुषार्थ बिना निरुक्त के नहीं हो सकता है। इस से स्पष्ट हुआ कि अर्थ परिज्ञान के लिये निरुक्त ही प्रधान है। इस तरह सम्पूर्ण शब्दराशि नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात लक्षणात्मक है। नाम जो हैं आख्यातज हैं कोई कोई अनेक धातुओं से भी बने हैं। आख्यातज में भावप्रधान होता है। नाम में सत्त्व की प्रधानता होती है। नाम का उपदेश जैसे निरुक्तने कहा है गौ इत्यादि २१ पृथ्वी के नाम१५ हिरण्य के नाम बताये हैं। उसके आगे ३२ धातु गमनार्थक हैं इस तरह बतलाया है कि यह नाम है और यह आख्यात है इस लिये नाम और आख्यात के लक्षण निरुक्तकार ने बतलाये हैं। कहा है "ऋषयो ह्युपदेशस्य नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः। लक्षणेन तु सिद्धाना मन्तं यान्ति विपश्चितः॥"

"भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानिनामानि" यास्काचार्य ने शब्द के निर्वचन करने में शब्दों को तीन वृत्तियों में रक्खा है; परोक्ष, अति परोक्ष और प्रत्यक्ष। "परोक्ष प्रिया हि वै देवाः।" इसलिये जितने नाम हैं उनका निर्वचन निरुक्त से ही होगा। "पञ्चाध्यायी निघण्टोश्च निरुक्तमुपरि स्थितम्"। तो प्रत्येक शब्द का निर्वचन निरुक्त से ही होता है। यद्यपि निरुक्त का प्रथम काण्ड नैघण्टुक काण्ड लिखा है परन्तु उस में निघण्टु के एक ही शब्द का निर्वचन कहा गया है। आरम्भ में, "समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते, निघण्टवः कस्मान्निगमा इमे भवन्ति, छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नातास्ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः अपिवाऽऽहननादेवस्युः समाहृता भवन्ति।"

अर्थात् नामाख्यात उपसर्ग निपातात्मक शब्दराशिको मन्त्रों से एकत्र कर निघण्टु की रचना की गई है। निघण्टु शब्द अति परोक्षवृत्ति का है। शब्द की तीन प्रकार की वृत्ति होती है—(१) अतिपरोक्ष, (२) परोक्ष और (३) प्रत्यक्ष। यह ज्ञान निरुक्त शास्त्रगम्य है। शब्द को अतिपरोक्ष वृत्ति से प्रथम परोक्षवृत्ति में लायाजाता है तब प्रत्यक्षवृत्ति में लाकर निर्वचन अर्थात् निरीक्ष्य वचनं निर्वचनं उसे भली प्रकार देखकर अर्थाकारवृत्ति में लाना होता है। कहा भी है "परोक्षप्रियाः हि देवाः" वेदों में देवताओं का संस्तवन प्रायः परोक्षवृत्ति में हुआ है। उदाहरणार्थ, निघण्टु, अतिपरोक्षवृत्ति में इसका परोक्षवृत्ति में निगमाः यह स्वरूप होता है प्रत्यक्षवृत्ति में निगमयितारः अर्थात् प्रत्यक्षवृत्ति में क्रिया उसके अन्तर्गत रहती है। परोक्ष एवं अतिपरोक्षवृत्ति में निर्वचन से ही अर्थ प्राप्ति होती है इस कारण वेदार्थ परिज्ञान बिना निरुक्त के

अप्राप्य है जैसे, निघण्टवः यह अतिपरोक्षवृत्तिगत अर्थ है। इसी शब्द की निगन्तव यह परोक्षवृत्ति हुई और "निगमयितारः" यह प्रत्यक्षवृत्ति है। निरुक्त के लक्षण में ऊपर लिखा है "वर्णागमो वर्णविपर्यय० इत्यादि व्याकरणशास्त्र में उणादि प्रकरणगत शब्द परोक्षवृत्ति यह कर "असमाप्ता उणादयः" यह बताया भी है। अनेक क्रिया होने पर भी किसी एक क्रिया को लेकर शब्द का निर्वचन केवल निरुक्त शास्त्रगम्य है यहाँ समाहृता प्रत्यक्षवृत्ति में "समाहृताः" एकत्र करने के अर्थ में गौ आदि से देवपत्न्यन्त का सङ्केत है। शब्दराशि आकाश में अनन्त है। उन में से कुछ शब्द मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने एकत्र कर निघण्टु बनाया है। एक अभिधान में अनेक धातुओं का निर्वचन किस प्रकार हुआ इस पर कहा है :—"नामान्याख्यातजानि" नाम सब आख्यात से बने हैं यह निरुक्त का सिद्धान्त है जो उसका क्रियापद है उससे परोक्षवृत्ति से लेकर निर्वचन प्रकार बताया है। जो रूढ़ शब्द हैं वहाँ भी जो रूढ़िप्रयुक्त शब्द हैं उन्हें जो धातु रूढ़िपद के अर्थ को बताती है उसे लेकर निर्वचन करना बताया है।

निघण्टु के शब्दों का निर्वचन निरुक्त में किया है। वेद में जिन शब्दों का समाम्नान हुआ उनका निर्वचन वेदार्थ के अति निगूढ़ होने से किया गया। वेद शब्द किस का वाचक है समास से प्रथम उसका निर्देश यह है "वेद्यन्ते ज्ञायन्ते प्राप्यन्ते धर्मादिपुरुषार्थाः इति वेदाः।"

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता"। प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से जिस वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता उस अव्यक्त ब्रह्म का ज्ञान जिससे होता है वह

वेद शब्दवाच्य है। शास्त्र शब्द का भी प्रधान अर्थ वेद शब्द से ही है।

"अनेक संशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्। सर्वस्यलोचनं शास्त्रं यस्यनास्त्यन्ध एव सः" सम्पूर्ण प्रकार के संशय को छेदन कर परोक्ष इन्द्रियातीत तत्त्वका ज्ञान जिस से होता है वही शास्त्र है। इसी को भगवद्गीता में "दिव्यं ददामि ते चक्षुः" दिव्य चक्षु वेद को कहा है। अपौरुषेय वाक्य भी वेद को बताया है अर्थात परमेश्वर के निःश्वासरूप से आविर्भूत शब्दराशि वेद है। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" स्वाध्याय भी वेद की सञ्ज्ञा है। श्रुति शब्द भी वेद का ही वाचक है "श्रुति स्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः" श्रुति का अर्थ है वह नाद रूप अव्यक्तशब्द जिन्हें दिव्याकाश में भनभनाते मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने सुने है। "श्रुतिस्मृत्युदितंकर्मह्यनुतिष्ठन्ति मानवाः" श्रुति से वेदप्रतिपाद्य यज्ञादि कर्मका अनुष्ठान से तात्पर्य है, यतः जैमिनि ने भी बताया है "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्" वेदमन्त्र यज्ञादिक्रिया के बोधक हैं जिन से देवता शक्ति का साक्षात्कार होता है तथाच "उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः।"

वेद के स्वरूप निर्णय में बौधायन ने मन्त्र ब्राह्मण को वेद शब्द से घोषित किया है "मन्त्रब्राह्मणमित्याहुर्वेदशब्दं महर्षयः। विनियोगव्यरूपोयः समन्त्र इति कथ्यते॥ विधिस्तुतिकरं शेषं ब्राह्मणं कथयन्ति हि।" मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग दोनों को वेद कह कर जिन मन्त्रों को कर्म (यज्ञादि) में विनियोग किया गया है वे मन्त्र कहे गये और देवताओं की स्तुति आदि भाग ब्राह्मण कहा गया है। निरुक्त में तो

कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे" मन्त्र भाग को ही निर्वचन का कारण कहा है। वेद चार भागों में कहा गया है—"ऋक्पादबद्धो गीति स्तु सामगद्यं यजुर्मय। एवं चतुर्षु वेदेषु त्रिधैव विनियुज्यते।" पद्यात्मक ऋक् और गद्यात्मक यजुर्वेद कहा गया है ज्ञानात्मक साम कहा गया है। मनुसंहिता में आया है "अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्धर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्"—इन तीनों के अन्तर्गत अथर्ववेद भी है। बृहदारण्यक में आया है "अरे अस्य महतो निःश्वसितमेतत् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वणः।" महाभारत में आया है "एकतश्चतुरो वेदान् भारतञ्चैतदेकतः। पुरा किल सुरैः सर्वैस्समेत्य तुलया धृतम्। चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्योऽप्यधिक यदा। तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन्महाभारतमुच्यते"॥ अथ च द्रुति के आगे प्रथम स्कन्ध में प्रतिपादन किया गया है "यो विद्याच्चतुरोवेदान्" इस कथन से भी चार वेदों की सिद्धि होती है। त्रयी शब्द यों कहा गया है कि यह रचना पद्य, गद्य और गीति इन तीनों विषयपरक है। क्योंकि छान्दोग्योपनिषद् में भी चार वेद ही बताये गये हैं। सनत्कुमार के प्रश्न के उत्तर में "ऋग्वेदोऽध्येमि यजुर्वेदोऽध्येमि सामवेदोऽध्येमि अथर्ववेदोऽध्येमि॥ इन चार वेदों का वर्णन है।

"चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽअस्य पादा द्वेशीर्षे सप्तहस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यांऽआविवेश" इस से चार वेद सिद्ध होते हैं। मनुने भी चार वेद का निरुपण कहा है। जहां कहींत्रयी विद्या पद आया है वहां सर्वत्र त्रयीशब्द चारों वेदोंका वाचक है। ऋग्वेद की २१ शाखा यजुर्वेद की १०० शाखा साम की १००० शाखा और अथर्व वेद की ९

शाखा हैं। यथा, शाकलादिशाखाओं को ऋग्वेद नाम से कठादि शाखाओं को सामवेद नाम से शौनकादि शाखाओं को अथर्व वेद नाम से कहा गया है। आथर्वणिक मन्त्र त्रयी विद्या से पृथक नहीं है। अथर्वा ऋषि के द्वारा जो मन्त्र प्रगट हुए हैं वेही अथर्ववेद में संगृहीत हैं। वस्तुतः एक ही वेद विभिन्न रचना (पद्य, गद्य और गीति) के रूप में त्रयी कहा गया है। ऋक् संहिता, यजु संहिता, साम सहिता और अथर्व सहिता, यहां संहिता का अर्थ है वर्णों का एक प्राणयोग करना। पाणिनि ने कहा है "परः सन्निकर्षः सहिता"। ऋक् का लक्षण पद्यात्मक मन्त्र चारों संहिताओं में विद्यमान रहने पर भी जहां इसकी अधिकता हो उसको ऋक् तथा गद्यात्मक मन्त्र की अधिकता को यजुः कहेंगे। जहां स्तोम और गायन के मूलभूत लक्षण हो उसे सामवेद कहते हैं। अर्थात् पद्य, गद्य और गीति वेद से तीन प्रकार की रचना हुई एतदर्थ वेद त्रयीविद्या शब्द से प्रसिद्ध हुआ। अथर्वा नामक ऋषि यज्ञ की प्रक्रिया को सर्वप्रथम चलानेवाले हुए उन्होंने यज्ञादि प्रक्रिया को ऋग्वेदादि नाम दिये। ऋग्वेदसंहिता के १-६-४४ में आता है "यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते" अर्थात् अथर्वा ने यज्ञ का मार्ग दिखलाया। ऋग्वेदसंहिता के सप्तम मंडल में अग्नि जातः अथर्वाः। ऋग् के ४-५-२३ सं० में "त्वामग्निः पुष्करात्-अथर्वाग्नि रमन्थत इत्यादि इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि यज्ञ विस्तार अथर्वा से हुआ है। जैसे, प्रधान ऋत्विजों के सम्बन्ध में कहा गया 'होता ऋग्वेदी हो' अध्वर्यु यजुर्वेदी हो और उद्गाता सामवेदी हो। ऐतरेय ब्राह्मण में प्रपाठक। (५-५-८) में आया है, "ब्रह्मत्वं केन क्रियते" इसका यह तात्पर्य है कि होता, अध्वर्यु

और उद्गाता भिन्न भिन्न वेदों से वृणीत हो गये परन्तु ब्रह्मा सारे यज्ञ का नियन्त्रण करता है उस की किस विद्या से नियुक्ति की जाय? "त्रय्याविद्यया" तात्पर्य यह है कि चतुर्वेदज्ञ जो हो वही ब्रह्मा का पद ग्रहण कर सकता है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत है कि यज्ञकार्य निर्वाहार्थ संहिता विभाजित की गई। ब्रह्मत्वं केन क्रियते? इसका उत्तर जब "त्रय्या विद्यया" यह आया है तो इसका यह अर्थ निकलता है कि "अथर्व संहिता" के ज्ञान के बिना ब्रह्मा नहीं हो सकता। यतः होता, अध्वर्यु और उद्गाता इन में क्रमशः ऋग्, यजु और साम का ज्ञान तो था ही परन्तु ब्रह्मा में तीन विद्याओं के अतिरिक्त अथर्ववेद की योग्यता का होना परमावश्यक है इसी से यह भी अपेक्षित है कि राक्षसादिकृत विघ्न निवारण कर वह यज्ञ की रक्षा करे। अतः ब्रह्मा का अथर्ववेद ज्ञाता होना आवश्यक है। ऋक्संहिता में "ऋचां त्व पोष मास्ते पुपुष्वान् गायत्रन्त्वो गायति शक्वरीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम् यज्ञ स्य मात्रां विमिमीत उत्वः।" इस वचन से ब्रह्मा सर्ववित् एवं अथर्ववेदवित् हुआ क्योंकि "त्रयाणामपाधन्तु ब्रह्मा परिहरेत्" उसका अभिप्राय यही है। यज्ञसम्पादन के लिये चार संहिताओं का मान आता है। इसीलिये ऋग्वेद का दूसरा नाम होतृवेद, यजुर्वेद का अध्वर्युवेद, अथर्ववेद का उद्गातृवेद और सामवेद का गानवेद। इससे चत्वारिशच्छ्रृङ्गा इत्यादि पूर्वोक्त कथन सिद्ध हो गये। छन्द भी वेद का वाचक है छन्द से वायु आदि देवताओंका ग्रहण होता है। "प्राणा वै छन्दांसि आर्षेयाता ओषधय." छन्द का अर्थ बांधना है अक्षर समवाय का नाम छन्द है। इसलिये छादनात् छन्द अर्थात् जो वर्ण आकाश में आच्छादित थे तब "छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः

इनको एकत्र करके ग्रथित किया गया है। निरुक्त में आया है छादन करने से ही वह मन्त्र "छन्दोम्य मन्त्रेभ्यः। तैत्तिरीय में आया है "यत्प्रणवः छन्दसां मध्ये ऋषभः" इत्यादि प्रणव सम्पूर्ण वेदों में श्रेष्ठ है। छान्दोग्य ब्राह्मण में आया है "देवा वै मृत्यो र्बिभ्यत.स्त्रयीं विद्यां प्राविशंऽस्ते छन्दोभिश्छादयन्" देवता मृत्यु से भयभीत होकर वेदों के शरण में गये और इनको रक्षा के लिये छन्द से ढका गया। पुरुष सूक्त में भी है "छन्दांसि जज्ञिरे" गायत्र्यादि का भी छन्द में व्यवहार हुआ है। ऋग्वेद अष्टम मण्डल में "छन्दांसि च दधतोह्यध्वरेषु" यहां भी "शब्दानां छादनम्" शब्दों का छादन गायत्र्यादि छन्दों से होता है। छन्द एक अक्षरवाले से लेकर बहुत अक्षरोंवाले तक होते हैं। पिङ्गलशास्त्र में इनका विस्तृत वर्णन किया गया है। पाणिनि ने भी "छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति" कहा है। स्वाध्याय और आगम भी वेद को कहते हैं जैसे, पातञ्जल महाभाष्य में "रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्" कह कर आगम को वेदसिद्ध किया है। निगम वेद को ही कहते हैं। यास्कने निगमनात् निगम कहा है। मनु ने भी निगमाख्याम् कह कर वेदवाचकता कही है। भागवत में भी वेदवाचक निगम पद है। यथा;—"निगम कल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्। पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः"। निगम-वेदरूपी कल्पवृक्ष से निकला हुआ भागवत है। मन्त्र भी वेद को कहते हैं "मन्त्रब्राह्मणयो र्वेदनामधेयम्" मन्त्र किसे कहते है तो "ऋषयोऽपिपदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक् त्वशः। लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः॥" मन्त्रः मननात् मनन हेतुर्मन्त्रः। इस से सिद्ध होता है कि मन्त्र के बिना आध्यात्मिक,

आधिदैविक और आधिभौतिक ज्ञान नहीं होता है। "यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामपत्यमिच्छन् स्तुतिम्प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः समन्त्रो भवति" जिस कामना से जिस देवता में अपनी अभिलाषा की इच्छा करता हुआ स्तुति करता है उस देवता का वह मन्त्र होता है। मन्त्रों के निम्नलिखित भेदशास्त्र में वर्णित हैं—"हीं विध्यर्थवाद याद्यादीः स्तुतिप्रैष-प्रवाह्लिकः। प्रश्नो व्याकरणं तर्कः पूर्ववृत्तानुकीर्त्तनम्॥ अवधारणं चोपनिषद् वाक्यार्थन्तु त्रयोदश। मन्त्रेषु ये प्रदृश्यन्ते व्याख्यातृश्रुतिचोदिताः।" ये मन्त्र जिस में रहते हैं उसको संहिता कहते हैं। संहिता के पाठ में आठ विकृति हैं यथा; "जटा, माला, शिखा, लेखा, ध्वजो, दण्डो, रथो, घन इति अष्टा प्रकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा मनीषिभिः" इस प्रकार समग्र वेदों का अध्ययन करना विधि है। वेद कृत्स्नशः अधिगन्तव्य है अर्थात् समग्र वेद पढ़ना चाहिए। मनु ने कहा है:—"षट् त्रिंशदाब्दिकंचर्यं गुरोस्त्रैविद्यकं व्रतम्। वेदानधीत्य वेदान्वा वेदम्वाऽपि कथञ्चन" इत्यादि।

वेदार्थ में शासनात्मक होने से निरुक्त कहा गया है। निरुक्त का प्रयोजन वेदार्थ को स्पष्ट करना है। यह निरुक्त शास्त्र वेदरूपी सागर में व्याप्त था वहीं से आनुश्रविक हुआ। ब्राह्मणग्रन्थों में यह अङ्कुरित हुआ है, निदानसूत्रों में पल्लवित हुआ है। इसी को यास्काचार्य ने काण्डत्रयात्मक निरुक्त और पञ्चाध्यायात्मक निघण्टु में मथन कर प्रवचन किया है। निरुक्त के प्रथमाध्याय में ग्रन्थ की भूमिका निघण्टु निर्वचनादि का दूसरे तीसरे अध्याय में निर्वचन का प्रकार आदि कह कर नैघण्टुक काण्ड बतलाया है। चौथे अध्याय में एक पदी

आख्यान कर नैगमकाण्ड और पीछे के छै अध्यायों में देवताओं का वर्णन कर दैवतकाण्ड बताया है। आगे देवस्तुति को लेकर आत्मतत्त्वों का उपदेश किया है। निरुक्त एक प्रकार निघण्टु का ही भाष्य है। किन्तु उसमें सब नामों का निर्वचन नहीं किया गया है। जैसे; निघण्टु में आया है, पृथ्वी के २१ नाम है किन्तु उसमें एक गोशब्द का ही निर्वचन बताया है अन्यान्य नामों का कोई निर्वचन के लिये उल्लेख नहीं किया है। अन्य नाम निघण्टु में विशदीकरण किये गये हैं वहां गो शब्द एक निरुक्त के प्रकार का सूचक है। निरुक्त में वेद के तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है ; जैसे; "पुरुष विद्या नित्यत्वात्कर्म सम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे" मनुष्यों में ज्ञान की अनित्यता के कारण कर्म की सम्पत्ति वेद में केवल मन्त्रों का ही निर्वचन नहीं किया गया है अपितु, धर्मशास्त्रों में भी जो शब्द आये हैं उनका भी निर्वचन किया गया है। गो शब्द के निर्वचन में पयः और क्षीर शब्द का भी निर्वचन है लोक और वेद में शब्दों की सामान्यता दिखाई गई है, जैसे "चत्वारि पद जातानि नामाख्यातोपसर्गनिपातानि"।

नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये लोक और वेद दोनों में आते हैं। विरुद्धार्थ प्रतीत होनेवाले मन्त्रों का तात्पर्य बतलाया गया है। जहां पर वेद के अर्थ में आशंका होती है वहां पर सिद्धान्त करके बतलाया है। जहां जहां संहिता के भेद से मन्त्रों में भेद आया है, वहां वहां निर्वचन की विधि से ठीक कर दिया गया है। पद संहिता में शब्दों का निर्वचन बताया है। जैसे, सूर्यः सु+उर्यः, जिसका अर्थ संगति नहीं होती है उसका भी अर्थ बताया है। "मित्रं प्रमीयते त्रायते समिन्धानो मत्रीतीति

वा मित्रं", मित्रमिति अनवगृहितं मित्रम्। इसी प्रकार पुत्र दो शब्दों को एकत्रित करके बनाया गया है। "पुरु त्रायते निपरणाद्वा पुं नरकात्त्रायते इति पुत्रः"। वेद की व्याख्या में प्रामाणिक ऋषियों के मतमतान्तर से जहां व्याख्या हुई है वहां पर विनिगमन करके व्याख्या देखना निरुक्त का ध्येय है। जैसे, ऋक् संहिता का पदकार शाकल्य, सामवेदीय संहिता का गार्ग्य ये दोनों वेदव्याख्यान करने में प्रमाणभूत माने गये हैं, यथा ऋक्संहिता में आया है "यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति" यहां दो पद बताये हैं; मेहनं, मंहनीयं धनं, अस्ति या तीन पद भी किये हैं म इह नास्ति। एक ही मन्त्र दो संहिताओं में आने से संहिता भेद से पाठ भेद किया गया है अतः पाठ भेद होने पर भी समानता ही माननी चाहिए। जहां पर एक ही नाम कालभेद और देशभेद से कुछ विभिन्न प्रतीत होता है उसका भी निर्वचन से समाधान निरुक्त में किया गया है:—जैसे, आश्विकार्या विराट् ....पूर्व समय के उसशिरा त्रिग्रामाता आदिशब्द मन्त्रों के बीज भी भलीप्रकार दिखाये हैं। जैसे, शपथ और अभिशाप तथा किसी भाव की परिदेवना, निन्दा और प्रशंसा। इस प्रकार उच्चावच प्रकार से ऋषियों ने मन्त्रों को देखा है। निरुक्त में यह भी स्पष्ट किया है कि मनुष्यों ने तपः प्रभाव से आर्षत्व प्राप्त किया है। वेद मन्त्रों की गूढार्थता का परिज्ञान तपस्या से होता है। इसकी योजना इन प्रदर्शित मन्त्रों से होती है "ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः यस्तन्न वेदकिमृचा करिष्यति" इसी प्रकार मन्त्रों में देवता का निर्णय करना भी दुष्कर है किस मन्त्रका कौन

देवता है ? यथा, "शाकपूणिः सङ्कल्पयाञ्चक्रे सर्वा देवता जानामीति" शाकपूणि ने सङ्कल्प किया कि मैं सब देवताओं को जानता हूँ। इस पर उसके समक्ष उभय लिङ्ग देवता प्रगट हुए वह उन्हें पहचान न सका। तब एक मन्त्र से उसे उपदेश किया गया। निरुक्त शास्त्र ने देवता के विशदीकरण को दैवत काण्ड में बताया है। निरुक्त ने वेदों में विज्ञान भी प्रदर्शित किया है। यथा "दिवं जिन्वन्त्यग्नयः" यास्काचार्य ने इस मन्त्र की वैज्ञानिक व्याख्या की है कुछ प्रचलित व्यवहार भी दिखाये हैं। "देवरः कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते" और सपुत्र की प्रधानता भी दिखाई है "नान्योदर्यो मनसा मन्तवाउ" दूसरे गर्भ से उत्पन्न हुए पुत्र को मन से भी अपना पुत्र न समझे। पुण्य एवं पाप भी दिखाया है "अस्त्यस्मात् ब्रह्मचर्य्यमध्ययन तपः कर्म च" इस पर पाप नहीं आ सकता है उसका कारण है हमारा ब्रह्मचर्य्य, तप, दानशीलता एवं वेदाध्ययन यह निर्देश किया है। देवताओं की पुरुषाकार चिन्तना भी निरुक्त में दिखाई गई है। ईश्वर का भी ज्ञान इस में बताया है। ईश्वर सब भूतों की रक्षा और इन्द्रियों की भी रक्षा करनेवाला है "तन्त्वोपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इस पुरुष शब्द के निर्वचन में ब्रह्मज्ञान बताया है।

निरुक्त तीन काण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम काण्ड नैघण्टुक काण्ड है; इस में ३ अध्याय है इसको पूर्वषट्क कहा है। इस में पहला प्रकरण "समाम्नायः समाम्नातः" आया है; गवादिशब्द से देवपत्नी पर्यन्त शब्द समुदाय को समाम्नाय कहा है उसका व्याख्यान अर्थात् यह नाम; आख्यात, उपसर्ग निपात, सामान्य लक्षण, विशेष

लक्षण, एकार्थबोधक अनवगत संस्कारबोधक अभिधान, अभिधेय मर्यादा का व्याख्यान इस में हुआ है। इस में यह बताया गया है कि यह महान् प्रयत्न एक अभिधान अनेक धातु के निर्वचन के रूप में कहा गया है। निरुक्त का सिद्धान्त है कि नाम सब आख्यातज है निगमन, समाहनन और समाहरण यह तीन प्रकार की क्रिया निघण्टु में है। चार पद की जाति (नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात) में नाम और आख्यात अन्य निरपेक्षता से अपने अपने अर्थ को प्रगट कर सकते हैं। उपसर्ग-निपात दूसरे शब्द के मिले बिना सार्थक नहीं हो सकते हैं। भाव की प्रधानता नाम में और सत्व की प्रधानता आख्यात में है। भावप्रधान आख्यात क्यों कहा है? क्रिया की कोई मूर्त्ति नहीं है। वह क्रियाकारकों के साथ अभिव्यक्त होकर दीख पड़ती है बिना कारकों के सहयोग के क्रिया नहीं दीखती। जैसे, 'ओदनं पचति देवदत्तः' यहां ओदन क्रिया का व्यापार है, कहा भी है :—"क्रियावाचकमाख्यातं लिङ्गतो न विशिष्यते त्रीनत्रपुरुषान् वियात्कालतस्तु विशिष्यते" गौरश्वः पुरुषो हस्ती" आदि से सत्त्वों को उपदिष्ट किया है। "आस्ते शेते व्रजति" आदि से भाव बतलाया है। उस में "मनुष्यवद् देवताभिधानं", देवताओं के नाम भी मनुष्यों की तरह होते हैं परन्तु "पुरुषविद्यानित्यत्वात्कर्म सम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे"। भाव का निर्वचन है "भवतीति भावः। भावविकार छै बताये गये हैं जायते अस्ति विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते विनश्यति आदि। इस प्रकार नाम और आख्यात की व्याख्या की गई है।

निपात तथा उपसर्ग ऊंचे नीचे अर्थ में, उपमा में और पादपूर्ति में

भी आते है। अपि शब्द सोमा के अर्थ में, त्व विनिग्रहार्थ में और त्व को कहीं अर्धनाम और कहीं सर्वनाम कहा है जैसे, "ऋचान्त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रन्त्वो गायती शक्करीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्यमात्रां विमिमीत उत्वः"॥ यहां पर त्व शब्द एक का वाचक है। ऋत्विक् के कर्म में इसका विनियोग कहा है। दूसरे मन्त्र में निपात के उ और त्व का प्रयोग बताया है। विद्या सूक्त में एक मन्त्र आया है "अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवे ष्वसमावभूवुः। आदघ्नासः उपकक्षासः उ त्वेह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे" यहां पर तु और त्व का प्रयोग बताया है। मन्त्रार्थ इसका यह है :—

समान इन्द्रियोंवाले अर्थात् समान शास्त्र को पढ़े हुए मनुष्य अपने मन की कल्पना करने में एक सिद्धान्तपर नहीं आसकते हैं। इस में सरोवर का दृष्टान्त देते हैं, सरोवरमें जैसे जो जितनी गहराई में स्नान करने गया वह उतना ही पहुंच सका और उसीका ही उसने वर्णन किया। निरुक्त में आता है :—

"स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञः इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान विधूत पाप्मा"। यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्।

वेद पढ़ कर उसके अर्थ जानने की बहुत ही आवश्यकता है क्यों कि अर्थज्ञान न होने से केवल भारवाही हो होता है वेदार्थ जानने से ही तज्जन्य श्रेय का मनुष्य अधिकारी होता है।

तीसरे पाद में बहुनाम और ह्रस्वनाम का निर्वचन किया है। चतुर्थ पाद में एकार्थ में अनेक शब्द और अनेकार्थ में एक शब्द का

विवरण किया है। अनवगत संस्कार हुए शब्दों का भी इस में वर्णन किया है जैसे जहा, जघान, उनके यह लक्षण है "तत्त्वं पर्यायशब्देन व्युत्पत्तिश्चद्वयोरपि"।

चतुर्थपाद में "अर्चतिकर्माणो उत्तरेधातवः" पूजा के कर्म में, इस में मेधावियों के नाम की भी गणना की गई है "त्रि प्रधीमेधावी" उनका निर्वचन भी बतला दिया "मतौ धीयते इति मेधा"।

दूसरा नैगमकाण्ड :—

इस में एकार्थ में अनेक शब्द और अनेकार्थ में एक शब्द बताया गया है। जैसे; विस्तीर्य हि समज्ञानसूचिः संक्षेपतोऽभवीत् इत्थं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम्"जै से; एकार्थ में अनेक शब्द; एक अर्थ पृथिवी है और इस में अनेक गवादि शब्द आये हैं साथ ही अनेक जो गवादि शब्द हैं वह एक पृथिवी के अर्थ में आये हैं। यथोक्तम्— "तत्त्वपर्यायशब्देन व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि। निगमो निर्णयश्चेति व्याख्येयं नैगमेपदे। अर्थात् नैगम में एक पदादि और अनवगत संस्कार पदों का वर्णन किया गया है। इस प्रकरण में अनवगत संस्कार पदों का निर्देश किया गया है। यथा, "शब्दरूपः पदार्थश्च व्युत्पत्तिः प्रश्नेगुणः" यहाँ पर एक पद के भी दो पद किये गये। जैसे; पुरुषादः, एक शब्द और 'पुरुषानदनाय', जैसे; तितउ शब्द का नैगम परिवर्तन हुआ तुतवद्वा, तुन्नवद्वा, तुषवद्वा।

"सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसावाचमक्रत; सक्तुः कः सचतेर्वा संसिच्यति अपि ततः दुर्धावो भवति। जैसे, दयीं यह अनवगत है अनेकार्थ होने से इसका अर्थ सूर्य या "सूर्य" एक

जगह अर्थ हुआ सूगते अच्छी गति में और दूसरी जगह अर्थ हुआ ; देवदत्तः पुत्रं सूयते"। 'अकुवार' यह अनवगतसंस्कार है। "अकुपार का निगम अकुर्वाण जैसे, मन्त्र में आया है "विद्यामतस्यते वथमकूपारस्य दावने" अकुपार का अर्थ हुआ अकुत्सितस्य पूर्णस्य। जैसे, जामी शब्द अनेकार्थ वाचक हुआ "आघाता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि" यहां जामि शब्द अनेकार्थवाचक है जामि शब्द का अर्थ मूर्ख भी है और भगिनी भी। यहां पर भी जो है वह उपजन है। वैसे पिता शब्द अनवगतसंस्कार है इसका अर्थ है पाता, पालयिता जैसे द्युलोक के वर्णन में आया है "द्यौर्मे पिता—चतुर्थ पाद इस में अदिति शब्द आया है यह अनवगत संस्कार है इसका अर्थ अदिति अदीना निरुक्त के पक्ष में हुआ और इतिहास के पक्ष में देवमाता बना; जैसे, मन्त्र आया है, "अदिति द्यौ रदितिरन्तरिक्ष ७" इस प्रकार एकार्थ में अनेक शब्द और अनेकार्थ में एक शब्द और अनवगत संस्कार शब्दों का वर्णन आया है।

पञ्चमपाद—

वाराह शब्द—अनवगत संस्कार अनेकार्थ है, जैसे; मेघ को भी वाराह कहते हैं, वरं उदकं आहारं यस्य स वाराहः इसलिये मेघ का भी इस में निर्वचन हुआ। वरं वरं मूलं वहति उद्‌पच्छति वाराहः वाराह इन्द्र को भी कहते हैं। जैसे, 'स्वसराणि' यह भी अनवगत है इसका निगम हुआ, "स्वयं सारागि" अर्थात् दिन जो स्वयं चलते हैं। स्व आदित्य का नाम है वह इन को चलाता है। अनेकार्थ जैसे, अर्क शब्द है यह देवता का वाचक है अर्कं अन्नं भवति भी होता

है अन्न से देवता का अर्चन किया जाता है। "आपातमन्यु" यह शब्द अनवगत है और अनेकार्थ है इसका अर्थ हुआ आपातित मन्युः"।

"उर्वशी" यह शब्द भी अनवगत है यह अप्सरा के अर्थ का वाचक है उरु महान् अस्याः वशः कामः सेयं वसति सतीत्युच्यते अप्सरा का अर्थ है अप्सारिणी भवति अपः प्रति नित्यमेव सरति तस्य प्रियमुदकं तस्माद्-प्सरा इति"।

"मुष्कं" यह शब्द भी अनवगत है अहि चक्र को कहते हैं यह छूने से ही युद्ध होता है।

निचुम्पुणः—यह अनेकार्थ है और अनवगत है "अर्वाग्निर्निचुम्पुणः" इससे सोम का, समुद्र का और अवभृथ का भी अर्थ है नीचैरस्मिन्क्वणन्ति शब्दं कुर्वन्ति यज्ञपात्रं दधतीति निचुम्पुणः।

वृक—यह भी अनवगत और अनेकार्थ है। वृक चन्द्रमा को भी कहते हैं। ऋग्वेद में—

"अरुणो मासकृद् वृकःपथायन्तं ददर्श ह। अरुण आरोचन मासकृद् अर्धमासानां च कर्ता—चन्द्रमा प्रकाश करनेवाला सम्वत्सर मास पक्ष का बनानेवाला। सूर्य को भी वृक कहा है "वृक् आवृणोति" यह अन्धकार को दूर देता है। ऋङ्मन्त्र—"अजोहवीदश्विना वर्तिका वामास्नो यत्सीममुञ्चतं वृकस्य"।

जोष—यह भी अनवगत है जोषयितव्यम्, विज्ञापयितव्यम् "य इन्द्राग्नी एतेषु वां स्वस्तेर्नृपाणुपा जोषवाकं वदतः पज्रहोषिणा न देवा भसथश्चन"।

क्षिप—अनवगत—क्षि निवासे. इस शब्द की अनुवृत्ति के अनुसार क्षयी—अनवगत है—क्षयी क्षितयो भवन्ति ... इति ... आश्रित

भवति सं हन्ति वा—इस प्रकार इस अनवगत की व्युत्पत्ति की है। या वृतं विचनोति देवने" मेघ को भी कितव कहा है। इस प्रकार अनेकार्थ में आया है।

"दूत्य—उर्मी यह शब्द भी अनवगत है। दूत्य—दुर्धिय पापधि ऊर्मी उमी उर्णोति आच्छादनार्थ में आता है प्रायः उदात्त स्वर प्रकृतिवाले नाम हैं अनुदात्त प्रकृतिवाले निपात हैं। उत्थ्यमाण अनवगत उपाम्यमान निर्वचन हुआ। वृटस्य चर्पणि यह अनवगत है। वृटस्य कृत्यस्य चर्पणि—चापयिता—द्रष्टा।

शम्ब—अनवगत वज्र का नाम है। शामयिता शातयिता वा। कैपयः कपूयम्—पापकारि प्रायश्चित्तेन पुनाति "कपूयमेव दुष्पूयमेव कर्म चक्रिरे"।

अं सत्रम्—अनवगतम्—अंहसःत्राणं यह निर्वचन हुआ इससे धनुष या कवच का अर्थ निकलता है। कवचं—कु अञ्चितम् कुटिलमञ्चितम् आहावः आह्वावनाम इस प्रकार अनवगतार्थ अनेकार्थ शब्दों का निगमन किया गया है। जर्भरि तुर्फरी अनवगतार्थ शब्दों का भी निगम जर्भरी हिंसा करने को तुर्फरी तृप्ति के अर्थ में आता है। उपलप्रक्षिणी अनवगते—
—इसका अर्थ उपलेपु प्रक्षेपणी यह निगम हुआ।

पाथ शब्द जलवाचक इसका निगम पानात् सप्रथा सर्वतः पृथुः।

धायन्त इति अनवगत इसका धायन्त यह निगम "धायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।

अमरः—अनवगत इसका निगम अमूढ।

सोमानं—अनवगत इसका सोतारं निगम हुआ।

दैवत काण्ड—

वेद की सम्पूर्ण शाखाओं में जो गुणवाचक पद हैं उनकी व्याख्या निघण्टु और निरुक्त एक पद में की गई है। अवशिष्ट पद जिनमें देवताओं की स्तुति की गई है वे दैवत काण्ड में बताये गये हैं। "तद्यानि नामानि प्राधान्य स्तुतीनां देवतानां तद्दैवतम्" जिन नामों में देवता की प्रधानतया स्तुति दिखाई गई है उसे दैवत काण्ड नाम से यास्काचार्य ने कहा है। यथा, यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायां मार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताः आध्यात्मिक्यश्च, तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य" नैघण्टुक और नैगम काण्ड में जो शब्द आये हैं वे प्रायः मन्त्रों में देवता के ही सम्बन्ध में हैं किन्तु उन सब मन्त्रों में देवता का स्पष्टीकरण न होने से यह दैवत प्रकरण यहाँ से प्रारम्भ किया गया। जिस प्रयोजन की सिद्धि के हेतु ऋषि जिस मन्त्र से जिस देवता की प्रार्थना करता है उस मन्त्र का वह देवता होता है। देवता के ही प्रसाद से प्रत्येक प्रयोजन सिद्ध होता है, केवल मानवीय आधिभौतिक पुरुषार्थ से ही कार्य की सफलता समझ लेना वैदिक संस्कृति का अनादर करना है। गीता में भी कहा है "इष्टान्भोगान्हि वो देवाः दास्यन्ते यज्ञ भाविताः। यज्ञ द्वारा भावित होने पर देवता मनुष्यों के हित को प्रदान करता है।

देवता की स्तुति चार प्रकार से होती है। नाम, रूप, कर्म और बन्धु यह चार प्रकार की स्तुति वेद मन्त्रों में हैं। स्तुति के मन्त्र त्रिविध हैं—परोक्षकृत प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक।

परोक्षकृत मन्त्र में सभी विभक्तियाँ तथा प्रथम पुरुष के एक वचन में आख्यात आता है "परोक्ष प्रिया हि वै देवाः" देवता परोक्षस्तुति से प्रसन्न होते हैं ; यथा, "इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रं गौतेतृत्सवोवेविषाणा इन्द्राय साम गायत" इत्यादि परोक्षकृत मन्त्र सम्पूर्ण विभक्तियों में आते है।

प्रत्यक्षकृत मन्त्रों में सर्वनाम और मध्यम पुरुष आख्यात आता है, "त्वमिन्द्र ! बलादधि विन इन्द्र मृधो जहि"। हे इन्द्र तुम सबसे बलवान् हो तुम तेज को वर्षण करनेवाले हो।

सर्वनाम उत्तम पुरुष आख्यात योग से आध्यात्मिक मन्त्र आते हैं यथा "अहं रुद्रे भिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः। अहं मित्रावरुणौ भा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा" वाणी देवता स्वयं कहती है, मैं रुद्र, वसु, आदित्य, विश्वामित्र मित्रावरुण के साथ स्तुति रूप में आती हूँ और इन्द्राग्नि देवता को हविष्य में धारण करती हूँ इत्यादि। परोक्षकृत और प्रत्यक्षकृत वेदों में अधिक हैं आध्यात्मिक संक्षेप में आये हैं। कहीं स्तुति रूप में कहीं आशीर्वाद रूप में ये मन्त्र आते हैं कहीं शाप के रूप में भी। एक समय किसी ने वशिष्ट को कह दिया "अद्या मुरीय यातुधानो यदिअस्मि"—अधा स वीरैर्दशभिर्वियूया यो मायावो यातुधानेत्याह" वशिष्ट ने कहा यदि मैं राक्षस हूँ तो अभी मेरी मृत्यु हो जाय अन्यथा जिसने क्रोधावेशमें झूठे ही मुझे कलङ्कित किया है वह अपने दश सन्तान से वियुक्त और शोकग्रस्त हो जाय।

निन्दाप्रशसा परक भी इस प्रकरण में मन्त्र आये हैं "मोघमन्नं

विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी"।

जो अन्न मित्र बान्धव को न देकर स्वयं खाता है वह पाप को खाता है। गीता में भी लिखा है "भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्" जो मनुष्य अतिथि आदि किसी को दिये बिना अन्न स्वयं ही खा लेता है वह पापी है इसी प्रकरण में द्यूत की निन्दा एवं कृषिकर्म रूप यज्ञ की प्रशंसा की है।

"अक्षैर्मा दीव्यःकृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः"।

द्यूत खेलने से बहुत अनर्थ होते हैं। महाभारत में विनाश का कारण जुआ का खेल हुआ। तुम लोग चित्त लगाकर खेती करो। कृषि परम धर्म है। अतः सभी के लिये चाहे किसी जाति, वर्ण या वर्ग के हों कृषि कर्म स्वयं करने की वेद भगवान् की आज्ञा है।

जिन मन्त्रों में देवता निर्देश नहीं है वे मन्त्र जिस यज्ञ में विनियोग किये गये हैं उस यज्ञ के देवतात्मक वे मन्त्र हैं "यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति" लोकाचार भी यह है अतिथिदेवता, पितृदेवता, यज्ञदेवता इत्यादि।

यह भी आज्ञा है और ज्ञातव्य है कि एक देवता की अनेक स्थान पर भिन्न रूप में भी स्तुति की गई है।

"महाभाग्याद्देवतायाः" "एक आत्मा बहुधा स्तूयते" अग्निमित्रं वरुणं इन्द्रमाहुः" "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" "पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्चभाव्यम्"।

निरुक्तकार ने तीन देवता माने हैं :—"तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः, अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वेन्द्रोवान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः" पृथिवी का देवता अग्नि, अन्तरिक्ष का इन्द्र या वायु, द्युस्थान का आदित्य ये तीन देवता बताये हैं। आगे कहा है "महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति"।

यहां स्थानैकत्व सम्भोगैकत्व भी ज्ञातव्य है जैसे पृथ्वी में मनुष्य पशु आदि रहते हैं इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना।

अब देवताओं के आकार की चिन्तना आती है "अथाकार चिन्तनम् पुरुष विधाः स्युः"।

देवताओं का आकार मनुष्यों की भांति होने से मन्त्रों में आया है "आद्याभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि" हे इन्द्र! दो घोड़ों पर आरूढ़ होकर सोम पान करो" यह आकार चिन्तन है और चैतन्य रूप में है। अपुरुष विध भी स्तुति के मन्त्र आये हैं; यथा, अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी, चन्द्रमा इनका द्वैविध्य देवताओं का आकार माना गया है पुरुषविध और अपुरुषविध। निरुक्तकार यास्क ने "तिस्रो देवताः" बताकर तीन (अग्नि, इन्द्र और आदित्य) बताये हैं साथ ही उनकी भक्ति और साहचर्य भी दिखाई है। किस देवता की स्तुति किस सवन में होती है यह बताया जाता है। सवन तीन होते हैं, प्राथमिक, माध्यन्दिक और तार्तीयक। यथा; "अग्निभक्तिन्ययं लोकः" अग्नि पृथिवीस्थान प्रातः सवन वसन्त गायत्री इत्यादि अग्निना भजयन्ते अग्नि के साथ जो अन्य देवता स्तुति किये जाते हैं वे अग्नि भक्तिनी नाम से निर्दिष्ट हुए हैं। प्रायः अग्नि के साथ इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य ऋतु का संस्तवन आता

है; यथा, "त्वमो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेलो व यासि सीष्ठाः यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वाद्वे षांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत्।

इन्द्र के साथ जिनका संस्तवन होता है इन्द्र अन्तरिक्ष स्थान माध्यन्दिन सवन ग्रीष्मर्तु त्रिष्टुप् पञ्चदशस्तोम है। इसके साथ संस्तवनीय देवता अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुरस्नवायु, विष्णु और मित्रावरुण हैं। यथा, 'इन्द्रा पर्वता बृहता रथेन वामीरिष आ वहतं सुवीराः। वीतं हव्यान्यध्वरेषु देवा वर्धेथाम् गीर्भिरिळया मदन्ता" इत्यादि मन्त्र संस्तवन में आये हैं।

अब आदित्य के संस्तवन का वर्णन आता है "अथैतान्यादित्यभक्तीन्यसौ लोकस्तृतीय सवनं वर्षा जगती सप्तदशस्तोमो वैरूपं साम ये च देवगणा समाम्नाता उत्तमे स्थाने याश्चस्त्रियः अथास्य कर्म रसादानं रश्मिभिश्च रसाधारणम् यच्च किञ्चित प्रवह्लितमादित्यकर्मैव तच्चन्द्रमसा वायुना सम्वत्सरेण तिर्मस्तवः।

आदित्य का संस्तवन चन्द्रमा, वायु के साथ आता है। इसी क्रम से पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक इन स्थानों में ऋतु, छन्द स्तोम का आयोजन कर लेना चाहिए; यथा शरद् ऋतु अनुष्टुप् छन्द वैराज साम ये पृथ्वी के आयतन हैं। हेमन्त पंक्ति त्रिणव स्तोम शाक्वर साम अन्तरिक्ष के हैं। शिशिर-अतिछन्द त्रयस्त्रिंशत्स्तोम रैवत साम द्युभक्ति में हैं।

उक्त क्रिया-कलाप मन्त्रों में आया है अतः यहाँ मन्त्र का निर्वचन होना आवश्यक है।

यदेभिरात्मानमाछादयत् देवमृत्युर्बिभ्यतः "तच्छन्दसा छन्दस्त्वम्" जिन छन्दोंसे देवताओ ने अपने को मृत्यु से छिपा दिया यह छन्द छादन से है। यजुः यज्यते याज्यन्ते विशेषतया यजु से ही यज्ञ का विधान है। तीन देवताओं में अग्नि को पृथ्वी स्थान बताया उसका यह तात्पर्य बोधक निर्वचन है। "अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते"—"अग्नि-मीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमम्"।

इसी प्रकार जातवेदा का निर्वचन आया है "जातानि वेद वा जातानि एन विदुः जाते जाते विद्यते इति वा" इत्यादि। इसी प्रकार वैश्वानर का भी—

वैश्वानरः कस्माद् विश्वान्नरान्नयति विश्व एन नरा नयन्तीति वा इस प्रकरण में आहो पुरोडाश क वर्णन आता है,"वैश्वानरीयो द्वादश कपालो भवति इत्यादि। इसी प्रकार मध्यस्थान द्युस्थान के देवताओं का संस्तवन उनके नामों का निर्वचन दैवत काण्ड में आया है।

दैवत प्रकरण के अनन्तर परिशिष्ट प्रकरण निरुक्त में आया है। इसमें अग्नि स्तुति के मन्त्र और स्तुत्यात्मक मन्त्र आये हैं। तथा अव्यवहार्य मन्त्र जिनके निर्वचन में प्रकृति प्रत्यय योग का ज्ञान नहीं हो सकता उन्हें बताया है; यथा,—सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतो शेव तुर्फरी पर्फरीका। तुर्फरी का अवगत संस्कार के शब्दों का व्याख्यान ऐसे किया है—सृणीकी तरह अश्विनी, जर्भरी=पालन करनेवाले; तुर्फरी=हनन करनेवाले; तुर्फरी=छिद्र कार्यकारी। इस प्रकार निगूढार्थ को दैवत

प्रकरण में दिखाया है। दैवत प्रकरण की व्याख्या वक्ष्यमाण इस मन्त्र में की है।

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वेशीर्षे सप्त हस्तासोअस्य त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां२ आ विवेश" ।

महादेव यज्ञ मनुष्योंको इस स्वरूप में प्राप्त हुए हैं। चारवेद इसके शृङ्गभूत उच्च स्थान है। तीन सवन दो शीर्ष-प्रायणीय एवं उदयनीय। सप्तहस्त=सात छन्द। त्रिधाबद्ध=मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प इन तीन प्रस्थानों में वर्णित। रोरवीति=शब्दस्वरूप प्रगट होते हैं ; यद्वा ऋग्, यजु और साम से प्रगट हो रहा है।

अन्तमें अक्षर ब्रह्म की स्तुति और उसके ज्ञान में निष्ठा पर मन्त्र में कहा है :—"ऋचोअक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तान्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद् विदुस्तइमे समासते" ॥

पर ब्रह्म प्रणव ॐकार के ज्ञान बिना वेद मन्त्रों के केवल ज्ञान से सिद्धि नहीं होती। इस मन्त्र में वेदों का ज्ञान ब्रह्मज्ञान पर पर्यवसान चरम लक्ष्य बताया है। अक्षरे परमे व्योमन् विविधप्रकार के शब्द जाति जिस आकाश में वीचि आवर्त रूपसे ओतप्रोत है तीन मात्रा अकार, उकार, मकार शब्दजन्य परब्रह्म का ज्ञान जिसे वेद पढ़ने से न हो सका ; इस ॐकार स्वरूप में देवता समाये हुए हैं यथा प्रथम मात्रा में अग्नि ऋग्वेद पृथ्वीलोक निवासी ; द्वितीय मात्रा में अन्तरिक्ष वायु यजुः और सद्लोक निवासी ; तृतीय मात्रा में द्यौ आदित्य सोम द्युलोक निवासी इस प्रकार विशिष्ट गुण सम्पन्न ॐकार को जिसने न जाना उसका वेदों के अध्ययन मात्र से क्या लाभ ? जिस महाभाग ने इसे जान लिया

उसका ही वेद ज्ञान सार्थक है ॐकार एवेद७……सर्वं—अर्थात् वेदज्ञान ब्रह्मज्ञान पर समाप्त है।

अन्त में कर्मकाण्ड यज्ञ का निष्कर्ष है यथा, हिंसा एवं अहिंसा दो प्रवृत्तियों से उनकी दो प्रकार की गति का वर्णन है। ऐसे ही श्रीमद् भगवद्गीतामें प्रतिपादन किया गया है :—"शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते। एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः"।

इस पर दैवत काण्ड समाप्ति में विशद वर्णन करते हैं :—"ये हिंसा माश्रित्य विद्यामुत्सृज्य महत्तपस्तेपिरे चिरेण वेदोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्दक्षिणायनं दक्षिणायनात् पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेरोषधयश्चैतद् भूत्वा (तस्यक्षये) पुनरेवेमँल्लोकं प्रतिपद्यते।

अर्थात् जो केवल यज्ञ करते हैं अहिंसा व्रत पालन नहीं करते हैं; ब्रह्म विद्या पर, ध्यान न देकर केवल यज्ञकर्म में लगे रहते हैं वे धूमरात्रि पितृलोक, चन्द्रलोक, वायु आदि में घूम कर दक्षिणायन पथ द्वारा पृथ्वी में जन्म मरण के बन्धन में पुन. जकड़े रह जाते हैं।

"अथ ये हिंसामुत्सृज्य विद्या माश्रित्य महत्तपस्तेपिरे ज्ञानोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति तेऽर्चिरभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहर आपूर्यमाणपक्षादुमापूर्यमाणपक्षादुदगयनं मुदगयनाद् देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं वैद्युतान्मानसं मानस पुरुषो भूत्वा ब्रह्मलोकमभिसम्भवन्ति ते न पुनरावर्तन्ते शिष्टा दन्दशूका य इद न जानन्ति तस्मादिदं वेदितव्यमथाप्याह।

इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ होकर कर्मकरना वेदों में बताया है ब्रह्मनिष्ठात्मक कर्मकाण्ड से मोक्ष की प्राप्ति होती है आत्मा की उत्कर्षता पर यह मन्त्र कहा है "न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति।

अर्थात् अविद्यारूपी अन्धकार से उस ब्रह्म का ज्ञान कठिन हो जाता है। जो तपस्या एवं अहिंसा द्वारा वेदोक्त कर्म को करता है उसको ब्रह्मज्ञान से निरतिशयानन्द कैवल्य सुख की प्राप्ति वैदिक कर्मकाण्ड में बताई है, वेदज्ञान आत्मज्ञान पर ही परिसमाप्त है।

इसके अनन्तर निघण्टु का समाम्नान है जिससे निरुक्त के प्रथम काण्ड में ही "समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः तमिमं समाम्नायं निघण्टव आचक्षते निघण्टवः निगमात्" निघण्टु अध्याय में वैदिक समनाम आख्यात को एकत्र कर बताया है; यथा, पृथ्वी के २१ नाम पृथक् गौ, ग्मा, ज्मा आदि प्रदर्शित किये हैं, पञ्चदश हिरण्य नाम, हेम, चन्द्रम्, रुक्मम्, इत्यादि; षोडशान्तरिक्ष नाम अम्बरम्, वियत्, व्योम इत्यादि देवपत्न्य इत्येक त्रिंशत् यहां तक नैघण्टुक काण्ड निरुक्त से पृथक् लिखा है इसके रचयिता भी यास्क ही है "आद्यं नैघण्टुकं काण्डं द्वितीयं नैगमं तथा तृतीयं दैवतञ्चेति समाम्नायस्त्रिधा मतः" वैदिकसमाम्नाय तीन काण्डों में समाप्त हुआ है।

मानव संस्कृति का विकास वेदों से हुआ है। वेदों में देवता शक्ति, यज्ञशक्ति से अलौकिक चमत्कार संसार के भौमान्तरिक्ष उत्पातों का शमन मानव जगत् में बहिर्मुख दृष्टि से बढ़ने से अनर्थ दैवोपद्रवादि आजाते हैं, उनके शासन करने के विधान तथा वैज्ञानिक

गवेषणा शिल्पकला, औषधि, नीति आदि अमूल्य साहित्य का भण्डार अक्षुण्ण रहता है। सम्पूर्ण प्रकार के मानव हित का उत्पा.न् वेदों में है जो भारत की एक अनुपम निधि है, जिनके ज्ञान से भारतीय जनताअभ्युदययुक्त, प्रसन्न एवं परहित में निरन्तर लगी रहती थी। संसार में जितने भी भौतिक एवं दिव्य विज्ञान निधि हैं उनका उत्पादन वेदों में ही है।

इस महान् अत्युपयोगी वेदार्थ का ज्ञान बहुत क्लिष्ट होने से मानवता इस के लाभ से वञ्चित प्रायः हो रही है अतः देवराजयज्व कृत टीका भी साथ में श्री महदत्त त्रिवेदी, एम० ए० शास्त्री एवं पं० रामनाथ दाधीच साहित्य शास्त्री द्वारा संशोधनादि कार्य को सुचारुरूपेण सम्पादित कर प्रस्तुत की गई है। गुरमण्डल के तत्त्वावधान में वैदिक विज्ञान की पिपासा पर ध्यान दिया मानवता के एकनिष्ट परम उपासक श्रीयुत सेठ मनसुखराय जी मोर ने। आपने मानवता के हित के लिये वेदज्ञान की सरलता जिससे हो यह विचार कर "गुरमण्डल" के दशम पुष्प रूप में निरुक्त-निघण्टु का प्रकाशन कर जनता की दीर्घकालीन उत्कण्ठापूर्ण पिपासा को शान्त कर भगवान् वेद के अखण्ड नित्य सुख आशीर्वाद को ग्रहण किया है। जनता इस से लाभ उठावे भगवती पराम्बा सेठ जी के इस विद्याविकास यज्ञ को सफल बनावें "सर्वदानाधिकं ब्रह्म" सब दानों में वेद के ज्ञान को विकास करना महान दान है। ग्रन्थ के सम्पादन में प्रमादादि से यदि त्रुटियां रह गई हों तो कृपालु विद्वद्वरेण्य उन्हें सुधार लें।

भवदीय—

राजगुरु हरिदत्त शास्त्री

टेहरीगढ़वाल

निरुक्त (निघण्टु) का अभिनव संस्करण पाठकों के करकमलों में समर्पित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। निरुक्त का यह प्रथम भाग है इसमें केवल निघण्टु समाम्नाय और उसपर पदनिर्वचन एवं निगम प्रतिपादक सुप्रसिद्ध विद्वान् देवराज यज्वा की निघण्टु टीका है।

इस निरुक्त के कर्त्ता वेदमार्गप्रतिष्ठापक महर्षिप्रवर श्रीयास्काचार्य हैं। निरुक्तकार यास्क ने प्रायः चौदह निरुक्तकार गिनाये हैं, जिससे निरुक्त की प्राचीन परम्परा का पता लगता है। जैसे—

औपमन्यव, औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, गार्ग्य, आग्रायण, शाकपूणि, और्णनाभ, तैटिकि, गालव, स्थौलाष्ठीवि, क्रौष्टुकि, कात्थक्य एवं १३ वां स्वयं यास्क और १४ वां शाकपूणि का पुत्र या कौत्सव्य हो सकता है।

निरुक्त में नि० भा० १।१३ 'निरुक्तं चतुर्दश प्रभेदं' नि० भा० १।२० में निरुक्तं चतुर्दशधा इत्येवमादि लिखकर चौदह निरुक्तों के होने का विवरण दिया है।

१ श्री भगवद्दत्त के अनुसार ये चौदह निरुक्तकार हुये जिन्होंने अपना-अपना निघण्टु बनाया और उसी पर निरुक्तरूपी व्याख्या लिखी। किन्तु निघण्टुओं के प्रमाण यास्कीय निरुक्त, महाभाष्य और अनेक वैदिक भाष्यों में मिलते हैं। महर्षि यास्क निरुक्तकारों में सबसे अन्तिम हैं, अतः उन्हें अपने पूर्ववर्ती नैरुक्तों के निरुक्तों से बराबर सहायता मिली।

१–देखिए वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १ खण्ड २ पृष्ठ।

इसी प्रकार निघण्टु ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी उनकी विविधता के प्रमाण मिलते हैं,

"तान्यप्येके समाम्नन्ति" ७।१५ अमुक प्रकार के देवता पर भी कई आचार्य निघण्टु ग्रन्थों में एकत्र पढ़ते हैं ऐसा लिखा है।

इन्हीं परवर्ती आचार्यों की अमूल्य सामग्री का संकलन ही यास्काचार्य कृत निरुक्त की लोकप्रियता वैज्ञानिक कसौटी है और उसी पर आनेवाले वैदिक विद्वानों ने विद्वत्तापूर्ण भाष्यादि लिखे हैं।

फलतः यह अद्यावधि पठन-पाठन के लिये सर्वत्र काम में लाया जाता रहा।

इस निघण्टु के यास्कप्रणीत होने में दो पक्ष प्रचलित हैं।

श्री दुर्गाचार्य, स्कन्द महेश्वर, जर्मन पण्डित रोथ, प्रोफेसर कर्मकर आदि विद्वान् निघण्टु को यास्क कृत नहीं मानते उनका निष्कृष्ट अभिप्राय यह है कि यह निघण्टु बहुत पहले की रचना है और अज्ञातनामा ऋषि इसके बनानेवाले हैं। —प्रोफेसर सिद्धेश्वर वर्मा

दुर्गाचार्य-तस्येषा...........................साचपुनरियं

व इमं ग्रन्थं गवादि देव—पत्न्यन्तं समाम्नातवन्तः।

अर्थात् उसी निरुक्त का गौ से आरम्भ कर देवपत्नी के अन्त तक अध्यायों में सूत्र-संग्रह है उस पञ्चाध्यायी निघण्टु का संग्रह श्रुतर्षियों ने किया।

वहीं नि० ४।१८ भाष्य में लिखता है, ऋ० ५।२६।२ मन्त्र में "अकूपारस्य दावने" ऐसा पदों का क्रम है निघण्टु में इसका भी यही मत है—

कि निघण्टु यास्क कृत नहीं है, प्रत्युत कश्यप प्रजापति कृत है। उन्होंने महाभारत के ये श्लोक इसकी पुष्टि में दिये हैं।—

"वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।
निघण्टुक पदाख्याने विद्धिमां वृषमुत्तमम्।
कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते।
तस्माद्वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः॥

अर्थात् कश्यप प्रजापति ने जो निघण्टु रचा है उसमें मुझे वृषाकपि रूपमें बताया है जिसका अर्थ है श्रेष्ठ धर्म।

श्री पद्‌कृष्ण बेल्वेल्कर ने लिखा है :—

The fourth Adhyaya of the lists of Vedic words called Nighantus, upon which yaska wrote his Commentary called the Nirukta, is styled the "Aikapadipa", *because in it are listed together 278 single* words of unknown or doubtful origin.

विपरीत "दावने अकूपारस्य" ऐसा अनुक्रम है जो स्पष्ट बतलाता है कि निघण्टु समाम्नाय पहले से चली आती परम्परा प्राप्तकृति है।

२ समाम्नाय शब्देनात्र गवादिर्देवपत्न्यन्तः शब्दः समूह उच्यते न वेदः। समाम्नातः सम्भूयाभिमुख्येनाम्नातोऽभ्यस्तः ग्रन्थीकृत्य पूर्वाचार्यैः पठित इत्यर्थः, अर्थात्—निघण्टु समाम्नाय प्राचीन आचार्यों ने एकत्र किया।

3—Moreover, of the two remaining books which stand unquestioned in Indian literary history as evidences of yaskas learning, his authorship of one, Nighantu must be denied and the only wonder is

that this was not sooner recognised. अभिप्राय यह है कि भारतीय वाङ्मय के इतिहास में यह निर्विवाद है कि निरुक्त एवं निघण्टु यास्क रचित है तथापि यास्क ने निघण्टु बनाया यह नहीं माना जा सकता।

4—The Nighantu includes तलित् Under अन्तिक नामानि (निघ०२।१६॥) and also under वेग्र कर्माणि (निघ० २।१६॥) *following the Nighantu yaska remarks* तलिदि

अर्थात् निघण्टु के चतुर्थ या ऐकपदिक अध्याय में २७८ पद हैं ये पद किसी अज्ञातनामा एक वा अनेक आचार्यों ने इन्हें सन्दिग्धार्थ समझ कर एकत्र किये हैं, अतः यह निघण्टु पूर्वाचार्य कृत है।

अब आचार्य भगवद्दत्त प्रतिपादित उपरोक्त पक्ष के विरोध में युक्तियां प्रस्तुत की जाती हैं जिससे वास्तविक तथ्य ज्ञात हो सके—

१—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने निघण्टु की भूमिका में लिखा है—"यह ग्रंथ (निघण्टु) ऋग्वेदी लोगों के पठितव्य १० ग्रन्थों में है। विशेष कर वेद और सामान्य लौकिक ग्रन्थों से सम्बन्ध रखता है। यह मूल और इसका भाष्य निरुक्त यह दोनों ग्रन्थ यास्क मुनिने बनाये हैं।

२—महिम्नस्तोत्र श्लोक सप्तम की व्याख्या में श्री मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं:—"एवं निघण्ट्वादयोऽपि वैदिक द्रव्यदेवतात्मक पदार्थ पर्याय शब्दात्मका निरुक्तान्तर्भूता एव। तत्रापि निघण्टुसञ्ज्ञकः पञ्चाध्यायात्मको ग्रन्थो भगवता यास्केनैव कृतः। अभिप्राय यह है कि निघण्टु आदि निरुक्तान्तर्गत ही है यह जो पञ्चाध्यायी निघण्टु है यह भगवान् यास्क रचित ही है।

३—वेङ्कट माधव ने जो मधुसूदन के पूर्ववर्ती विद्वान् हैं ऋ० ७।८४।४॥ की व्याख्या में लिखते हैं—

तत्रैक विंशतिर्नामानि काचिद् गौ बिभर्त्तीति पृथिवीमाह तस्या हि यास्क पठितान्येक विंशतिर्नामानि।

अर्थात् पृथिवीवाची गो शब्द के यास्कपठित २१ नाम हैं दुर्गाचार्य ने जो यह आक्षेप किया है कि निघण्टु में दावने अकूपारस्य इस क्रम से दो पद पढ़े गये हैं। इसके विपरीत निरुक्त में जो निगम हैं उसमें इनका क्रम "अकूपारस्य दावने" (ऋ० ५, ३९, २) है। एक ही ग्रन्थकार निगमान्तर्गत क्रम को नहीं तोड़ सकता अतः निघण्टु का कर्ता कोई अन्य है, यह कोई ठीक नहीं। यास्क ने पदक्रम को देखकर "अकूपारस्य" का निर्वचन किया है न कि और कोई निगमान्तर्गत क्रम से विपरीत।

"दावने" पद ऋग्वेद में २५ से अधिक बार आया है यास्क उसका अर्थ मात्र देता है। किसी प्राचीन निघण्टु में ये दोनों पद निघण्टु में उपलब्ध क्रमानुसार ही पढ़े गये हों परन्तु यास्क ने निघण्टु का क्रम पूर्वाचार्यों का अनुकरण करते हुए उनमें से ले लिया और व्याख्या में एक ही मन्त्र पर्याप्त समझा।

आचार्य दुर्ग जिस पाठ से अपने पक्ष की पुष्टि करते हैं वह निम्नलिखित है :—

"उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदञ्च वेदाङ्गानि च"

"इमं ग्रन्थं गवादिदेवपत्न्यन्तं समाम्नातवन्तः"

इस ग्रन्थ का जिसमें गौ से लेकर देवपत्न्यः तक शब्द हैं समाम्नान किया।

इसके उत्तर में यह कहना है कि निरुक्त के वचनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिन ऋषियों ने निघण्टु बनाया उन्होंने ही निरुक्तादि वेदाङ्गों का भी समाम्नान किया। अतः उस आदि निघण्टु पर निरुक्त भी बन चुका था फिर यास्क को उसका व्याख्यान करने से क्या प्रयोजन, अतः समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः इस वचन का दुर्गोक्त अर्थ असङ्गत मालूम होता है वह समाम्नाय तो तत्त् ऋषियों द्वारा व्याख्यात हो चुका। इस ग्रन्थ का अभिप्राय निघण्टु सामान्य से है अर्थात् निघण्टु शब्द जातिवाची है। शाकपूणि आदि आचार्यों का निघण्टु गो शब्द से आरंभ होता है यह हो सकता है कि उसका भी देव पत्न्यः पद में अन्त हो।

अतः प्राचीन आचार्यों के निघण्टु प्रचलित थे और उनकी व्याख्या स्वयं उन उन महर्षियों ने बनाई आगे आनेवाले विद्वानों ने भी अपने स्वतन्त्र निघण्टु और उनकी व्याख्या करने की परम्परा प्रचलित रक्खी।

अतः यास्क कृत निघण्टु और उसका आगे का प्रकरण एक ही है। निघण्टु ३।१९ में कुछ नाम और कुछ आख्यात एकत्र पढ़े गये हैं ऐसा कई निरुक्त व्याख्याकार मानते हैं।

दुर्ग को इस पक्ष के मानने में कोई आपत्ति नहीं।

उपर्युक्त प्रतिपादन से स्पष्ट है कि नैरुक्त लोग अपना-अपना निघण्टु स्वयं बनाते थे फिर निरुक्तकार यास्क ने प्रस्तुत निघण्टु बनाकर अपना निरुक्त रचा ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं उठती।

वृषाकपि के उल्लेख से कश्यप प्रजापति कृत निघण्टु की स्थिति है ऐसा सिद्ध हो सकता है परन्तु यह नहीं कि वर्तमान निघण्टु उनका रचा हुआ है।

प्रो० कर्मकर जो यह कहते हैं निघण्टु २।१६ में तलित् के दो अर्थ दिये गये हैं यास्क उनमें से अन्तिक को ही उचित अर्थ मानता दीखता है।

यदि यह निघण्टु का भी बनाने वाला होता तो तडित् का यथार्थ न करता।

निघण्टु २।१६ में ३३ वधकर्मा धातुओं में विद्यातः, आपगठल:, तलित् ये तीन नाम पढ़े गये हैं। कौत्सव्य के निरुक्त निघण्टु में भी हिंसावाची ३१ पदों में, आपगठल और तड़ित् ये दो नाम पढ़े गये हैं और वह तडित् को अन्तिक नामों में भी पढ़ता है।

इनके यहां पढ़ने का अभिप्राय इनके धात्वर्थ की ओर निर्देश करने का है। यास्क निरुक्त ३।१० में इस बात का विशेष ध्यान रखकर कहता है—

"ताडयतीति सतः"

अर्थात् ताड़ना करने से ही तडित् नाम है। अतः तडित् का अन्तिक नाम गौण है। विद्युत् अर्थ में भी ताड़ना कर्म पाया जाता है। यास्क ने वधकर्मा धातुओं में ताळी आख्यात पढ़कर इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया है कि जिस धातु से तड़ित् बनता है उसी से ताळी बनता है।

अतः धातुओं में नाम पढ़कर उसके यौगिक रूप को विशेष दिखाना ही प्रयोजन है।

अब जो यह कहा गया कि व्याप्तिकर्मा सात धातु पढ़े गये हैं उनमें दो नाम हैं। निघण्टुकार ने भूलसे इन्हें भी धातु ही समझा था और यास्कने उस भूल को दूर किया।

परन्तु यह भी ठीक नहीं इससे अभिप्राय यह है कि धातुओं में नाम पढ़ कर उनके यौगिक रूप को दिखाना ही सर्वथा श्रेय है।

इनके साथ साथ महर्षि यास्क ने प्रमाण से भी दुर्ग, रोथ, सत्यव्रत, राजाराम और कर्मकर के उपरोक्त सिद्धान्तों क "अथो ता भिवानैः संयुज्य हविश्चोदयति इन्द्राय वृत्रघ्ने। इन्द्राय वृत्रतुरे। इन्द्रायां हो मुचे।" इति। "तान्यप्येके समामनन्ति भूयांसि तु समाम्नानात्। यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात्प्राधान्यस्तुति तत्समामने। अथोत कर्मभि ऋषिभिर्देवताःस्तौति वृत्रहा। पुरन्दरः। इति तान्यप्येके समामनन्ति भूयांसि तु समाम्नानात्"। ७। १३।

अर्थात् कई नैरुक्त विशेषणों सहित इन्द्रादि देवता पदों का समाम्नान करते हैं किन्तु फिर भी उनका समाम्नान करने से अनेक विशेषण बच जाते हैं।

परन्तु इनमें प्रधान स्तुतिवाले (अग्नि आदि) देवता नाम हैं उनका मैं समाम्नान करता हूँ।

कई आचार्य कर्म से प्रसिद्ध देवता नाम निघण्टु में एकत्र पढ़ते हैं यथा :—वृत्रहा इत्यादि। परन्तु वे भी सबका समाम्नान नहीं कर सके इसी वचन के व्याख्यान में दुर्ग लिखते हैं "अहं तु न समामने" मैं उन आचार्यों जैसा समाम्नाय नहीं बनाता। यास्कने जैसा निरुक्त में लिखा है वस्तुतः वैसा ही उसका यह निघण्टु है। यास्क के

इस लेख से बढ़ कर इस विषय में अन्य किसी का प्रमाण नहीं हो सकता इससे स्पष्ट है कि यह समाम्नाय उन्हीं का बनाया हुआ है।

प्रोफेसर बेल्वेकर कहते हैं कि निघण्टु के चतुर्थ अध्याय में जो पद पढ़े गये हैं वे अज्ञात या सन्दिग्ध अर्थ और व्युत्पत्तिवाले हैं। सन्दिग्ध अर्थवाले मान कर ही किसी या किन्हीं प्राचीन आचार्य या आचार्योंने ये पद एकत्रित किये थे।

"एतावतामर्थानामिदमभिधानम्" चतुर्थ काण्ड में अनेकार्थ वाची एक एक पद पढ़ा गया है उन्हीं पदों के भाष्य के आरम्भ में यास्काचार्य कहते हैं—"अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामोऽनवगतसंस्कारांश्च निगमां स्तदैकपदिकमित्याचक्षते" अर्थात् अब जो अनेक अर्थोंवाले एक एक शब्द हैं उनका यथाक्रम व्याख्यान करेंगे और अनवगत संस्कारवाले निगम भी पढ़ेंगे। इसको ऐकपदिक कहते हैं। दुर्ग लिखते हैं—अनेन नाम्नान्येप्याचार्या आचक्षते इस काण्ड में ऐकपदिक नाम पहले आचार्यों को भी अभिमत था।

अतः यह स्पष्ट है कि पहले निघण्टुकार भी अपने अपने ग्रन्थों में यह ऐकपदिक काण्ड पढ़ते थे और अपने अपने निरुक्तों में उसका यही नाम रखते थे। अब देखना यह है कि उन प्राचीन आचार्यों के निघण्टु ग्रन्थों में भी इस ऐकपदिक काण्ड में यही पद पढ़े जाते थे या भिन्न भिन्न पद होते थे।

श्री भगवान दत्त के अनुसार प्रत्येक निरुक्तकार अनवगत संस्कारवाले निगमस्थ पदों को पढ़ता था इसका प्रमाण भी है।

यास्कने श्वात्रम् ३।१० को धन नामों में पढ़ा है फिर वह इसी शब्द को निघण्टु ४।२ में पढ़ता है इसकी निरुक्त व्याख्या ५।६ में है वहां *यास्क श्वात्रम् इति क्षिप्रनाम यह किसी प्राचीन निघण्टु का प्रमाण* देता है इससे मालूम होता है कि श्वात्रम् का धननाम पठ कर भी यास्क के हृदय में यह बात अङ्कित थी कि इस पद का क्षिप्र नाम भी है। अतः उसकी अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिये यह पद चतुर्थाध्याय में दोबारा पढ़ा गया।

यास्क पठित शब्द जो एक काण्ड में आये हैं प्राचीन नैरुक्तों ने इन्हें सन्दिग्ध समझा था यह कथन भी समीचीन नहीं ज्ञान पड़ता। देखिए इस निघण्टु में ४।२ में शिपिविष्ट और विष्णु दो नाम पढ़े गये हैं इनमें से विष्णु तो पहले भी निघण्टु ३।१७ में यज्ञ नामों में पढ़ा गया है परन्तु अन्यत्र नहीं पढ़ा गया। यास्क निरुक्त ५।७ में बताते हैं कि किसी प्राचीन आचार्य ने ये दोनों पद विष्णु के नामों में पढ़े थे सम्भवतः वह आचार्य औपमन्यव था इससे स्पष्ट है कि शिपिविष्ट का अर्थ यास्क से पहले भी ज्ञात था। परन्तु व्युत्पत्ति आदि दर्शाने के लिये यास्क ने ऐकपदिक में पाठ कर लिया। इस ऐकपदिक काण्ड में और भी ऐसे अनेक पद पढ़े गये हैं जिनका अर्थ यास्क के पूर्ववर्ती नैरुक्तों को याद था। अतः ऐकपदिक काण्ड में सब सन्दिग्धार्थ पद केवल अनेकार्थ और निर्वचन अपने मत में दिखाने के लिये दिये हैं, न कि और किसी अभिप्राय से।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रगट है कि प्रस्तुत निघण्टु यास्क प्रणीत है।

इस विषय पर सम्मान्य विद्वद्वर्ग और प्रकाश डालेंगे तो हमें अत्यधिक प्रसन्नता होगी।

निरुक्त के इस निघण्टु भाग में ५ अध्याय और ३ काण्ड हैं। पहले तीन अध्याय नैघण्टुक चौथा नैगम और पांचवां दैवतकाण्ड कहलाते हैं। इस समय तक उपलब्ध निघण्टु के संस्करणों में स्वर्गीय डा० लक्ष्मण स्वरूप का सम्पादित संस्करण ही सर्वोत्तम है।

यह निघण्टु निरुक्तान्तर्गत ही है। दुर्ग और स्कन्द आदि के भाष्यों में निरुक्त प्रथमाध्याय को षष्ठाध्याय कहा है। वे निघण्टु के प्रथम पांच अध्यायों से आरम्भ कर आगे प्रति अध्याय की गणना करते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से यही प्रतीत होता है कि निघण्टु भी निरुक्त कहलाता था और प्रत्येक निरुक्तकार इसे रखकर आगे व्याख्यान आरम्भ करता था।

महर्षि यास्क इसके रचयिता हैं—जैसे सायण ने अपने ऋग्वेद भाष्य के उपोद्घात में लिखा है—

पञ्चाध्यायरूपे काण्डत्रयात्मके एतस्मिन्ग्रन्थे परानिरपेक्षतया पदार्थस्योक्तत्वात् तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम्, तद्व्याख्यानञ्च समाम्नायः समाम्नातः इत्यारभ्यतस्यास्तव्या स्तादृग्भाष्यमनुभवन्त्यनुभवन्तीत्यन्तैर्द्वादशाभिरध्यायै यास्को निर्ममे।

महाभाष्य से पहले के वाङ्मय के इतिहास का पता लगाने को अभी तक बहुत कम प्रयत्न हुआ है। हां, कुछ योरोपीय विद्वानों ने खोजना में अवश्य कुछ लिखा है जो प्रमाण कोटि में नहीं आता। महा भारत शान्ति पर्व अध्याय ३४२ श्लोक ७२-७३ में यास्क का उल्लेख आया है—

यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान्।
शिपिविष्ट इतिह्यस्माद् गुह्यनाम धरोह्यहम् ॥ ७२ ॥

स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः ।
मत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्त मभिजग्मिवान् ॥ ७२ ॥

इससे यह ज्ञात होता है कि यास्ककाल महाभारत के लगभग तीन शताब्दी के अन्दर रहा होगा। इस पर गवेषणा की आवश्यकता है।

प्रस्तुत निघण्टु के प्रख्यात टीकाकार श्री देवराजयज्वा वैदिक निघण्टु का भाष्य रचनेवाले एक ही व्यक्ति हैं। इनके द्वारा निघण्टु टीका भूमिका में अपने पिता का नाम यज्ञेश्वर आर्य पितामह का नाम देवराजयज्वा और अभिगोत्र संभव ऐसा लिखा गया है। यह रङ्गेशपुरी पर्यन्त ग्राम के रहने वालों डा० च० कुप्यन्यन् राज का मत है कि देवराज सायण के परवर्ती हैं परन्तु देवराज के द्वारा कहीं भी सायण को उद्धृत नहीं किया गया है। डा० लक्ष्मण स्वरूप अपनी निरुक्त की भूमिका में देवराज को भोज, देव और भरत स्वामी को उद्धृत करते हुए लिखा है—भरत स्वामी का समय संवत् १३६० के आसपास है। देवराज को सायण उद्धृत करता है। सायण वीर बुक्क का प्रधान अमात्य था जो संवत् १४०० के आसपास राज्य करता था इसलिये देवराज संवत् १३७० के समीप हुआ होगा।

अन्त में इस ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन कार्य में हमारे अन्यतम सहयोगी श्री रामनाथ दाधीच शास्त्री एवं श्री कन्नोड़ी लालजी मिश्र को हार्दिक धन्यवाद देते हैं जिनके सतत परिश्रम से यह कार्य सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ।

वैदिक साहित्य के अन्यतम श्रद्धालु संस्कृत भाषा के प्रचारार्थ निरन्तर प्रयत्नशील उदारमना सद्धर्मभूषण यशोन्यप्रवर स्वनामधन्य श्री मनसुख राय मोर ने अपने शुभ संकल्प को क्रियात्मक रूप देकर संसार

में अभूतपूर्व आदर्श रक्खा है। शास्त्रमय जीवन द्वारा सम्पूर्ण प्राणीमात्र का विश्व में हित हो इसीलिये गुरु मण्डल के नवम पुष्प के रूप में स्मृति सन्दर्भ जैसे महान लोकोपकारी विशालकाय विश्व भर में उपलब्ध स्मृति संग्रह कर संस्कृत जगत् को अमर देन दी है।

आप ही का वैदिक भाषा की महान् ज्ञानराशि का प्रचार येनकेन प्रकारेण भूमण्डल पर हो जिससे सद्भावना, अहिंसा, प्रेम और सत्य की प्रतिष्ठा होकर विश्व में शान्ति की विजयपताका फहराई जाने का स्वप्न है। संक्षेप में अपने जीवन में अधिकाधिक समय को शास्त्र चिन्तन में लगाकर मानव प्राणीमात्र के हित में लग न्याय और पुरुषार्थ द्वारा सस्ता आराम दाम काम और न्यायसुलभ होकर कर्तव्यारूढ़ हो आपको इसकी बराबर चिन्ता लगी रहती है। .

शास्त्रों में गोते लगाते लगाते श्री मोर ने अपने जीवन में निष्कर्ष निकाल लिया है कि इनका निःस्वार्थ प्राणी हित के लिये अधिकाधिक प्रचार हो उनकी दीर्घ काल की संकल्पित भावना ही आज वेदों के महान् ज्ञानराशि को स्फुट करने में सोपान स्वरूप निरुक्त के निघण्टु भाग का प्रकाशन आप लोगों के हाथ में जा रहा है इसके बाद क्रमशः तीन जिल्दों में नैघण्टुक नैगम और दैवतकाण्ड यथा शीघ्र प्रकाशित कर प्रस्तुत किये जायेंगे।

आशा है संस्कृतप्रणयी उदार शास्त्र व्यसनी विद्वद्वर्ग एवं गृहस्थ वृन्द इस पुण्य कार्य के प्रचारार्थ श्री मोरजी की तरह मुक्तहस्त से आगे आयेंगे।

इस ग्रन्थ के आरम्भ में श्री परशुराम कृष्ण गोडे एम० ए० भाण्डारकर प्राच्य शोध संस्थान पूना के अधीक्षक (क्यूरेटर) महोदय ने कृपा

कर अंग्रेजी भूमिका लिखकर हमें उपकृत किया उन्हें किन शब्दों में आभार प्रदर्शित किया जाय।

उन्हें आधुनिक प्रचार युग से दूर साहित्य सेवा की अद्भुत धुन सवार है इतने गुरुतर कार्यभार को संभालते हुए आपने संस्कृत साहित्य की विभिन्न गवेषणापूर्ण लेखों से जो देन दी है वह स्पृहणीय है। यह हमारे लिये कम गौरव का विषय नहीं है। परम पूज्य श्री ६ गुरुवर्य पं० हरिदत्तजी शास्त्री विद्यारत्न विद्यालंकार धर्मधुरीण महोदय ने प्राक्कथन लिखकर हमें आशीर्वाद से अनुगृहीत किया है यह सब उनका निज का काम है। गुरुमण्डल के संचालक के रूप में चिर काल तक पथप्रदर्शन कर आप हम लोगों का गौरववर्धन करते रहें यह परम पिता से प्रार्थना है।

इस कार्य को शीघ्र सम्पादन करने में हम लोगों के अनवधान एवं 'भ्रम प्रमादादि दोषवशात्' जो त्रुटियां रह गई हैं उन्हें कृपालु पाठक वृन्द अन्त में दिये गये शुद्धिपत्र से संशोधन करने की उदारता दिखलायेंगे।

ब्रह्मदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य, एम० ए०

॥ श्री शिवः शरणम् ॥

निवेदनम्

ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ।

अत्र सांगवेदाध्ययनं ब्राह्मणस्याध्ययनविधिप्रदर्शनमात्रेणैव नालमपितु परमगम्भीरस्य वेदस्यार्थमवगन्तुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि तान्यप्यवश्यमधीतव्यानीति ।

वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्र विविच्य प्रतिपाद्यते सा शिक्षायथैत्तरीये शिक्षाध्याये वर्णस्वरोच्चारणप्रक्रिया विज्जृम्भिता ।

कल्पस्त्वाश्वलायनापस्तम्बबौधायनादिसूत्रंयज्ञसम्पादनादिकं यत्र विविच्य प्रतिपादितम् ।

व्याकरणम् पाणिनीयशाकटायनादिप्रणीतम् यत्र प्रकृति प्रत्यय स्वर पद विभक्ति विज्ञान स्कन्दात्मकमुपलभ्यते ।

निरुक्तम् अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तम् तन्निरुक्तम् ।

छन्दोग्रन्था यत्र छन्दानांव्याख्या छन्दरचनाप्रकारः छन्दजातिविज्ञानम् ।

ज्योतिषम् पक्षकालार्थ सिद्धये कालज्ञानम् येन भवति तज्ज्योतिषम् ।

तानीमानि निर्दिष्टानि षडंगानि येषामध्ययनं स्वार्गं वेदविदिर्निगदितम् ।

तत्रेयं विचारणा स्वभावतः प्रसरति नैघण्टुक निरुक्तयोरन्यतरः कोभागः षडंगत्वेन परिगणितः ।

यद्यपि निघण्टुनिरुक्ते यास्काचार्यस्यैव कृतिः तथापि निघण्टोः समाम्नानं निरुक्तादपि पूर्वमासीदिति तद्रचनया तत्तद् भागादि-प्रदर्शन विशेष निर्धारणया ज्ञायते निघण्टुनाम विकीर्णानाम् पदानामे-कीकरणम् यथा कृत धर्माणो ऋषयोबभूवुः ।

पुराकाशमण्डले विकीर्णानां शब्दानामक्षरराशीनां स्वात्मबल-विकाशेन प्रत्यभिज्ञया साक्षात्कृत्य एकत्र ग्रन्थनकरणेन निघण्टुकाभिधानं धर्मं शब्दराशीग्रथनं कृतवन्तः ।

पुराकल्पे विकीर्णा एव मन्त्रा ततो ग्रन्थीभूतानामेव तेषामध्ययना-ध्ययनतः शाखासमुद्भूता ततः सर्वशाखागतानांनैघण्टुकपदानां सुखबोधार्थम् ।

निघण्टुनामको ग्रन्थो भगवता यास्केन समाम्नातः तत्तन्मात्रेणार्थं मन्त्रार्थावबोधनापरिसमाप्तसंलक्ष्मन्त्रगतानां पदानाम् तात्पर्यवेदनाय ब्राह्मणग्रन्था समाम्नाताः । ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि मन्त्रार्थपरिज्ञानं नालमितिमत्वा निरुक्तादीनि वेदाङ्गानि समाम्नातानि तत्र निरुक्तम् श्रोत्रमुच्यते ।

निरुक्तं हते वेदज्ञानं श्रुतिपथमसमन्वयमानः

निरुक्तम् श्रोतृत्वेन शब्दस्य मुख्याङ्गम् चकार ।

मन्त्रकाले कृतधर्माणो ऋषयो बभूवुः ते अवरेभ्यः असाक्षात्कृत-धर्मभ्यः उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः । तस्मात् निरुक्तमूलसूत्रम् निघण्टुम् भगवान् यास्कः प्रथमम् रचितवान् निघण्टोरप्यस्याम् समाम्नायः समाम्नातः गवादिदेव पत्न्यन्तम् निगमाचरितम् यास्केनेति ।

निरुक्तं नामेदमंगमारभ्यते प्रधानं चेदमितरेभ्यः निरुक्तस्य वेदाङ्गेषु प्राधान्यत्वं स्थापितम् । तत्र निघण्टुनिरुक्तयोः द्वयोः वेदाङ्गत्वं तस्यैषा गवादिदेवपत्न्यन्ता पञ्चाध्यायी—

सूत्रसंग्रहः सचपुनरियं

छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः ।

नामानि यानि गुह्यानि निरुक्तानि च भारत ।

ऋषिभिः कथितानीह यानि सर्वाणि तानि च ।

(महा० भा० १-१-२२३)

इतीमानि नामाख्यातोपसर्गनिपातानि तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायन नैरुक्त समयश्च, निरुक्त लक्षणम् बहुत्वं दृश्यते—

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौचापरौ वर्णविकारनाशौ । धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम् ।

पदानां निर्वचनं निरुक्तम् । निर्वचनप्रकारश्च निरुक्तादेवावगम्यते । तत्राति परोक्षवृत्ति, परोक्षवृत्तिप्रत्यक्षवृत्ति रूपाणि त्रिंपत्तो भवन्ति, तानि नामानि विचारणीयानि भवन्ति—यथा—परोक्ष प्रिया हि वै देवाः । तत्रापि नामान्याख्यातजानि सर्वाणि इत्येके इत्यादीनि एकपदानि निर्ब्रूयात् । विंपत्तो नामाख्या-तोपसर्ग निपात लक्षणोद्देयो निरुक्तशास्त्र चिन्तनीय विषयाः । एषा गवादिदेवपत्न्यन्ताः । निघण्टुस्तु शब्दसमाम्नाय-विषयकः शब्दकोषः तथाचोक्तं निगमा निघण्टवः निगमयितारः तथाहि पारिभाषिक लक्षणं निघण्टोः एतावन्तः समानकर्माणो धातवः एतावन्त्यस्यास्य सत्वस्य नामानि एतावतामर्थानामिदमभिधानं इदं देवतानामभिधानं तद्यत् अन्यदैवते मन्त्राः निपतन्ति ।

तदिदं नैघण्टुकं कृत धर्माणां महर्षिणां खे विकीरितानां अस्य महतो निःश्वसितं अव्यक्तनादात्मकं व्यक्तं वर्णस्वररूपेण आकाशे तरङ्गितं तत्रैव महर्षिणां समाम्नातं स्वरवर्णसमूहं निगमनान्नैघण्टुकपदवाच्यं प्रागासीत्। तमिममतिगूढार्थं कौत्स्यादिभिः निर्वचनप्रकारेण निरुक्तम्।

नामाख्यातोपसर्ग निपात लक्षणम्, भावविकार लक्षणम्, सर्वाण्याख्यातजानि नामानि तथा चानेकार्थानवगतसंस्काराणि परोक्षः कृतातिपरोक्षकृताध्यात्मिकलक्षणादीनिशब्दमात्राणि अनेकार्थानवगतसंस्कारानुक्रमादि विचार देवतानामाकारचिन्तनादि भक्ति साहचर्य संस्तव कर्मसूक्तभाक् हविर्भाक् देवतानां निरूपणम् मंत्रार्थ निर्वचनेनदेवताभिधान निर्वचन मित्यादि विषयाः निरुक्तशास्त्रेण निर्णेतव्या भवन्ति।

तत्र प्रत्यक्षेणानुमित्यावा यस्तूपायो न विद्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

आत्मसाक्षात्कारः परम पुरुषार्थो वेदेनैवलभ्यते।

"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं"

"ईशावास्यमिदँ सर्वं"

इत्यादि प्रत्यगात्मसाक्षात्कारज्ञानम् वेदेनैवलभ्यम् दर्शनादयस्तदङ्गीभूता वेदेनैव प्रस्फुटिताः सन्ति। परम पुरुषार्थ एव मनुष्यजन्मनः प्राधान्यम्।

"इह चेदवेदीदथसत्यमस्ति"

"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते"

"सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म"

मत्प्रगतिरेव निःश्रेयसः साधनिका सा च वेदार्थज्ञानेनदनुष्ठानेन चान्तःकरणशुद्धिद्वारा प्रकाश्यते ।

"यज्ञैर्यज्ञैः महायज्ञैः ब्राह्मीयं क्रियतेतनुः"

वेद बोधित नैष्कर्म्यार्थं नित्ययज्ञादिभिरन्तःकरणशुद्धिद्वारा निःश्रेयस महात्म्यैकता भवति ।

अतः गुरुमण्डल तत्त्वावधाने निगमशास्त्रस्य परमोपयोगिता समिसमीक्ष्य तत्प्रकाशनम् कृतम् ।

कार्येऽस्मिन् बहुप्रत्यवाय सम्भावना कल्पितासीत् परं श्रीविघ्न-विनाशनकृपया सर्वं सुखं संजातम् । पुनरपि सीसकाक्षरानुयोजक प्रमादवशात् संशोधकानवधानाद्वा या अशुद्धयः भवेयुः दृष्टिपथि आगच्छेयुश्च ता शोधनीयाः श्रीमद्भिः तत्रभवद्भिः दोषभारायज्ञाशीलैः गुणलेशग्रहणपक्षपातिभिः सुधीभिः करुणयेति सविनयं विनिवेदनम् ।

गुरु पूर्णिमा वैक्रमाब्दः
२००६

विदुषामविधेयस्य
राजगुरु हरिदत्त शास्त्रिणः
टेहरीगढ़वाल, वास्तव्यस्य

॥ श्री गणेशः प्रसीदताम् ॥

निरुक्ते (निघण्टु) भागस्थाध्यायानां खण्डानाञ्च सूची ।

—०॥०—

विषय		पृष्ठाङ्क
	...	३७७

॥ समाप्तेयं विषयसूची ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

निरुक्तम्

(निघण्टुः)

टीकाभूमिका ।

मदत्वप्यन्तकान्तास्तक्राग्निकरिणं मुग्धे ।
मदाल्देल्यमानभृङ्गे केसरिणं भजे ॥ १ ॥

नमस्त्रिधाग्रे शिपिविष्टनाम्ने
निरुक्तविद्यानिगमप्रतिष्ठाम् ।
अवाप यास्को विविधेषु यागे-
ष्वनेन चाम्नायमभिष्टुवानः ॥ २ ॥

प्रणमामि यास्कभास्करं यो हृत्तमसः प्रकाशितपदार्थः ।
यस्य भुवनत्रयीमिव गावः प्रकटां त्रयीं वितन्वन्ति ॥ ३ ॥

पाणीश्वरं वचोभिर्यं निपुणमुग्धान्मुनीन्तपोभिश्च ।
अनुरतयन्तं वंदे पितामहं देवराजयज्वानम् ॥ ४ ॥

आचार्यं शाण्डिल्यानामपि यजुषि च यद्द्रष्टुमन्यमभावम् ,
वन्दे नैगमसूत्रिमगुणनिकरशीलामुपगम ।

आभक्तारं कृतुतामयनिसुखकरप्रक्रियानुक्रियायै,
तातं यशोश्वराख्यं प्रतिहततमसं ज्ञानभास्वन्मयूखैः ॥ ५॥
यज्वारङ्गेशपुरी—पर्यन्तग्रामवास्तव्यः ।
विरचयति देवराजो नैघण्टुककाण्डनिर्वचनम् ॥ ६ ॥

भगवता यास्केन समाम्नायं नैघण्टुक-नैगम-दैवताकाण्ड-रूपेण त्रिविधं गवादि-देवपत्न्यन्तं निब्रुवता नैगम-दैवता-काण्डपठितानि पदानि प्रत्येकमुपादाय निरुक्तानि दर्शितनिगमानि च, नैघण्टुककाण्डपरिपठितानान्तु गवाद्यपर्यन्तानामेकनवत्या-धिशाच्छतत्रयाधिकसहस्रं सामान्येन 'एतावन्त्यस्य सत्वस्य नाम-धेयानि'—इति व्याख्याय तत्र प्रदर्श्य कतिचिदेव निरुक्तानि, तथा कानिचिदेव दर्शितनिगमानि, अन्यानि तु ग्रन्थविस्तरभीत्या सामान्येन निर्वचनलक्षणस्योक्तत्वात् बुद्धिमद्भिर्निर्वक्तुं सुशक्यानि इत्यभिप्रायेण च उपेक्षितानि। स्कन्दस्वामी च तत एव निरुक्तमनुजगाम।

तत्र तु 'दिवश्चादित्यस्य च साधारणनामानि स्वरादीनि षट्'—'इदमादीनि, च उपमाभेदात् भेदनामानि द्वादश'- 'प्रपित्वे अभी-के इत्यादीनि च षड्विंशतिश्च' भाष्यकारेण बहुवक्तव्यत्वात् प्रकर-णश एव निरुक्तानि, स्कन्दस्वामिना च व्याख्यातानि। अतोऽन्येषां यथाक्रमेणानिरुक्तनिगमाप्रदर्शनाच्च स्वरूपमात्रमपि अध्ययना-देवावगन्तव्यम्। तच्चाध्ययनं कलियुगे प्रायेण विच्छिन्नसम्प्रदाय-मासीत्। ततश्च कोशा एव शरणमासीत्। तेषु च केषुचिदर्थेषु-लेखकप्रमादादिभिः कानिचित्पदान्यधिकानि आसन्, अन्येषु

च कानिचिन्न्यूनानि, अपरेषु च कानिचिदपहाय कानिचिन् विध्रस्तानि अक्षराणि च विपर्य्यस्तानि। एवं व्याकीर्णेषु कोशेषु नियमैकभूतस्य प्रतिपदनिर्वचननिगमप्रदर्शनपरस्य कस्यचिद् व्याख्यानस्य अभावान् नैघण्टुककाण्डमुत्सन्नप्राय-मासीत्।

ततश्च पाठसंशोधनार्थं बालानां सुगमत्वाय च तद्गतानां पदानां क्रमेण प्रतिपदनिर्वचननिगमौ प्रदर्शयितुं,—स्वरादीनीति पूर्वमुक्तस्य प्रकरणत्रयस्य, नैगम-दैवताकाण्डगतानाञ्च पदानां भाष्यकारेण निरुक्तानां स्कन्दस्वामिना च तद्व्याख्यातानां प्रक्रिययोन्मीलयितव्यम्, बहुशस्तु नैघण्टुककाण्डनिर्वचनानन्तरं तदुन्मीलयितुञ्चायमस्मत्परिश्रमः।

इदञ्च स्वमनीषिकया न क्रियते किन्तु नैघण्टुकगतेष्वेव पदे-ष्वध्यर्द्ध शतत्रयमात्राणि पदानि भाष्यकारेणैव तत्र तत्र निगमेषु प्रसङ्गान्निरुक्तानि, स्कन्दस्वामिना च निगमव्याख्यानेषु अन्यानि च पदानि शतद्वयमात्राण्युपात्तानि। तेन च समाम्नायपठितानां पदानामन्येभ्यो व्यावृत्त्यर्थं किञ्चिचिह्नं कृतम्, अतस्तेषां पाठ-शुद्धिस्तत्रैव शुद्धा। अन्येषाञ्च पदानामस्मत्कृते समाम्नाया-ध्ययनस्याविच्छेदात्,—श्रीवेङ्कटाचार्यतनयस्य माधवस्य भाष्य-वृत्तौ नामानुक्रमण्याः आख्यातानुक्रमण्याः—स्वरानानुक्रमण्याः—निपातानुक्रमण्याः—निर्वचनानुक्रमण्याः—तदीयस्य भाष्यस्य च बहुशः पर्यालोचनात्,—बहुदेशसमानीतात् बहुकोशनिरीक्षणाच्च पाठः संशोधितः। निर्वचनञ्च -निरुक्तं, (१) स्कन्दस्वामिकृतां

निरुक्तटीकां, (२) स्कन्दस्वामि (क)-भवस्वामि (ख)-राहदेव (ग) -श्रीनिवास (घ)-माधवदेव (ङ)-उवटभट्ट (च)-भास्करमिश्र (छ) भरतस्वाम्यादि (७)—विरचितानि वेदभाष्याणि, (३) पाणिनीयं व्याकरणं, (४) विशेषत उणादि (क) तद्वृत्ति, (ख) क्षीरस्वाम्य-नन्ताचार्यादिकृतां निघण्टुव्याख्यां, (५) भोजराजीयं व्याकरणं, (६) कमलनयनीय-निखिलपदसंस्कारांश्च (७) निरीक्ष्य क्रियते। तत्र च अस्मद्व्याख्येयानां तत्र दृष्टानां पदानां तत्तत्कृतञ्च निर्वचनमुपादाय तदेवास्मत्प्रकरणानुरूपञ्चेदुल्लिख्यते, अननु-रूपन्तुकिञ्चिद् विपरिणमय्य, अन्येषाञ्च कतिपयानां निरुक्तकारो-क्तनिर्वचनसामान्यलक्षणमनुसृत्य, निरुक्तिः क्रियते।

निगमश्च दक्षिणापथनिवासिभिरधीतेषु वेदेषु परिदृश्यमान-स्तत्तद्भाष्याणि निरीक्ष्य तत्र तत्र प्रदर्श्यते, अदृष्टनिगमानाञ्च पदानां निगमा अन्वेष्याः।

अतोऽस्माभिर्यथामति प्रदर्शितौ प्रतिपदनिर्वचननिगमौ विद्वांसो बुद्ध्या निरूप्य शुकभाषितवन्मनसि कुर्वन्तु ॥

॥ अथ निघण्टुसमाम्नायः ॥

प्रथमोऽध्यायः ।

१ गौः २ ग्मा । ३ ज्मा । ४ क्ष्मा । ५ क्षा । ६ क्षमा । ७ क्षोणी । ८ क्षितिः । ९ अवनिः १० उर्वी । ११ पृथ्वी । १२ मही । १३ रिपः । १४ अदितिः । १५ इळा । १६ निर्ऋतिः । १७ भूः । १८ भूमिः । १९ पूषा । २० गातुः । २१ गोत्रेत्येकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि ॥ १ ॥

१ हेम । २ चन्द्रम् । ३ रुक्मम् । ४ अयः ५ हिरण्यम् । ६ पेशः । ७ कृशनम् । ८ लोहम् । ९ कनकम् । १० काञ्चनम् । ११ भर्म । १२ अमृतम् । १३ मरुत् । १४ दत्रम् । १५ जातरूपमिति पञ्चदश हिरण्यनामानि ॥ २ ॥

१ अम्बरम् । २ वियत् । ३ व्योम । ४ बर्हिः । ५ धन्व । ६ अन्तरिक्षम् । ७ आकाशम् । ८ आपः ९ पृथिवी । १० भूः । ११ स्वयम्भूः । १२ अध्वा । १३ पुष्करम् । १४ सगरः । १५ समुद्रः । १६ अध्वरमिति षोडशान्तरिक्षनामानि ॥ ३ ॥

१ स्वः । २ पृश्निः । ३ नाकः । ४ गौः । ५ विष्टप् । ६ नभः इति षट् साधारणानि ॥ ४ ॥

१ खेदयः । २ किरणाः । ३ गावः । ४ रश्मयः । ५ अभीशवः । ६ दीधितयः । ७ गभस्तयः । ८ वनम् । ९ उस्राः । १० वसवः ११ मरीचिपाः । १२ मयूखाः १३ सप्तऋषयः । १४ साध्याः । १५ सुपर्णा इति पञ्चदश रश्मिनामानि ॥ ५ ॥

१ आताः । २ आशाः । ३ उपराः । ४ आष्ठाः । ५ काष्ठाः । ६ व्योम । ७ ककुभः । ८ हरित इत्यष्टौ दिङ्नामानि ॥ ६ ॥

१ श्यावी । २ क्षपा । ३ शर्वरी । ४ अक्तुः । ५ ऊर्म्या । ६ राम्या । ७ यम्या । ८ नम्या । ९ दोषा । १० नक्ता । ११ तमः । १२ रजः । १३ असिक्नी । १४ पयस्वती । १५ तमस्वती । १६ घृताची । १७ शिरिणा । १८ मोकी । १९ शोकी । २० ऊधः । २१ पयः । २२ हिमा । २३ वस्वीति त्रयोविंशतीरात्रिनामानि ॥७॥

१ विभावरी । २ सूनरी । ३ भास्वती । ४ ओदती । ५ चित्रामघा । ६ अर्जुनी । ७ वाजिनी । ८ वाजिनीवती । ९ सुम्नावरी । १० अहना । ११ द्योतना । १२ श्वेत्या । १३ अरुषी । १४ सूनृता १५ सुनृतावती । १६ सूनृतावरीति षोडशोषोनामानि ॥८॥

१ वस्तोः । २ द्युः । ३ भानुः । ४ वासरम् । ५ स्वसराणि । ६ घ्रंसः । ७ घर्मः । ८ घृणः । ९ दिनम् । १० दिवा । ११ दिवेदिवे । १२ द्यविद्यवीति द्वादशाहर्नामानि ॥ ९ ॥

१ अद्रिः । २ ग्रावा । ३ गोत्रः । ४ वलः । ५ अश्नः । ६ पुरुभोजाः । ७ वलिशानः । ८ अश्मा । ९ पर्वतः । १० गिरिः । ११ व्रजः । १२ चरुः । १३ वराहः १४ । शम्बरः । १५ रौहिणः । १६ रैवतः । १७ फलिगः । १८ उपरः । १९ उपलः । २० चमसः ।

२१ अहिः । २२ अभ्रम् । २३ बलाहकः । २४ मेघः । २५ दृतिः । २६ । ओदनः । २७ वृषन्धिः । २८ वृत्रः । २९ असुरः । ३० कोश- इति त्रिंशन्मेघनामानि ॥१०॥

१ श्लोकः । २ धारा । ३ इला । ४ गौः । ५ गौरी । ६ गान्धर्वी । ७ गभीरा । ८ गम्भीरा । ९ मन्द्रा । १० मन्द्राजनी । ११ वाशी । १२ वाणी । १३ वाणीची । १४ वाणः । १५ पविः । १६ भारती । १७ धमनिः । १८ नाळीः । १९ मेळिः । २० मेना । २१ सूर्या । २२ सरस्वती । २३ निवित् । २४ स्वाहा । २५ वग्नुः । २६ उपब्दिः । २७ मायुः । २८ काकुत् । २९ जिह्वा । ३० घोषः । ३१ स्वरः । ३२ शब्दः । ३३ स्वनः । ३४ ऋक् । ३५ होत्रा । ३६ गीः । ३७ गाथा । ३८ गणः । ३९ धेना । ४० ग्नाः ।४१ विपा । ४ नना । ४३ कशा । ४४ धिषणा । ४५ नौः । ४६ अक्षरम् । ४७ मही । ४८ अदितिः । ४९ शची । ५० वाक् । ५१ अनुष्टुप् । ५२ धेनुः । ५३ वल्गुः । ५४ गल्दा । ५५ सरः । ५६ सुपर्णी । ५७ वेकुरेति सप्तपञ्चाशद्वाङ्नामानि ॥　॥

१ अर्णः । २ क्षोदः । ३ क्षद्मः । ४ नभः । ५ अम्भः । ६ कबन्धम् । ७ सलिलम् । ८ वाः । ९वनम् । १० घृतम् । ११ मधु । १२ पुरीषम् । १३ पिप्पलम् । १४ क्षीरम् । १५ विषम् । १६ रेतः । १७ कशः । १८ जन्म । १९ वृबूकम् । २० बुसम् । २१ तुग्या । २२ बर्बुरम् । २३ सुक्षेम । २४ धरुणम् । २५ सिरा । २६ अररिन्दानि । २७ ध्वस्मन्वत् । २८ जामि । २९ आयुधानि । ३० क्षपः । ३१ अहिः । ३२ अक्षरम् । ३३ स्रोतः । ३४ तृप्तिः । ३५ रसः ।

३६ उदकम् । ३७ पयः । ३८ सरः । ३९ भेषजम् । ४० सहः । ४१ शवः । ४२ यहः । ४३ ओजः । ४४ सुखम् । ४५ क्षत्रम् । ४६ आवयाः । ४७ शुभम् । ४८ यादुः । ४९ भूतम् । ५० भुवनम् । ५१ भविष्यत् । ५२ आपः । ५३ महत् । ५४ व्योम । ५५ यशः ५६ महः । ५७ सर्णीकम् । ५८ स्वृतीकम् । ५९ सतीनम् । ६० गहनम् । ६१ गभीरम् । ६२ गम्भरम् । ६३ ईम् । ६४ अन्नम् । ६५ हविः । ६६ सद्म । ६७ सदनम् । ६८ ऋतम् । ६९ योनिः । ७० ऋतस्य योनिः । ७१ सत्यम् । ७२ नीरम् । ७३ रयिः । ७४ सत् । ७५ पूर्णम् । ७६ सर्वम् । ७७ अक्षितम् । ७८ बर्हिः । ७९ नाम । ८० सर्पिः । ८१ अपः । ८२ पवित्रम् । ८३ अमृतम् । ८४ इन्दुः । ८५ हेम । ८६ स्वः । ८७ सर्गाः । ८८ शम्बरम् । ८९ अभ्वम् । ९० वपुः । ९१ अम्बु । ९२ तोयम् । ९३ तूयम् । ९४ कृपीटम् । ९५ शुक्रम् । ९६ तेजः । ९७ स्वधा । ९८ वारि । ९९ जलम् । १०० जलाषम् । १०१ इदमित्येकशतमुदकनामानि ॥ १२ ॥

१ अवनयः । २ यव्याः । ३ खाः । ४ सीराः ५ स्रोत्याः । ६ एन्यः । ७ धुनयः । ८ रुजानाः ९ वक्षणाः १० खादोअर्णाः । ११ रोधचक्राः । १२ हरितः । १३ सरितः । १४ अग्रुवः । १५ नभन्वः । १६ वध्वः । १७ हिरण्यवर्णाः । १८ रोहितः । १९ सश्चुतः । २० अर्णाः । २१ सिन्धवः । २२ कुल्याः । २३ वर्यः । २४ उर्व्यः । २५ इरावत्यः । २६ पार्वत्यः । २७ स्रवन्त्यः । २८ ऊर्जस्वत्यः । २९ पयस्वत्यः । ३० तरस्वत्यः । ३१ सरस्वत्यः । ३२ हरस्वत्यः ।

३३ रोधस्वत्यः । ३४ भास्वत्यः । ३५ अजिराः । ३६ मातरः । ३७ नद्य इति सप्तत्रिंशन्नदीनामानि ॥ १३ ॥

१ अत्यः । २ हयः । ३ अर्वा । ४ वाजी । ५ सप्तिः ६ वह्निः । ७ दधिक्राः ८ दधिक्रावा । ९ एतग्वः । १० एतशः । ११ पैद्वः । १२ दौर्गहः । १३ औच्चैःश्रवसः । १४ तार्क्ष्यः । १५ आशुः । १६ ब्रध्नः । १७ अरुषः । १८ माँश्चत्वः । १९ अव्यथयः । २० श्येनासः । २१ सुपर्णाः । २२ पतङ्गाः । २३ नरः । २४ ह्वार्याणाम् । २५ हंसासः २६ अश्वा इति षड्विंशतिरश्वनामानि ॥ १४ ॥

१ हरी इन्द्रस्य । २ रोहितोऽग्नेः । ३ हरित आदित्यस्य । ४ रासभावश्विनोः । ५ अजाः पूष्णः । ६ पृषत्यो मरुताम् । ७ अरुण्यो गाव उषसाम् । ८ श्यावाः सवितुः । ९ विश्वरूपा बृहस्पतेः । १० नियुतो वायोरिति दशादिष्टोपयोजनानि ॥ १५ ॥

१ भ्राजते । २ भ्राशते । ३ भ्राश्यति । ४ दीदयति । ५ शोचति । ६ मन्दते । ७ भन्दते । ८ रोचते । ९ ज्योतते । १० द्योतते । ११ द्युमदित्येकादश ज्वलतिकर्माणः ॥ १६ ॥

१ जमत् । २ कल्मलीकिनम् । ३ जञ्जणाभवत् । ४ मल्मला-भवत् । ५ अर्चिः । ६ शोचिः । ७ तपः । ८ तेजः । ९ हरः । १० हृणिः । ११ शृङ्गाणि शृङ्गाणीत्येकादश ज्वलतो नामधेयानि ॥ १७ ॥

गौर्हिमाम्बरं स्वः रोदय आताः श्यावी विभावरी वास्त्वोरद्रिः श्लोकोर्णोव-नद्योत्यो हरी इन्द्रस्य भ्राजते जमदिति सप्तदश ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

१ अपः । २ अप्नः । ३ दंसः । ४ वेपः । ५ वेषः । ६ विष्ट्वी । ७ व्रतम् । ८ कर्वरम् । ६ करणम् । १० शक्म । ११ क्रतुः । १२ करणानि । १३ करांसि । १४ करिक्रत् । १५ करन्ती । १६ चक्रत् । १७ कर्त्वम् । १८ कर्तोः । १६ कर्तवै । २० कृत्वी । २१ धीः । २२ शची । २३ शमी । २४ शिमी । २५ शक्तिः । २६ शिल्पमिति षड्विंशतिः कर्मनामानि ॥१॥

१ तुक् । २ तोकम् । ३ तनयः । ४ तोवम । ५ तक्म ६ शेषः । ७ अप्नः । ८ गयः । ६ जाः । १० अपत्यम् । ११ यहुः । १२ सूनुः । नपात् । १४ प्रजा । १५ बीजमिति पञ्चदशापत्यनामानि ॥ २ ॥

१ मनुष्याः । २ नरः । ३ धवाः । ४ जन्तवः । ५ विशः । ६ क्षितयः । ७ कृष्टयः । ८ चर्षणयः । ६ नहुषः । १० हरयः । ११ मर्याः । १२ मर्त्याः । १३ मर्ताः । १४ व्राताः । १५ तुर्वशाः । १६ द्रुह्यवः । १७ आयवः । १८ यदवः । १६ अनवः । २० पूरवः । २१ जगतः । २२ तस्थुषः । २३ पञ्चजनाः । २४ विवस्वन्तः । २५ पृतना इति पञ्चविंशतिर्मनुष्यनामानि ॥ ३ ॥

१ आयती । २ च्यवाना । ३ अभीशू । ४ अप्नवाना । ५ विनङ्गृसौ । ६ गभस्ती । ७ करस्नौ । ८ बाहू । ६ भुरिजौ । १० क्षिपस्ती । ११ शक्वरी । १२ भरित्रे इति द्वादश बाहुनामानि ॥४॥

१ अग्रुवः । २ अण्व्यः । ३ क्षिपः । ४ विशः । ५ शर्याः । ६ रशनाः । ७ धीतयः । ८ अथर्यः । ६ विपः । १० कक्ष्याः ।

११ अवनयः । १२ हरितः । १३ स्वसारः । १४ जामयः । १५ सनाभयः । १६ योक्त्राणि । १७ योजनानि । १८ धुरः । १६ शाखा । २० अभीशवः । २१ दीधितयः । २२ गभस्तय इति द्वाविंशतिरङ्गुलिनामानि ॥ ५ ॥

१ वश्मि । २ उश्मसि । ३ वेति । ४ वेनति । ५ वेसति । ६ वाञ्छति । ७ वष्टि । ८ वनोति । ६ जुषते । १० हर्यति । ११ आचके । १२ उशिक् । १३ मन्यते । १४ छन्त्सत् । १५ चाकनत् । १६ चकमानः । १७ कनति । १८ कानिषदित्यष्टादश कान्तिकर्माणः ॥६॥

१ अन्धः । २ वाजः । ३ पयः । ४ श्रवः । ५ पृक्ष । ६ पितुः । ७ सुतः । ८ सिनम् । ६ अवः । १० क्षु । ११ धासिः । १२ इरा । १३ इळा । १४ इषम् । १५ ऊर्क् । १६ रसः । १७ स्वधा । १८ अर्कः । १६ क्षद्म । २० नेमः । २१ ससम् । २२ नमः । २३ आयुः । २४ सूनृता । २५ ब्रह्म । २६ वर्चः । २७ कीलालम् । २८ यश इत्यष्टाविंशतिरन्ननामानि ॥७॥

१ आ वयति । २ भर्वति । ३ बभस्ति । ४ वेति । ५ वेवेष्टि । ६ अविष्यन् । ७ प्सति । ८ भसथः । ६ बब्धाम् । १० ह्वर्ताति दशात्तिकर्माणः ॥ ८ ॥

१ ओजः । २ पाजः । ३ शवः । ४ तवः । ५ तरः । ६ त्वक्षः । ७ शर्धः । ८ बाधः । ६ नृम्णम् । १० तविषी । ११ शुष्मम् । १२ शुष्णम् । १३ दक्षः । १४ वीलु । १५ च्यौत्नम् । १६ शूषम् । १७ सहः । १८ यहः । १६ वधः । २० वर्गः । २१ वृजनम् । २२ वृक् ।

२३ मज्मना । २४ पौंस्यानि । २५ धर्णसिः । २६ द्रविणम् । २७ स्यन्द्रासः । २८ शम्बरमित्यष्टाविंशतिर्बलनामानि ॥ ९ ॥

१ मघम् । २ रेक्णः । ३ रिक्थम् । ४ वेदः । ५ वरिवः । ६ श्वात्रम् । ७ रत्नम् । ८ रयिः । ९ क्षत्रम् । १० भगः । ११ मीळ्हुम् । १२ गयः । १३ द्युम्नम् । १४ इन्द्रियम् । १५ वसु । १६ रायः । १७ राधः । १८ भोजनम् । १९ तना । २० नृम्णम् । २१ बन्धुः । २२ मेधा । २३ यशः । २४ ब्रह्म । २५ द्रविणम् । २६ श्रवः । २७ वृत्रम् । २८ वृतमित्यष्टाविंशतिरेव धननामानि ॥ १० ॥

१ अघ्न्या । २ उस्रा । ३ उस्रिया । ४ अही । ५ मही । ६ अदितिः । ७ इळा । ८ जगती । ९ शक्वरीति नव गो (मातृ) नामानि ॥ ११ ॥

१ रेळते । २ हळते । ३ भामते । ४ हृणीयते । ५ भ्रीणाति । ६ भ्रेषति । ७ दोधति । ८ वनुष्यति । ९ कम्पते । १० भोजत इति दश क्रुध्यतिकर्माणः ॥ १२ ॥

१ हेळः । २ हरः । ३ हृणिः । ४ त्यजः ५ भामः । ६ एहः । ७ ह्वरः । ८ तपुषी । ९ जूर्णिः । १० मन्युः । ११ व्यथिरित्येकादश क्रोधनामानि ॥ १३ ॥

१ वर्तते । २ अयते । ३ लोटते । ४ लोठते । ५ स्यन्दते । ६ फसति । ७ सर्पति । ८ स्यमति । ९ स्रवति । १० स्रंसते । ११ अवति । १२ श्चोतति । १३ ध्वंसति । १४ वेनति । १५ मार्ष्टि । १६ भुरण्यति । १७ शवति । १८ काल्यति । १९ पेलयति । २० कण्टति । २१ पिम्यति । २२ विम्यति । २३ मिम्यति । २४ प्रवते । २५ प्लवते । २६ च्यवते । २७ कपते । २८ गवते । २९ नवते । ३० क्षोदति ।

३१ नक्षति । ३२ सक्षति । ३३ म्यक्षति । ३४ सचति । ३५ ऋच्छति । ३६ तुरीयति । ३७ चतति । ३८ अतति । ३६ गाति । ४० इयक्षति । ४१ सश्चति । ४२ त्सरति । ४३ रंहति । ४४ यतते । ४५ भ्रमति । ४६ ध्रजति । ४७ रजति । ४८ लजति । ४६ क्षियति । ५० धमति । ५१ मिनाति । ५२ ऋण्वति । ५३ ऋणोति । ५४ स्वरति । ५५ सिसर्ति । ५६ वेविष्टि । ५७ योविष्टि । ५८ रिणाति । ५६ रीयते । ६० रेजति । ६१ दध्यति । ६२ दभ्नोति । ६३ युध्यति । ६४ धन्वति । ६५ अरुपति । ६६ आर्यति । ६७ डीयते । ६८ तकति । ६६ दीयति । ७० ईषति । ७१ फणति । ७२ हनति । ७३ अर्दति । ७४ मर्दति । ७५ सर्स्र्ते । ७६ नसते । ७७ हर्यति । ७८ इयर्ति । ७६ ईर्ते । ८० ईङ्खते । ८१ अयति । ८२ श्वात्रति । ८३ गन्ति । ८४ आ गनीगन्ति । ८५ जङ्गन्ति । ८६ जिन्वति । ८७ जसति । ८८ गमति । ८६ घ्राति । ६० ध्माति । ६१ भ्रयति । ६२ यहते । ६३ स्यर्यति । ६४ जेहते । ६५ प्वःकति । ६६ क्षुम्पति । ६७ प्साति । ६८ वाति । ६६ याति । १०० इपति । १०१ द्राति । १०२ द्रलति । १०३ एजति । १०४ जमति । १०५ जवति । १०६ धक्षति । १०७ अनिति । १०८ पचते । १०६ हन्ति । ११० सेधति । १११ अगन् । ११२ अजगन् । ११३ जिगाति । ११४ पतति । ११५ इन्वति । ११६ द्रमति । ११७ द्रवति । ११८ वेति । ११६ हयन्तात् । १२० एति । १२१ जगायात् । १२२ अयधुरिति द्वाविंशशतं गतिकर्माणः ॥ १४ ॥ ।

१ नु । २ मक्षु । ३ द्रवत । ४ ओषम् । ५ जीराः । ६ जूर्णिः । ७ शूर्ताः । ८ शूघनासः । ९ शीभम् । १० तृपु । ११ तूयम् । १२ तूर्णिः । १३ अजिरम् । १४ भुरण्युः । १५ शु । १६ आशु । १७ प्राशुः । १८ तूतुजिः । १९ तूतुजानः २० तुज्यमानासः । २१ अज्राः । २२ साचीवित् । २३ द्युगत् । २४ ताजत् । २५ तरणिः । २६ वातरंहा इति षड्विंशतिः क्षिप्रनामानि ॥ १५ ॥

१ तलित् । २ आसात् । ३ अम्बरम् । ४ तुर्वशे । ५ अस्तमीके । ६ आके । ७ उपाके । ८ अर्वाके ९ अन्तमानाम् । १० अवमे । ११ उपम इत्येकादशान्तिकनामानि ॥ १६ ॥

१ रणः २ विवाक् । ३ विखादः । ४ नदनुः ५ भरे । ६ आक्रन्दे ७ आहवे । ८ आजौ । ९ पृतनाज्यम् । १० अभीके । ११ समीके । १२ ममसत्यम् । १३ नेमधिता । १४ सङ्काः । १५ समितिः । १६ समनम् । १७ मीळ्हे । १८ पृतनाः १९ स्पृधः । २० मृधः । २१ पृत्सु । २२ समत्सु । २३ समर्ये । २४ समरणे । २५ समोहे । २६ समिथे । २७ संख्ये । २८ संगे । २९ संयुगे । ३० सङ्गथे । ३१ सङ्गमे । ३२ वृत्रतूर्ये । ३३ पृक्षे । ३४ आणौ । ३५ शूरसातौ । ३६ वाजसातौ । ३७ समनीके । ३८ खले । ३९ खजे । ४० पौंस्ये । ४१ महाधने । ४२ वाजे । ४३ अज्म । ४४ सद्म । ४५ संयत । ४६ संवत इति षट्चत्वारिंशत्सङ्ग्रामनामानि ॥ १७ ॥

१ इन्वति । २ नक्षति । ३ आक्षाणः । ४ आनट् । ५ आष्ट । ६ आपानः । ७ अशत् । ८ नशत् । ९ आनशे । १० अश्नुव इति दश व्याप्तिकर्माणः ॥ १८ ॥

१ दभ्नोति । २ श्नथति । ३ ध्वरति । ४ धूर्वति । ५ वृणक्ति । ६ वृश्चति । ७ कृण्वति । ८ कृन्तति । ९ श्यसिति । १० नमते । ११ अर्दयति । १२ स्तृणाति । १३ स्नेहयति । १४ यातयति । १५ स्फुरति । १६ स्फुलति । १७ निवपन्तु । १८ अवतिरति । १९ वियातः । २० आ तिरत् । २१ तलित् । २२ आखण्डल । २३ द्रूणाति । २४ रम्णाति । २५ श्रृणाति । २६ शम्नाति । २७ तृणेलिह । २८ ताह्नि । २९ नितोशते । ३० निबर्हयति । ३१ मिनाति । ३२ मिनोति । ३३ धमतीति त्रयस्त्रिंशद्वधकर्माणः ॥ १९ ॥

१ दिद्युत् । २ नेमिः । ३ हेतिः । ४ नमः । ५ पविः । ६ सृकः । ७ वृकः । ८ वधः । ९ वज्रः । १० अर्कः । ११ कुत्सः । १२ कुलिशः । १३ तुञ्जः । १४ तिग्मः । १५ मेनिः । १६ स्वधितिः । १७ सायकः । १८ परशुरित्यष्टादश वज्रनामानि ॥ २० ॥

१ इरज्यति । २ पत्यते । ३ क्षयति । ४ राजतीति चत्वार ऐश्वर्यकर्माणः ॥ २१ ॥

१ राष्ट्री । २ अर्यः ३ नियुत्वान् । ४ इन इन इति चत्वारीश्वरनामानि ॥ २२ ॥

अपस्तुद्वनुप्या आयती अग्रुघो वश्स्यन्ध आवयत्योजो मवमधृन्या रेलते हेलो धर्तते नु तल्विद्रण इन्वति दभ्नोति विद्युदिरज्यति राष्ट्रीति द्वाविंशतिः ॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

तृतीयोऽध्यायः ।

१ उरु । २ तुवि । ३ पुरु । ४ भूरि । ५ शश्वत् । ६ विश्वम् । ७ परीणसा । ८ व्यानशिः । ९ शतम् । १० सहस्रम् । ११ सलिलम् । १२ कुविदिति द्वादश बहुनामानि ॥ १

१ ऋहन् । २ ह्रस्वः । ३ निधृष्वः । ४ मायुकः । ५ प्रतिष्ठा । ६ कृधु । ७ वम्रकः । ८ दभ्रम् । ९ अर्भकः । १० क्षुल्लकः । ११ अल्प इत्येकादश ह्रस्वनामानि ॥ २ ॥

१ महत् । २ ब्रध्नः । ३ ऋष्वः । ४ बृहत् । ५ उक्षितः । ६ तवसः । ७ तविषः । ८ महिषः । ९ अभ्वः । १० ऋभुक्षाः । ११ उक्षा । १२ विहायाः । १३ यह्वः । १४ ववक्षिथ । १५ विवक्षसे । १६ अम्भृण । १७ माहिनः । १८ गभीरः । १९ ककुहः । २० रभसः । २१ ब्राधन् । २२ विरप्शी । २३ अद्भुतम् । २४ वर्हिष्ठः । २५ वर्हिषदिति पञ्चविंशतिर्महन्नामानि ॥ ३ ॥

१ गयः । २ कृदरः । ३ गर्तः । ४ हर्म्यम् । ५ अस्तम् । ६ पस्त्यम् । ७ दुरोणे । ८ नीलम् । ९ दुर्याः । १० स्वसराणि । अमा । १२ दमे । १३ कृत्तिः । १४ योनिः । १५ सद्म । १६ शरणम् । १७ वरूथम् । १८ छर्दिः । १९ छदिः । २० छाया । २१ शर्म । २२ अज्मेति द्वाविंशतिर्गृहनामानि ॥ ४ ॥

१ इरज्यति । २ विधेम । ३ सपर्यति । ४ नमस्यति । ५ दुवस्यति । ६ ऋध्नोति । ७ ऋणद्धि । ८ ऋच्छति । ९ सपति । १० विवासतीति दश परिचरणकर्माणः ॥ ५ ॥

१ शिम्बाता। २ शतरा। ३ शातपन्ता। ४ शिल्गुः। ५ स्यूमकम्। ६ शेवृधम्। ७ मयः। ८ सुग्म्यम्। ९ सुदिनम्। १० शूषम्। ११ शुनम्। १२ शग्मम्। १३ भेषजम्। १४ जलाषम्। १५ स्योनम्। १६ सुम्नम्। १७ शेवम्। १८ शिवम्। १९ शम्। २० कमिति विंशतिः सुखनामानि ॥ ६ ॥

१ निर्णिक्। २ वव्रिः। ३ वर्पः। ४ वपुः। ५ अमतिः। ६ अप्सः। ७ प्सुः ८ अप्नः। ९ पिष्टम्। १० पेशः। ११ कृशनम्। १२ मरुत्। १३ अर्जुनम्। १४ ताम्रम्। १५ अरुषम्। १६ शिल्पमिति षोडश रूपनामानि ॥ ७ ॥

१ अस्त्रेमा। २ अनेमा। ३ अनेद्यः। ४ अनवद्यः। ५ अनभिशस्त्यः। ६ उक्थ्यः। ७ सुनीथः। ८ पाकः। ९ वामः। १० वयुनमिति दश प्रशस्यनामानि ॥ ८ ॥

१ केतुः। २ केतः। ३ चेतः। ४ चित्तम्। ५ क्रतुः। ६ असुः। ७ धीः। ८ शची। ९ माया। १० वयुनम्। ११ अभिख्येत्येकादश प्रज्ञानामानि ॥ ९ ॥

१ बट्। २ श्रत्। ३ सत्रा। ४ अद्धा। ५ इत्था। ६ ऋतमिति षट् सत्यनामानि ॥ १० ॥

१ चिकयत्। २ चाकनत्। ३ अचक्षम्। ४ चष्टे। ५ विचष्टे। ६ विचर्षणिः। ७ विश्वचर्षणिः। ८ अव चाकशदित्यष्टौ पश्यतिकर्माणः ॥ ११ ॥

१ हिकम्। २ नुकम्। ३ सुकम्। ४ आहिकम्। ५ आकीम्।

६ नकिः। ७ माकिः। ८ नकीम्। ९ आकृतमिति नवोत्तराणि पदानि सर्वपद समाम्नानाय ॥ १२॥

१ इदमिव। २ इदं यथा। ३ अग्निर्न ये। ४ चतुरश्चिद्ददमानात्। ५ ब्राह्मणा व्रतचारिणः। ६ वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः। ७ जार आ भगम्। ८ मेषो भूतोऽभि यन्नयः। ९ तद्रूपः। १० तद्वर्णः ११ तद्वत्। १२ तथेत्युपमाः ॥ १३ ॥

१ अर्चति। २ गायति। ३ रेभति। ४ स्तोभति। ५ गूर्धयति। ६ गृणाति। ७ जरते। ८ ह्वयते। ९ नदति। १० पृच्छति। ११ रिहति। १२ धमति। १३ कृपायति। १४ कृपण्यति। १५ पनस्यति। १६ पनायते। १७ वल्गूयति। १८ मन्दते। १९ भन्दते। २० छन्दति। २१ छन्दयते। २२ शशमानः। २३ रञ्जयति। २४ रजयति। २५ शंसति। २६ स्तौति। २७ यौति। २८ रौति। २९ नौति। ३० भनति। ३१ पणायति। ३२ पणते। ३३ सपति। ३४ पपृक्षाः। ३५ महयति। ३६ वाजयति। ३७ पूजयति। ३८ मन्यते। ३९ मदति। ४० रसति। ४१ स्वरति। ४२ वेनति। ४३ मन्द्रयते। ४४ जल्पतीति चतुश्चत्वारिंशदर्चतिकर्माणः ॥ १४ ॥

१ विप्रः। २ विग्रः। ३ गृत्सः। ४ धीरः। ५ वेनः। ६ वेधाः। ७ कण्वः। ८ ऋभुः। ९ नवेदाः। १० कविः। ११ मनीषी। १२ मन्धाता। १३ विधाता। १४ विपः। १५ मनश्चित्। १६ विपश्चित्। १७ विपन्यवः। १८ आकेनिपः। १९ उशिजः। २० कीस्तासः। २१ अद्धातयः। २२ मतयः। २३ मतुथाः। २४ वाघत इति चतुर्विंशतिर्मेधाविनामानि ॥ १५ ॥

१ रेभः। २ जरिता। ३ कारुः। ४ नदः। ५ स्तामुः। ६ कीरिः। ७ गौः। ८ सूरिः। ९ नादः। १० छन्दः। ११ स्तुप्। १२ रुद्रः। १३ कृपण्युरिति त्रयोदश स्तोतृनामानि ॥ १६ ॥

१ यज्ञः। २ वेनः। ३ अध्वरः। ४ मेधः। ५ विदथः। ६ नार्यः। ७ सवनम्। ८ होत्रा। ९ इष्टिः। १० देवताता। ११ मखः। १२ विष्णुः। १३ इन्दुः। १४ प्रजापतिः। १५ घर्म इति पञ्चदश यज्ञनामानि ॥ १७ ॥

१ भरताः। २कुरवः। ३ वाघतः। ४ वृक्तबर्हिषः। ५ यतस्रुचः। ६ मरुतः। ७ सबाधः। ८ देवयव इत्यष्टावृत्विङ्नामानि ॥ १८ ॥

१ ईमहे। २ यामि। ३ मन्महे। ४ दद्धि। ५ शग्धि। ६ पूर्धि। ७ मिमिड्ढि। ८ मिमीहि। ९ रिरिड्ढि। १० रिरीहि। ११ पीपरत्। १२ यन्तारः। १३ यन्धि। १४ इषुध्यति। १५ मदेमहि। १६ मनामहे। १७ मायत इति सप्तदश याच्ञाकर्माणः ॥ १९ ॥

१ दाति। २ दाशति। ३ दासति। ४ राति। ५ रासति। ६ पृणक्षि। ७ पृणाति। ८ शिक्षति। ९ तुञ्जति। १० मंहत इति दश दानकर्माणः ॥ २० ॥

१ परिह्वृत। २ पवस्व। ३ अभ्यर्ष। ४ आशिष इति चत्वारोऽध्येषणाकर्माणः ॥ २१ ॥

१ स्वपिति। २ सस्तीति द्वौ स्वपितिकर्माणौ ॥ २२ ॥

१ कूपः। २ कातुः। ३ कर्तः। ४ वव्रः। ५ काटः। ६ खातः। ७ अवतः। ८ क्रिविः। ९ सूदः। १० उत्सः। ११ ऋश्यदात्।

१२ कारोतरात् । १३ कुशयः । १४ केवट इति चतुर्दश कूपनामानि ॥ २३ ॥

१ तृपुः । २ तकाः । ३ रिम्बा । ४ रिपुः । ५ रिक्का । ६ रिहायाः । ७ तायुः । ८ तस्करः । ९ वनर्गुः । १० हुरश्चित् । ११ मुषीवान् । १२ मलिम्लुचः । १३ अघशंसः । १४ वृक इति चतुर्दशैव स्तेननामानि ॥ २४ ॥

१ निण्यम् । २ सस्वः । ३ सनुतः । ४ हिरुक् । ५ प्रतीच्यम् । ६ अपीच्यमिति षण्णिर्णीतान्तर्हितनामधेयानि ॥ २५ ॥

१ आके । २ पराके । ३ पराचैः । ४ आरे । ५ परावत इति पञ्च दूरनामानि ॥ २६ ॥

१ प्रत्नम् । २ प्रदिवः । ३ प्रवयाः । ४ सनेमि । ५ पूर्व्यम् । ६ अह्नायेति षट् पुराणनामानि ॥ २७ ॥

१ नवम् । २ नूत्नम् । ३ नूतनम् । ४ नव्यम् । ५ इदा । ६ इदानीमिति षडेव नवनामानि ॥ २८ ॥

१ प्रपित्वे । २ अभीके । ३ दभ्रम् । ४ अर्भकम् । ५ तिरः । ६ सतः । ७ त्वः । ८ नेमः । ९ ऋक्षाः । १० स्तृभिः । ११ वम्रीभिः । १२ उपजिह्विका । १३ ऊर्दरम् । १४ कृदरम् । १५ रम्भः । १६ पिनाकम् । १७ मेना । १८ ग्नाः । १९ शेपः । २० वैतसः । २१ अया । २२ एना । २३ सिषक्तु । २४ सचते । २५ भ्यसते । २६ रेजत इति षड्विंशतिर्द्विश उत्तराणि नामानि ॥ २९ ॥

१ स्वधे । २ पुरन्धी । ३ धिषणे । ४ रोदसी । ५ क्षोणी । ६ अम्भसी । ७ नभसी । ८ रजसी । ९ सदसी । १० सद्मनी ।

२१ घृतवती । १२ मधुले । १३ गभीरे । १४ गम्भीरे । १५ ओण्यौ । १६ चम्वौ । १७ पार्श्वौ । १८ मही । १९ उर्वी । २० पृथ्वी । २१ अदिती । २२ अही । २३ दूरेअन्ते । २४ अपारे अपारे इति चतुर्विंशतिर्द्यावापृथिवीनामधेयानि नामधेयानि ॥ ३० ॥

अर्हन्नस्मदद्रय इरज्यति शिग्याता निर्णिगसौमा केतुर्वट् चिक्यद्धिकमिदर्मि
यार्वेति विप्रो रेभो यशो भरता ईमहे दाति परिस्व स्वपिति कृप-
स्तृपुर्निण्यमाके प्रत्नं नर्व प्रपित्वे स्वधे त्रितत ॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥



चतुर्थोऽध्यायः ।

१ जहा । २ निधा । ३ शिताम । ४ मेहना । ५ दमूनाः । ६ मूषः । ७ इरिणे । ८ कुरुतन । ९ जटरे । १० तितउ । ११ शिप्रे । १२ मध्या । १३ मन्दू । १४ ईर्मान्तासः । १५ कायमानः । १६ लोधम् । १७ शीरम् । १८ विद्रधे । १९ द्रुपदे । २० तुग्वनि । २१ नंसन्ते । २२ नसन्त । २३ आहनसः । २४ अश्नसन् । २५ इष्मिणः । २६ वाहः । २७ परितक्म्या । २८ सुविते । २९ दयते । ३० नू चित् । ३१ नू च । ३२ दावने । ३३ अकूपारस्य । ३४ शिशीते । ३५ सुतुकः । ३६ सुप्रायणाः । ३७ अप्रायुवः । ३८ च्यवनः ।

३९ रजः । ४० हरः । ४१ जुहुरे । ४२ व्यन्तः । ४३ क्राणाः । ४४ धाशी । ४५ विपुणः । ४६ जामिः । ४७ पिता । ४८ शंयोः । ४९ अदितिः । ५० एरिरे । ५१ जसुरिः । ५२ जरते । ५३ मन्दिने । ५४ गौः । ५५ गातुः । ५६ दंसयः । ५७ तूताव । ५८ चयसे । ५९ वियुते । ६० ऋधक् । ६१ अस्यः । ६२ अस्येति द्विपदिः पदानि ॥ १ ॥

१ सस्निम् । २ वाहिष्ठः । ३ दूतः । ४ वावशानः । ५ वार्यम् । ६ अन्धः । ७ असश्चन्ती । ८ वनुष्यति । ९ तरुष्यति । १० भन्दनाः । ११ आहनः । १२ नदः । १३ सोमो अक्षाः । १४ श्वात्रम् । १५ ऊतिः । १६ हासमाने । १७ पड्भिः । १८ सस्नम् । १९ द्विता । २० व्राः । २१ वराहः । २२ स्वसराणि । २३ शर्याः । २४ अर्कः । २५ पविः । २६ वक्षः । २७ धन्व । २८ सिनम् । २९ इत्था । ३० सचा । ३१ चित् । ३२ आ । ३३ द्युम्नम् । ३४ पवित्रम् । ३५ तोदः । ३६ स्वञ्चाः । ३७ शिपिविष्टः । ३८ विष्णुः । ३९ आघृणिः । ४० पृथुज्रयाः । ४१ अथर्युम् । ४२ काणुका । ४३ अध्रिगुः । ४४ आङ्गूषः । ४५ आपान्तमन्युः । ४६ श्मशा । ४७ उर्वशी । ४८ वयुनम् । ४९ वाजपस्त्यम् । ५० वाजगन्ध्यम् । ५१ गध्यम् । ५२ गधिता । ५३ कौरयाणः । ५४ तौरयाणः । ५५ अह्रयाणः । ५६ हरयाणः । ५७ आरितः । ५८ वन्दी । ५९ निष्षपी । ६० तूर्णाशम् । ६१ क्षुम्पम् । ६२ निचुम्पुणः । ६३ पदिम् । ६४ पादुः । ६५ वृकः । ६६ जोषवाकम् । ६७ कृत्तिः । ६८ श्वघ्नी । ६९ समस्य । ७० कुटस्य । ७१ चर्षणिः । ७२ शम्बः ७३ केपयः ।

७४ तृतुमाक्रवे। ७५ अंसत्रम्। ७६ काकुदम्। ७७ बीरिटे। ७८ अच्छ। ७६ परि। ८० ईम्। ८१ सीम्। ८२ पतम्। ८३ पताम्। ८४ स्रणिरिति चतुरुत्तरमशीतिः पदानि॥ २॥

१ आशुशुक्षणिः। २ आशात्यः। ३ काशिः। ४ कुणारुम्। ५ अलातृणः। ६ सलल्लूकम्। ७ कत्पयम्। ८ विस्रुहः। ६ वीरुधः। १० नमदाश्रम्। ११ अस्कृधोयुः। १२ निश्रृम्भाः। १३ बृबदुक्थम्। १४ ऋदूदरः। १५ ऋदूपे। १६ पुलुकामः। १७ असिन्वती। १८ कपना। १६ भाऋजीकः। २० रुजानाः। २१ जूर्णिः। २२ ओमना। २३ उपलप्रक्षिणी। २४ उपसि। २५ प्रकलवित्। २६ अभ्यर्धयज्वा। २७ ईक्षे। २८ क्षोणस्य। २६ अस्मे। ३० पाथः। ३१ सवीमनि। ३२ सप्रथाः। ३३ विद्थानि। ३४ श्रायन्तः। ३५ आशीः। ३६ अजीगः। ३७ अमूरः। ३८ शशमानः। ३६ देवो देवाच्या कृपा। ४० विजामातुः। ४१ ओमासः। ४२ सोमानम्। ४३ अनवायम्। ४४ किमीदिने। ४५ अमवान्। ४६ अमीवा। ४७ दुरितम्। ४८ अप्वा। ४६ अमतिः। ५० श्रुष्टी। ५१ पुरन्धिः। ५२ रुशत्। ५३ रिशादसः। ५४ सुदत्रः। ५५ सुविदत्रः। ५६ आनुषक्। ५७ तुर्वणिः। ५८ गिर्वणसे। ५६ असूर्ते सूर्ते। ६० अम्यक्। ६१ यादृश्मिन्। ६२ जारयायि। ६३ अग्रिया। ६४ चनः। ६५ पचता। ६६ शुरुधः। ६७ अमिनः ६८ जज्झतीः। ६६ अप्रतिष्कुतः। ७० शाशदानः। ७१ सुप्रः। ७२ सुशिप्रः। ७३ रंसु। ७४ द्विबर्हाः। ७५ अक्रः। ७६ उराणः। ७७ स्तियानाम्। ७८ स्तिपाः।

७६ जघाद । ८० जरूथम् । ८१ कुलिशः । ८२ तुञ्जः । ८३ बर्हणा । ८४ ततनुष्टिम् । ८५ इलीविशः । ८६ कियेधाः । ८७ भृमिः । ८८ विष्पितः । ८९ तुरीपम् । ९० रास्पिनः । ९१ ऋञ्जतिः । ९२ ऋजुनीती । ९३ प्रतद्वसू । ९४ हिनोत । ९५ चोष्कूयमाणः । ९६ चोष्कूयते । ९७ सुमत् । ९८ दिविष्टिषु । ९९ दूतः । १०० जिन्वति । १०१ अमत्रः । १०२ ऋचीषमः । १०३ अनर्शरातिम् । १०४ अनर्वा । १०५ असामि । १०६ गल्दया । १०७ जलहवः । १०८ बकुरः । १०९ बेकनाटान् । ११० अभि घेतन । १११ अंहुरः । ११२ बतः । ११३ वाताप्यम् । ११४ चाकन् । ११५ रथर्यति । ११६ असश्चाम् । ११७ आधवः । ११८ अनवब्रवः । ११९ सदान्वे । १२० शिरिम्बिठः । १२१ पराशरः । १२२ क्रिविर्दती । १२३ करूलती । १२४ दनः । १२५ शरारुः । १२६ इदंयुः । १२७ कीकटेषु । १२८ बुन्दः । १२९ बृन्दम् । १३० किः । १३१ उल्बम् । १३२ ऋबीसमृबीसमिति द्वात्रिंशच्छतं पदानि ॥ ३ ॥

जहा सस्निमाग्रगृभणिश्चोणि ।

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

———

पञ्चमोऽध्यायः।

१ अग्निः। २ जातवेदाः। ३ वैश्वानर इति त्रीणि पदानि ॥१॥

१ द्रविणोदाः। २ इध्मः। ३ तनूनपात्। ४ नराशंसः। ५ इळः। ६ बर्हिः। ७ द्वारः। ८ उषासानक्ता। ९ दैव्या होतारा। १० तिस्रो देवीः। ११ त्वष्टा। १२ वनस्पतिः। १३ स्वाहाकृतय इति त्रयोदश पदानि ॥ २ ॥

१ अश्वः। २ शकुनिः। ३ मण्डूकाः। ४ अक्षाः। ५ ग्रावाणः। ६ नाराशंसः। ७ रथः। ८ दुन्दुभिः। ९ इषुधिः १० हस्तघ्नः। ११ अभीशवः। १२ धनुः। १३ ज्या। १४ इषुः। १५ अश्वाजनी। १६ उलूखलम्। १७ वृषभः। १८ द्रुघणः। १९ पितुः। २० नद्यः। २१ आपः। २२ ओषधयः। २३ रात्रिः। २४ अरण्यानी। २५ श्रद्धा। २६ पृथिवी। २७ अप्वा। २८ अग्नायी। २९ उलूखलमुसले। ३० हविर्धाने। ३१ द्यावापृथिवी। ३२ विपाट्छुतुद्री। ३३ आर्त्नी। ३४ शुनासीरौ। ३५ देवी जोष्ट्री। ३६ देवी ऊर्जाहुती इति षट्त्रिंशत्पदानि ॥ ३ ॥

१ वायुः। २ वरुणः। ३ रुद्रः। ४ इन्द्रः। ५ पर्जन्यः। ६ बृहस्पतिः। ७ ब्रह्मणस्पतिः। ८ क्षेत्रस्य पतिः। ९ वास्तोष्पतिः। १० वाचस्पतिः। ११ अपां नपात्। १२ यमः। १३ मित्रः। १४ कः। १५ सरस्वान्। १६ विश्वकर्मा। १७ तार्क्ष्यः। १८ मन्युः। १९ दधिक्राः। २० सविता। २१ त्वष्टा। २२ वातः। २३ अग्निः। २४ वेनः। २५ असुनीतिः।

२६ ऋतः। २७ इन्दुः। २८ प्रजापतिः। २९ अहिः। ३० अहिर्बुध्न्यः। ३१ सुपर्णः। ३२ पुरूरवा इति द्वात्रिंशत्पदानि॥ ४॥

१ श्येनः। २ सोमः। ३ चन्द्रमाः। ४ मृत्युः। ५ विश्वानरः। ६ धाता। ७ विधाता। ८ मरुतः। ९ रुद्राः। १० ऋभवः। ११ अङ्गिरसः। १२ पितरः। १३ अथर्वाणः। १४ भृगवः। १५ आप्त्याः। १६ अदितिः। १७ सरमा। १८ सरस्वती। १९ वाक्। २० अनुमतिः। २१ राका। २२ सिनीवाली। २३ कुहूः। २४ यमी। २५ उर्वशी। २६ पृथिवी। २७ इन्द्राणी। २८ गौरी। २९ गौः। ३० धेनुः। ३१ अघ्न्या। ३२ पथ्या। ३३ स्वस्तिः। ३४ उषाः। ३५ इला। ३६ रोदसी इति षट्त्रिंशत्पदानि॥ ५॥

१ अश्विनौ। २ उषाः। ३ सूर्या। ४ वृषाकपायी। ५ सरण्यूः। ६ त्वष्टा। ७ सविता। ८ भगः। ९ सूर्यः। १० पूषा। ११ विष्णुः। १२ विश्वानरः। १३ वरुणः। १४ केशी। १५ केशिनः। १६ वृषाकपिः। १७ यमः। १८ अज एकपात्। १९ पृथिवी। २० समुद्रः। २१ अथर्वा। २२ मनुः। २३ दध्यङ्। २४ आदित्याः। २५ सप्त ऋषयः। २६ देवाः। २७ विश्वे देवाः। २८ साध्याः। २९ वसवः। ३० वाजिनः। ३१ देवपत्न्यो देवपत्न्य इत्येकत्रिंशत्पदानि॥ ६॥

अग्निर्द्रविणोदा अश्वो वायुः श्येनोऽश्विनौ षट्।

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः॥

॥ समाप्तम्॥

अथ प्रथमाध्यायः ।

—:**:—

"अथातोऽनुक्रमिष्यामः"—इत्यादि (२, ५) निरुक्ते तस्य टीकायाञ्च यन्नैघण्टुककाण्डविषयमुक्तं तत् सर्वं तत्रैव द्रष्टव्यम् ॥

आदित एकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि—

ॐ गौः (१) । ग्मा (२) । ज्मा (३) । क्ष्मा (४) क्षा (५) । क्षमा (६) । क्षोणिः (७) । क्षितिः (८) । अवनिः (९) । उर्वी (१०) । पृथ्वी (११) । मही (१२) । रिपः (१३) । अदितिः (१४) । इला (१५) । निर्ऋतिः (१६) । भूः (१७) । भूमिः (१८) । पूषा (१९) । गातु (२०) । गोत्रा (२१) इत्येकविंशतिः पृथ्वीनामधेयानि ॥१॥

(१) गौः । 'गम्लृ गतौ (भू० प०)' अस्माद् 'गमेर्डोस् (उ० २, ६३)'—इति कर्त्तरि कारके अधिकरणे वा डोः प्रत्ययः ।

गातेर्वा स्तुत्यर्थात् (अदा० प०) बाहुलकोक्तेः (३, ३, ११३) कर्मण्यधिकरणे वा। 'गोतोणित् (७, १, ९०)'—इति च णिद्वद्भावाद् वृद्धिः। अत्र भाष्यम्—'गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद्दूरं गता भवति यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति गातेर्वौकारो नामकरणः (निरु० २, ५),—इति। अस्य स्कन्दस्वामी—'दूरं गता भवति नैरन्तर्येणात्माकाशादिवत् दूरेऽप्युपलब्धेर्गतिक्रियाव्यवहारः'। अन्यत्रान्यत्र चोपलब्धेर्दूरोपदेशः। प्रत्ययोपात्तरूढ्यर्थसम्बन्धाच्च गमिरत्र नैरन्तर्योपलब्धिदूरविशिष्टं गमनमुपादत्ते, 'तक्षा' 'परिव्राजकः' इति यथा। यच्चास्यां भूतानि प्राणिनो गच्छन्ति। चो यार्थे। गातेर्वा स्तुत्यर्थस्य। (अदा० प०) गीयते स्तूयतेऽसाविति, गायन्ति वाऽस्यां स्थिता इति गौः। उदाहरणम् 'गोषदसि' इति। गार्हपत्योपस्थाने विनियोगात्, गार्हपत्यस्य च गवि पृथिव्यां सदनात् गोशब्दस्य पृथिव्यभिधानत्वमिश्रितमिति। एवमन्येष्वप्युदाहरणेषु तत्र तत्र मन्त्रवाक्यार्थसमवायेन अभिधेयं प्रदर्शनार्थं निश्चित्य तत्तदर्थाभिधायित्वम्। "व्रजं गच्छ गोष्ठानम् (य० वा० सं० १, २५-२६)"—"गौर्जगार यद्ध पृच्छान् (ऋ० सं० १०, ३१, १०)"—"अभवत् पूर्व्या भूमना गौः (ऋ० सं० १०, ३१, ६)" इति निगमाः॥

(२) ग्मा। गमेः पूर्वस्मिन्नेव कारकद्वये 'कनिन्युवृषितक्षि (उ० १, १५४)'—इत्यादिना विहितः कनिन्प्रत्ययो बाहुलकात् भवति। 'गम-हन-जन-खन-घसां लोपः क्ङित्यनङि (६, ४, ९८)'—इत्युपधालोपः, औणादिकेन 'मनिन् (उ० ४, १४०)'—इति सूत्रेण

वा मनिनि बाहुलकात् (३, ३, १) टिलोपः, 'डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम् (४, १, १३)। अर्थः पूर्ववदेव । 'ग्मागच्छतेः, गच्छन्तीहीयम्'—इति-माधवः। "दिवश्च ग्मश्चापाश्च जन्तवः (ऋ० सं० १०, ४९, २)"—"दिवश्च ग्मश्च मर्त्यम् (ऋ० सं० १०, १२, ६)"—इति च निगमौ। ग्म इत्यत्र छान्दसत्वाद्रूपसिद्धिः॥

(३) ज्मा। जमतिर्गतिकर्मा (निघ० २, १०) 'जमु अदने (भू० प०)'—जनी प्रादुर्भावे (दि० आ०),—'अञ्जू व्यक्ति म्रक्षणकान्ति-गतिषु (रु० प०)' म्रक्षणं सेचनमिति तद्वृत्तिः। एतेभ्यः 'श्वन्नुक्षन् पूषन् प्लीहन् (उ० १, १५५)'—इत्यादिना परिज्मन्निति कनिन्नन्तं सोपसर्गं निपातितम्, बाहुलकात् (३, ३, १) निरुपसर्गमपि भवति। निपातनादेव कारकविशेषसिद्धिः। 'डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम् (४, १, १३)'। गतौ पूर्ववदर्थः। अदन्ति वास्यां भूतानि, जातानि वा सकारणान्, जायन्तेवास्या ओषधयः। तथाचोपनिषत्—'अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः (तै० उ०२, १)'—इति। अथवा व्यक्ता सर्वेषां प्रत्यक्षा न ह्याकाशादिवदव्यक्ता पृथिवी; 'तिस्रो महीरुपरास्तस्थुरत्या गुहा द्वे निहिते दर्श्येका (ऋ० सं० ३, ५६, २)'–इति च श्रुतिः। अक्ता सिक्ता भवति वृषेण; 'तस्मादसाविमां वृष्ट्याभ्युनत्त्यभिजिघ्रति (ऐ० ब्रा० १, २, १)'–इति ब्राह्मणम्। "ये के च ज्मा महिनो अहिमायाः (ऋ० सं० ६, ५२, १५)"—"असिक्न्यामिन्द्रभूध्वज्मन् (ऋ० सं० ७, २१, ६,)"—"ज्मया अत्र वसवोरन्त देवाः (ऋ० सं० ७, ३९, ३)"—"अधज्मो अधवा दिवः (ऋ० सं० ८, १, १८)"—इति च निगमाः॥

(४) क्ष्मा। 'क्षि क्षये' भ्वादिः (प०), 'क्षि निवासगत्योः' तुदादिः (प०), 'क्षि हिंसायाम्' क्र्यादिः (प०), क्षै, जै, सै, क्षये (भ्०प०), 'क्षमूष् सहने (दि० प०)', 'क्ष्मायी विधूनने (भ्० आ०)' —एतेभ्यः औणादिके मनिनि (उ० ४, १४०) बाहुलकाद्रूपसिद्धिः। डापि गतार्थं उक्तः। क्षियन्ति निवसन्त्यस्यां प्राणिनः, क्षायन्ति अवयवं गच्छन्त्यस्यां पदार्था इति वा, हिंस्यन्तेऽस्यां पापकृत इति वा, क्षमते वा प्राणिजातरूपं, भारं विधनयति वा प्राणिनः स्वकीयकाले। "पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः (ऋ० सं० १०,६१,७)"—"क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु नः (ऋ०सं०७, ४६, ३)"—इति च निगमौ॥

(५) क्षा। निरूपिता एव धातवः। 'अन्येष्वपि दृश्यते (३,२,१०१)'—इति सोपपदात् जनेर्विधीयमानो डः प्रत्ययः, 'अपिशब्दः सर्वोपाधि-व्यभिचारार्थः'—इत्युक्तेर्निरुपपदेभ्योऽपि भवति। क्ष्मायस्तु छान्दसत्वान्मकारलोपः। अर्थः पूर्वोक्त एव। "जातस्य च जायमानस्य च क्षाम् (ऋ० सं० १, ६६, ७)" —इति निगमः॥

(६) क्षमा। निरूपिता एव धातुभावाः। औणादिके मनिनि (उ०४, १४०) बाहुलकाद्रूपसिद्धिः। अर्थः पूर्वोक्त एव। 'क्षमूष् सहने (दि०प०)'—इत्यस्माद् वा पूर्ववत् टाप्प्रत्ययः। "यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य राजा (ऋ०सं० २, १४, ११)"—इति निगमः॥

(७) क्षोणिः। 'टुक्षु रक्षु शब्दे' अदादिः (प०) 'वीज्याज्वरिभ्यो निः (उ० ४, ४८)'—इति विहितो निप्रत्ययो बाहुलकाद्

न्भवति, गुणः णत्वम्। क्षूयते शब्दयते स्तूयते स्तोतृभिः, क्षवन्त्यस्यां भूतानीति वा। क्षोणीति ईकारान्तं केचित् पठन्ति। तदा 'कृदिकारादक्तिनो वा ङीप् वक्तव्यः (४, १, ४५ वा०)'—इति ङीप्। "नवन्त क्षोणयो यथा (ऋ० सं० १०, २२, ६)"—"यं क्षोणीरनुचक्रदे (ऋ० सं० ८, ३, १०)"—इति निगमौ॥

(८) क्षितिः। 'क्षि निवासगत्योः (तु० प०),' 'क्षि क्षये (भू० प०)' 'क्षि हिंसायां (स्वा० म्या० प०)'—एतेभ्योऽपि 'वसेस्तिः (उ० ४, १७५)'—इति विहितस्ति-प्रत्ययो बाहुलकाद् (३, ३, १) भवति, गुणाभावश्च। अथवा स्त्रियां क्तिन् (३, ३, ९४)' कर्मण्यधिकरणे (३, ३, ९३) वा भवति। अर्थस्तु क्ष्मेत्यत्रोक्तः "क्षेति क्षितीः सुभगो नाम पुष्यन् (ऋ० सं० ५, ३७, ४)"—"वीहि स्वस्ति सुक्षितिं दिवः (ऋ० सं० ६, २, ११)"—इति निगमौ॥

(९) अवनिः। "अव रक्षण-गति-तृप्ति-प्रीत्य-ऽवगम-प्रवेश-श्रवण-सामर्थ्य-याचन-क्रिये-च्छा-दीप्त्य-ऽवाप्त्या-ऽऽलिङ्गन-हिंसा-दान-भाग-वृद्धिषु (भू०प०)"—अस्मात् "अर्त्तिसृधृधम्यम्यश्यवितृभ्योऽनिः (उ० २, १०२)"—इत्यनि-प्रत्ययः। अवति प्रजाः अव्यन्ते वा भूपैः। एतावत्स्वर्थेषु यो योग्यः स योद्धव्यः। "आ वां रक्षोऽवनिर्न प्रवत्वान् (ऋ० सं० १, १८१, ३)"—"यत्सी महीमवनिं प्राभि मर्मृशत् (ऋ० सं० १, १४०, ५)"—इति च निगमौ॥

(१०) उर्वी। "ऊर्णुञ्—आच्छादने (अदा० उ०)"—अस्मात् "महति ह्रस्वश्च (उ० १, ३०)"—इति उप्रत्ययो णलोपो ह्रस्वश्च,

उरुः। "वोतोगुणवचनात् (४, १, ४४)"—इति ङीष्। ऊर्णोति आच्छादयति उर्वी। महत्वादाच्छादयित्री भूमिः तस्मिन् हितानां वा पदार्थानाम्। वृणोतेर्वा (सा०प०) पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०६) रूपसिद्धिः। 'छादनार्थं विशिष्टम्'—इति स्कन्दस्वामी। वृणोतेराच्छादनार्थत्वेऽनुवादश्च। "मा सीमवद्य आ भागुर्वी काष्ठा (ऋ०सं० ८,८०,८)"—इति निगमः॥

(११) पृथ्वी। 'प्रथ प्रख्याने (भू० आ०)'—प्रथि-म्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च(उ०१,२८)'—, किकु-प्रत्ययः सम्प्रसारणञ्च। प्रथतेऽसाविति पृथुः। पूर्ववत् (४,१,४४) ङीष्। पृथ्वी विस्तीर्णेत्यर्थः। पञ्चाशत्कोटियोजनविस्तीर्णेति पृथिवी। यद्वा अन्तर्भावितण्यर्थात् प्रथतेः 'उणादयो बहुलम् (३,३,१)', 'भूतेऽपि दृश्यन्ते (३, ३, २)—इति वचनात् भूते कु-प्रत्ययः। ब्रह्मणा पूर्वमेव विस्तारितेत्यर्थः। 'तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत् यदप्रथयत् पृथिव्यै पृथिवीत्वम् (व० श०११, १६,-१३,२)"—इति हि ब्राह्मणम्। 'पृथुना राज्ञा अवतारिता पृथ्वी'—इति क्षीरस्वामी। स्तेगो न क्षामत्येति पृथ्वीम् (ऋ० सं० १०, ३१, ६)"—इति निगमः। "यत्रैकार्थानां पदानां सन्निपातः तत्रैकं तस्य वाचकं भवति, अन्येषां निरुक्त्या योजनं कर्तव्यम्"—इति मर्यादा, अतोऽत्र क्षामित्यस्य निरुक्त्या योजनम्।

(१२) मही। "मह पूजायाम्" भ्वादिः (प०)। "इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)"—इतीन्प्रत्ययः। "कृदिकारात् (४, १,४५ वा०)"—इति ङीप्। मह्यते प्रजाभिः, महति वा देवताः

स्वभारावतरणाय। अथवा मानेन स्वगुणेन परिमाणेन स्वस्मादूनं परिमाणं पातालं जहाति अतिक्रामति, मानशब्दाज्जहातेश्च महो। पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) निर्वाहः। "आ नो महीमरमतिं सजोषा (ऋ० सं० ५, ४३, ६)"—इति निगमः॥

(१३) रिपः। 'रपॄ गतौ (भ्वा० आ०)', 'क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणाम् (३,३, १७८ वा०),—इत्यत्र 'प्राक्प्रत्ययनिर्देशात् दीर्घसङ्कि'—इति वचनाद् ह्रस्वे रिपः। गौरित्यनेन समानार्थः। यद्वा, 'रिफ कत्थन-युद्ध-निन्दा-हिंसा-दानेषु' तुदादिः परस्मैपदी। क्विपि फकारस्य पकारो व्यत्ययेन (३, १, ८५) कत्थन-युद्धादीनस्यां कुर्वन्ति तत्कारिणः। यद्वा 'लिप उपदेहे (तु० उ०),' लिप्। गोमयादिना आलिप्यते इति लिप्। रलयोरभेदः। तथाच माधवीयनिर्वचनानुक्रमण्यां 'लेपनाद्रेपणादपि'— इति। यद्वा: 'रपलप व्यक्तायां वाचि (भू० प०)' 'रपेरिच्चोपधायाः (उ० १, २५)'—इत्युप्रत्यये विधीयमानमित्वं बाहुलकादन्यत्रापि भवति। आलपन्त्यस्यां प्राणिनः इति रिप्, जसि रिपः; एवंरूपस्य वेदे भूयोदर्शनात् यथादृष्टं पाठः। "रिरिह्वांसं रिप उपस्थे अन्तः (ऋ० सं० १०, ७६, ३)"—"पाति प्रियं रिपो अग्रं पदं वेः (ऋ० सं० ३, ५)"—इति च निगमौ॥

(१४) अदितिः। 'दीङ् क्षये (दि०आ०)।' 'कृत्यल्युटो बहुलम्, (३,३, ११३)'—इति कर्त्तरिक्तिनि छान्दसं ह्रस्वत्वम् नञ्समासः। अदितिः सकल प्रपञ्चधारणेष्वदीना न क्षीयते इत्यर्थः। 'अदितिरदीना (निरु० ४, २२)'—इत्यत्र भाष्ये स्कन्दस्वामी यद्यपि नञ्पूर्वात् द्यतेः

बाहुल्याच्च ऋग्वेद-दृष्ट-पाठ इलेति। "इलायास्त्वा पदे वयं (ऋ० सं० ३, २९, ४)" "अधा होता न्यसीदो यजीयानिलस्पद० (ऋ० सं० ६, १, २)" ['इलश्छान्दसत्वादाकारलोपः'—इति स्कन्दस्वामी] "इलस्पदे समिध्यसे (ऋ० सं० १०, १९१, १) —इति निगमाः।

(१६) निर्ऋतिः। 'निर्ऋतिर्निरमणात्' (२, ७) निरुक्तम्। अस्य स्कन्दस्वामी='निरमणात्–निश्चलत्वेनावस्थानात्–इत्यर्थः; रमन्ते वास्यां भूतानि'—इति। तत्र निर्पूर्वाद्रमेः (भ्वा० आ०) 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति कर्त्तर्यधिकरणे च क्तिनि (३, ३,९४) अनुनासिकलोपः, 'रमेर्मतौ बहुलम् (६,१,३४वा०)'—इत्यत्र बहुलवचनात् सम्प्रसारणम्। आद्येऽर्थे निर्निश्चलत्वमाह नानवस्थानम् उत्तरत्र धात्वर्थमनुवर्त्तते निः। वैयाकरण-पक्षेण तु निरुपसृष्टादर्त्तेः क्तिनि निर्ऋतिः निःक्रान्तात्स्नेर्गमनात् निश्चलवद्वतिष्ठते इत्यर्थः। "बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश (ऋ० सं० १, १६४, ३२)"—"अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थे (ऋ० सं० १०, ९५, १४)"—इति च निगमौ॥

(१७) भूः। भू सत्तायां (भ्वा० प०) सम्पदादित्वात् भावे क्विप् (३, ३, ९४ वा०)। भवत्यस्यां सर्वमिति भूः। "मूर्द्धा भुवो भवति नक्तमग्निः (ऋ० सं० १०,८८, ६)"—इति निगमः। रेफान्तं व्यत्ययम्, यथा—"भूर्भुवः स्वः (य० वा० सं० ३६,३)"—इति॥

(१८) भूमिः। 'भुवः किम् (उ० ४, ४५)'—इति भवतेः मिप्रत्ययः। अर्थः पूर्ववत्। अथवा 'भूतेऽपि दृश्यन्ते (३, ३, २)'

—इति वचनात् भूते मिप्रत्ययः। 'अभूतभूमिस्तथा अभूद्वा इदमिति तद् भूम्यै भूमित्वम्'—इति श्रुतिः। "न्यङ्ङुत्तानामन्वेति भूमिम् (ऋ० सं० १०, २७, १३)"—"भूमिर्भूमिमगात्"—इति च निगमौ॥

(१९) पूषा। 'पुष पुष्टौ (भू० दि० क्रया० प०)। 'श्वन्नुक्षन्पूषन् (उ० १, १५५)'—इत्यादिना कनिन्-प्रत्ययान्तो निपात्यते, निपातनादुपधाया दीर्घः। 'पुष्यति धान्यादिभिः समृद्धा भवति पोषयति वान्नैः प्रजाः। 'सर्वार्थपोषणात् पूषा' इति भट्टभास्करमिश्रः। तथा 'पृथिवी न्यवर्त्तयत् सौषधीभिर्वनस्पतिभिरपुष्यत्' इति श्रुतिः। यद्वा : 'पुष धारणे (चु० प०)'—इति धातुः। धारयति सर्वाणि भूतानि पोषयत्याभरणानीति यथा। "आ पूषञ्चित्रबर्हिषम् (ऋ० सं० १, २३, १३)"—इत्यत्र माधवः —'पूषा पोषयतीति तस्य प्रत्यक्षं रूपम्'। "पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्य (ऋ० सं० १०, ८५, २६)"—इति, "सम्मत्यै पृष्णेऽग्नये स्वाहा (य० वा० सं० ४, ७)"—इति निगमः॥

(२०) गातुः। 'गाङ् स्तुतौ' छन्दसि जुहोत्यादिः (भू० प०), 'गाङ् गतौ (भू० आ०)', 'कै गै शब्दे' भ्वादिः (प०)। 'कमि-मनि-जनि-भा-भा-या-हिभ्यश्च (उ० १, ७१)'—इति तु-प्रत्ययः। गीयते स्तूयतेऽसौ, स्तुवन्ति वास्यां स्थिता इन्द्रादीन्, गच्छन्त्यस्यां भूतानीति वा, गायन्ति वास्यां स्थिता गायना इति। यद्वा, गम्यतेऽनेनेति गातुर्मार्गः, 'लुगकारेकाररेफाश्चेति वक्तव्यम् (४, ४, १२८ वा० २)'—इति मत्वर्थीयस्य लुक्। गातुः मार्गवती हि भूमिः।

"इन्द्राय गातुरुशतीव येमे (ऋ० सं० ५, ३३, १०)"–"अदर्शि गातु रुरवे वरीयसी (ऋ० सं० १, १३६, २)"–इति निगमौ ॥

(२१) गोत्रा। 'गुङ् अव्यक्ते शब्दे (भू० आ०)'। 'गु-धृ-वी-पचि-वचि-यमि-[मनि-तनि] सदि-क्षदिभ्यस्त्रः (उ० ४, १६२)' —इति त्रप्रत्ययः। गुणः। मृगपक्ष्यादयोऽस्यामव्यक्तशब्दं कुर्वन्तीति गोत्रा। यद्वा ; गोत्राः शैलाः सन्त्यस्याम् अर्शआदित्वात् (५, २, १२७) अच्। यद्वा; गोशब्दे कर्मण्युपपदे 'त्रैङ् पालने (भू० आ०)'—इत्यस्मात् 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)'। टाप् (४, १, ४)। गास्त्रायते रक्षति यवसोदकवत्तया। यद्वा, गोभिरा-दित्यकिरणैर्वृष्टिप्रदानेन त्रायते रक्ष्यते इति, 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'–इति कर्मणि 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)'। यद्वा, गोशब्दात् 'तस्य समूहः (४, २, ३७)'—इत्यस्मिन्नधिकारे 'खल-गो-रथात् (४, २, ५०)' इत्यनुवृत्तौ 'इनि-त्र-कट्यचश्च (४, २, ५१)'- इति त्र-प्रत्ययः। गोत्रा, गवां समूहो मत्वर्थी-योऽकारः। गोसमूहोऽस्यामस्तीति गोत्रा। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

इत्येकविंशतिः पृथिवी-नामधेयानि ॥ "उपह्वये मे वरुणो मेधिराय (ऋ० सं० ७, ८७, ४)" इत्यत्र माधवः "उपह्वये मह्यं वरुणो मेधाविने" इति स त्वेकविंशतिनामानि काचित् गौर्बिभर्तीति पृथिवीमाह तस्या हि यास्कपठितानि एकविंशतिर्नामानीति ॥ १ ॥

हेम (१)। चन्द्रम् (२)। रुक्मम् (३)। अयः (४)। हिरण्यम् (५)। पेशः (६)। कृश-

नम् (७) । लोहम् (८) । कनकम् (९) । काञ्च-नम् (१०) । भर्म (११) । अमृतम् (१२) । मरुत् (१३) । दत्रम् (१४) । जातरूपम् (१५) । इति पञ्चदश हिरण्यनामानि ॥ २ ॥

(१) हेम । 'हि गतौ वृद्धौ च (स्वा० प०)' अस्माद्धातोः 'नामन्-सोमन्-व्योमन्-हेमन्-रोमन्-लोमन्-व्योमन्-धिधर्मन् पाप्मन् (उ० ४, १५०)'—इति मनिन्नन्तं निपात्यते। हिनोति गच्छति अनेन सुखं पुरुषः, गम्यते वा तदर्थिभिः, गच्छति वा स्वयं कटकादिरूपां विकृतिम्, हिनोति वाणिज्यादिना प्रतिदिनं वर्द्धते। 'ताम्रस्योपरि लेपनाद् वर्द्धते'—इति सुबोधिनी। अथवा हितमापदि निहितं वा भूम्यादौ दधातेर्हिरादेशो निपातनात्। हेम। "अश्व्य प्रेणा हेमना पूयमानः (ऋ० सं० ६, ६७, १)"—"अश्वो न स्वे दम आ हेम्यावान् (ऋ० सं० ४, २, ८)"—इति च निगमौ। हेम्यावान—हिरण्मयकक्ष्यया युक्तः ॥

(२) चन्द्रम्। 'चदि आह्लादने दीप्तौ च (भू० प०)' अस्मात् 'स्फायि-तञ्चि-वञ्चि-शकि-क्षिपि-क्षुदि (उ० २, १२)'—इत्या-दिना रक्। चन्दयति, आह्लादयति तद्वत् दीप्यते वा स्वयं तैजसत्वात्। यद्वा, णिजन्ताच्चदेर्बाहुलकात् णिलोपः, दीपयति धारयितॄन्—दीप्यतेऽनेन धारयितेति वा। कान्त्यर्थो वा चदिः, 'चन्द्रः चन्दतेः कान्तिकर्मणः (निरु० ११, ५)'—इत्युक्तेः। काम्यते

सर्वैः इति चन्द्रम्। "ये यज्वश्चन्द्रं वहन्तु (ऋ० सं० १०,८५,३१)" —"दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम् (ऋ० सं० १०, १०७, ७)" —इति च निगमौ॥

(३) रुक्मम्। 'रुच दीप्तौ (भ्वा० आ०)' 'युजि-रुचि-तिजां कुश्च (उ० १, १४३)'—इति मक्प्रत्ययः कुत्वं च। रोचते तद् तिशयेन दीप्यते तेन तदिति च रुक्मम्। "आ रुक्मैरायुधा नरः (ऋ० सं० ५, ५२, ६)"—"एष रुक्मिभिरीयते (ऋ० सं० ६, १५, ५)"—इति च निगमौ॥

(४) अयः। 'इण् गतौ (अदा० प०)'। असुन् (उ० ४,१८८)। एति गच्छति अंगुलीयकादिरूपेण शरीरम्, क्रयविक्रय-संविभागा-दिना वा। पुरुषात्पुरुषान्तरं गच्छत्यनेन धर्मदानादिनेति वा। "अयः दीर्घा मद्दे रघुः (ऋ० सं० ८,१०१,३)"—इति निगमः॥

(५) हिरण्यम्। 'हृञ् हरणे (भ्वा० उ०)' अस्मात् 'हर्यतेः कन्यन् हिर् च (उ० ५, ४५)'—इति विधीयमानः कन्यन्-प्रत्ययो हिरादेशश्च बाहुलकाद् भवतः। तथाच अन्यथित्यधिकृत्य 'हृञ इश'-इति भोजसूत्रम्। ह्रियते जनाज्जनमिति वा संव्यवहारार्थम्, द्रव्यस्वभावत्वात् नैकत्रावस्थायित्वं तस्य। अथवा हिधातुजं रूपम्,—हिनोतेः रमतेश्च धातुद्वयात् समुदितात् कन्यनप्रत्ययो बाहुलकात्प्रसिद्धिश्च, हिनश्च तत् आपदि दुर्भिक्षादौ, रमयति च सर्वदा सर्वमिति। अथवा हर्यतेः प्रेप्साकर्मणः (निरु० २, १०),— हर्यतेः कन्यन् हिरश्च हियतेर्वाघातात् रूपम्। सर्वैर्हि तत् सर्वथा प्राप्तुमिष्यते। 'हर्यति स्वप्रभया दीप्यते'—इति सुबोधिनीकारः।

"हिरण्यरूपः स हिरण्यसन्दृग् (ऋ० सं० २, ३५, १०)"—इति निगमः ॥

(६) पेशः। 'पिश गतौ (चु० प०)'। असुन्। अय इत्यनेन समानार्थम्। "त्रिवन्धुरेण त्रिवृता सुपेशसा (ऋ० सं० १, ४७, २)"—इति निगमः। "हिरण्ययेन रथेन (ऋ० सं० ८, ५, ३५)"—हिरण्ययी वां रभिः (ऋ० सं० ८, ५, २८)"—इत्यादौ अश्विनोरथस्य हिरण्यकेश्युवतेः पेशोऽत्र हिरण्यम्। बृहदारण्यके—'तद्यथा पेशस्कारी पेशसोमात्रा मपादायान्यं नवतरं कल्याणतरँ रूपं तनुते (४ ४, ४)'—इति। यथा। वाजसनेयके "सरस्वती मनसा पेशलम् (१६, ८३)" —इत्यत्र 'पेश इति हिरण्यनाम रूपनाम वा, इत्युवटेन व्याख्यातम् ॥

(७) कृशनम्। 'कृश तनूकरणे (दि० प०)'। 'कॄ-पॄ-वृजि-मन्दि-नि-धाञ्भ्यः क्युः (उ० २, ८६)'—इति विधीयमानः क्युर्बाहुलकाद् भवति। कृश्यति तनूकरोति यम्। अत्र माधवस्तु- 'कृशिर्दीप्त्यर्थः। कृश्यति स्वप्रभया दीप्यते, अपि वा कर्शयति संस्पर्शं, कृशमेव वा भवति संस्थानतो रजतात्'—इति। "स्मद्दिष्टयः कृशनिनो निरेके (ऋ० सं० ७, १८, २३)" —"अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वम् (ऋ० सं० १०, ६८, ११)"—"अभिवृतं कृशनैर्विश्वरूपम् (ऋ० सं० १, ३५, ४)"— इति निगमाः ॥

(८) लोहम्। 'लुह कत्थनादौ (भू० प०)'। घञ् (३, ३, २१)। कत्थ्यते श्लाघ्यतेऽनेनात्मा,—त्रिवर्गसाधनत्वात् पुरुषैः सम्प्रार्थ्यते

वा। 'ह्रो ह:'—इति तु श्रीभोजदेवः। लुनाति छिनत्ति पापसम्बन्धं पात्रे दीयमानम्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(९) कनकम्। 'कनी दीप्तिकान्तिगतिषु (भ्वा० प०)'। "वुञादिभ्यः संज्ञायाम् (उ० ५, ३६)"—इति वुन्-प्रत्ययो धात्वर्थेष्वपि। रुक्मादिवदर्थोऽनुसन्धेयः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१०) काञ्चनम्। अत्र सुबोधिनी—'कचि दीप्तिबन्धनयोः (भ्वा० आ०)'। कञ्चते वर्णेन दीप्यते बध्यते कुण्डलादिरूपेणेति। 'युच् बहुलम् (३, ३, १३०)'—इति युच्प्रत्ययः। दीर्घोऽत्र बाहुलकात्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(११) भर्म। 'डु भृञ् धारणपोषणयोः (जु० उ०)'। मनिन् (३,२,७५)। ध्रियते धार्यते, अङ्गुल्यादिभिर्धार्यते आपदर्थमिति वा, पोषयत्यनेन कुटुम्बमिति वा। हन्तेर्वा (भ्वा० उ०) मनिनि 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि (सि० कौ० वै० ३३४)'—इति भकारः। हिरण्येन हरति - धातुजेन समानार्थम्। "सुवीराभिस्तिरते वाजभर्मभिः (ऋ० मं०, ८, १६, ३०)"—"अरिष्टभर्माग्रहि (ऋ० मं० ८, १८, २)"—इति च निगमौ। 'वाजभर्मभिः', 'अरिष्टभर्मन्'—इत्यत्र माधवस्तु 'भरणीयं भर्म' इति व्याख्यत्, तदा निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१२) अमृतम्। नञ्पूर्वात् म्रियतेः (तु० आ०) 'तनिमृङ्भ्यां किच्च (उ० ३, ८८)'—तन्प्रत्यये रूपम्। न म्रियतेऽनेन दुर्भिक्षादौ, नास्ति मृतं मरणमस्येति वा, न हि हिरण्यस्य यस्यां कस्याञ्चिदवस्थायामात्मनाशो विद्यते। 'अग्नेः प्रजातं परि

यद्धिरण्यममृतं दध्रे अधि मर्त्येषु (अथ० सं० १६, २६, १)'—इति खैलिको मन्त्रः। न म्रियते पात्रे प्रतिपादितेन ध्रियमाणेन वा आयुष्करत्वात्। 'आयुर्वै हिरण्यम्'—इति श्रुतिः। तथाच खैलिको मन्त्रः—'यो बिभर्त्ति दाक्षायण ँ हिरण्य ँ स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः (य० वा० सं० ३४ ५१)'—इति। "मद्या चक्राणो अमृतानि विश्वा (ऋ० सं० १, ७२, १)"—"शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन (य० वा० सं० ४, २६)"—इति निगमौ।

(१३) मरुत्। मितममितं वा रोचते, मितममितं वा रोचयति, मातेः पूर्वार्द्धं, रौतेर्वोत्तरार्द्धम्, पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) साधुः। हिरण्यं हि अग्न्यादि-तेजस्वि-पदार्थेभ्यो मितं भोगादिभ्योऽमितं रोचते, अर्थिभ्यो दीयमानं लोकद्वयेऽपि कीर्त्तिं कारयति। तथाच सुभाषितश्लोकः—'शृणु पाणे! त्वयि न्यस्तं कियत्काणादि कङ्कणम्। इदमेवार्थिहस्तस्थं राजयति न रोचते'। यद्वा, मृङो रुतिः,—म्रियतेर्धातोः (तु० आ०) रुतिप्रत्यये रूपम्। म्रियन्तेऽनेन पुरुषा इति मरुत्,—एतदर्थं हि चौरादिभिः पुरुषाः हन्यन्ते। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१४) दत्रम्। 'डु दाञ् दाने (जु० उ०)'। 'अमिचिमि-मिदि-शंसिभ्यः क्त्रः (उ० ४, १५६)'—इति विधीयमानः क्त्रो बाहुलकात् (३, ३, १) भवति। 'दो दद्घोः (७, ४, ४६)'—इति दद्भावः। दीयते पात्रे दत्रम्। "इन्द्र! यत्ते माहिनं दत्रमस्त्य० (ऋ० सं० ३, ३६, ६)"—इति निगमः॥

(१५) जातरूपम्। 'जनी प्रादुर्भावे (दि० आ०)'। निष्ठातकारः। "जनसनखनाम् (६, ४, ४२)"-इत्यात्वम्। जातः। "रुच दीप्तौ (भू० आ०)। 'खष्प-शिल्प-शष्प-वाष्प-रूप-पर्पतल्पाः (उ० ३, २६)'—इति पप्रत्ययान्तो निपातितः, निपातनादुकारस्य दीर्घश्चकारलोपश्च। रोचते रूपम्। अनाहार्यतया जातं रूपमस्य जातरूपम्। तथाच रामायणे स्कन्दोत्पत्तौ—'इह हैमवते भागे गर्भोऽयं सन्निवेश्यताम्'—इत्यतः 'परिनिक्षिप्तमाने गर्भे तु तेजोभिरभिरञ्जितम्। सर्वं पर्वतसम्बद्धं सौवर्णमभवद्वनम्। जातरूपमिति ख्यातं तदा प्रभृति राघव! सुवर्णं पुरुषव्याघ्र! हुताशनसमप्रभम्'—इति (उ० का०)। जातं रूपं सौन्दर्यमनेन धारयितॄणामिति वा जातरूपम्। "जातरूपमयेन च पवित्रेणान्तर्धायाभ्यषिञ्चति (ऐ० ब्रा० ८, १८)"—इति निगमः॥

इति पञ्चदश हिरण्यनामानि।

अम्बरम् (१)। वियत् (२)। व्योम (३)। बर्हिः (४)। धन्व (५)। अन्तरिक्षम् (६)। आकाशम् (७)। आपः (८)। पृथिवी (९)। भूः (१०)। स्वयम्भूः (११)। अध्वा (१२)। पुष्करम् (१३)। सगरः (१४)। समुद्रः (१५)। अध्वरम् (१६)। इति षोडशान्तरिक्षनामानि॥३॥

(१) अम्बरम्। 'अबिड् शब्दे (भू० आ०)'। 'कृदरादयश्च (उ० ५, ४२)'—इति अरच्प्रत्ययान्तो निपात्यते। अम्बन्ते शब्दायन्तेऽस्मिन् मेघाः, अम्बते शब्दायते वा स्वयं वायु-मेघादिसंसर्गात्,—आकाशगुणो हि शब्दः। अथवा अमतेर्धातोः 'अर्जिदृशिकम्यमिपसिबाधामृजिपशितुक्धुक्दीर्घहकाराश्च (उ० १, २६)'—इति अमतेर्विधीयमान उप्रत्ययो बुगागमश्च बाहुलकात् (३, ३, १) भवति, तस्मिन्, गुणे, र-परत्वे च रेफस्य मकारश्च, अम्बु। अमतेरेव वा तेनैव सूत्रेण उप्रत्ययो बुगागमश्च। उभयत्रापि गच्छति देशाद्देशान्तरं गम्यते वा प्राणिभिरित्यम्बु जलम्। तद्राति ददातीत्यम्बरो मेघः। 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)', पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) उकारस्याकारः। तद्वदाकाशमप्यम्बरम्। 'लुगकारेकाररेफाश्च वक्तव्याः (५, ४, १२८ वा० २)'—इति मत्वर्थीयस्य लुक्। तदेव वा वर्षासु प्राणिभ्य उदकं ददातीति अम्बरम्। अथवा अम्बुशब्दे उपपदे राजतेर्धातोः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति दृशिग्रहणात् डः, अपिशब्दस्य सर्वोपाधिव्यभिचारार्थत्वादर्थसिद्धिः। अथवा अम्बुवद्राजते स्वस्वस्तिमितसाराम्बुवदवभासते। कल्पितोपमानञ्चैतत्, तद्यथा 'पुञ्जीकृतमिव ध्वान्तं मेघो भाति मतङ्गजः। सरः शरत्प्रसन्नाम्भो नभः खण्डमिवोज्झितम्॥' परमार्थतः स्वरूपमवकाशः। अथवा अम्बुमत् भवति रो मत्वर्थीयः, पूर्ववदुकारस्याकारः,अन्तरिक्षं हि वर्षोदकेन तद्वत्। "यथासत्या पराबति यद्वाम्यो अध्यम्बरे (ऋ० सं० ८, ८, १४)"—इति निगमः॥

(२) वियत्। 'यमु उपरमे (भू० प०)'—इत्यस्मात् औणादिके क्विपि 'गमः क्वौ (६, ४, ४०)'—'गमादीनामिति वक्तव्यम् (६, ४, ४० वा०)'—इत्युक्तेरनुनासिकलोपः। 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (६, १, ७१)'। विगतं यमनमुपरमणमस्मादिति वियत्,—अन्तरिक्षं हि सर्वत्र व्याप्तत्वात् न कुत्रचित् उपरतम्। 'वियच्छति न विरमति'—इति क्षीरस्वामी। यद्वा, विपूर्वात् 'यती प्रयत्ने (भू० आ०)'—इत्यस्मात् क्विप्। विविधं यतन्तेऽस्मिन् प्राणिनः,—आकाशे हि सर्वे व्याप्रियन्ते। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(३) व्योम। विपूर्वादवतेर्व्याप्त्यर्थत्वात् (भू० प०) औणादिके 'सर्वधातुभ्यो मनिन् (उ० ४, १४४)'—इति सूत्रेण मनिन्प्रत्यये 'ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च (६, ४, २०)'—इत्यूठि गुणः। व्यवति व्याप्नोति सर्वं जगत्। यद्वा, अवतिर्गत्यर्थः (भू० प०) भावे मनिन् (उ० १, १३६),—ओम्, अवनं गमनं विविधमस्मिन् विद्यते। यद्वा, रक्षणार्थः (भू० आ०),—विशेषेणावति प्राणिनोऽवकाशप्रदानेन। उणादौ तु 'नामन्सीमन्व्योमन् (उ० ४, १५०)'—इत्यादिना 'व्येञ् संवरणे (भू० उ०)'—इत्यस्मान्मनिनि उत्वं निपात्यते। वीयते तद्वायुना व्योम। तथाच निरुक्तम्-'योनिरन्तरिक्षं महानव्ययः परिवीतो वायुना (११, ४०)'—इति। इदं निर्वचनमेतत्पदकारयोः शाकल्यात्रेययोरनभिमतं योऽस्मिन्नवगृहीतत्वात्। "सहस्राक्षरा परमे व्योमन् (ऋ० मं० १, १६४, ४१)"—"मरुतामाशिरं पूर्व्ये व्योमनि (ऋ० मं० ६, ७०, १)"—इति च निगमौ॥

(४) 'बृर्हिः। बृहि वृद्धौ (भू० प०)' 'बृंहेर्नलोपश्च (उ० २, १०२)"—इति इसि प्रत्ययः। "बृंहति वर्द्धतेऽनेन प्राणिजातम्,'—सर्वे हि प्राणिन आकाशे वर्द्धन्ते,] परिवृद्धं वा स्वयं विभुत्वात्। "यस्य त्रिधात्ववृतं बर्हिः (ऋ० सं० ८, १०२, १४)"—इति निगम ॥

(५) धन्व। 'इवि रिवि धवि गत्यर्थाः (भू० प०)'। इदित्वान्नुम् (७, १, ५८)। "कनिन्युवृषितक्षिराजिधन्विद्यु प्रतिदिवः (उ० १, १५४),—इति कनिन्। धन्वन्ति गच्छन्ति अस्मादापः। यद्वा, 'धनधान्ये (दि० आ०)', अनेकार्थत्वादर्थनार्थः। कनिप्। धन्यते अर्थ्यतेऽवकाशप्रदानाय, देवतात्वात् स्वं स्वमभीष्टं वा। "यः परस्याः परावतस्तिरोधन्वातिरोचते (ऋ० सं० १०, १८७, २)—इति निगमः ॥

(६) अन्तरिक्षम्। 'अन्तरिक्षं कस्मात्? (निरु० २, १०)'—इत्यादि भाष्यस्य स्कन्दस्वामिग्रन्थो यथादृष्टं लिख्यते—'अन्तरा मध्ये सर्वभूतानां क्षान्तं शान्तं निःक्रियं वा शान्तमव्यूहं विष्कम्भस्थानात्मकत्वात्। अन्तरा इमे रोदस्यौ क्षियतीति वा। अन्तरेमे क्षोण्याविति वा। पयमनेकविकल्पमुत्तरपरम्। पूर्वशरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा, अन्तः-शब्दात् पूर्वपदमक्षय-शब्दादुत्तरपदं विनाशिष्वपि अविनाशीत्यर्थः'—इति। सर्वत्र पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) साधु। "न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व नान्तरिक्षम् (ऋ० सं० १०, ८९, ६)"—इति निगमः ॥

(७) आकाशम्। आङ्पूर्वात् 'काशृदीप्तौ (दि० आ०)'—इत्यस्मात् 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (३, ३, ११८)'—इति घप्रत्ययः। आ समन्तात् काशन्ते दीप्यन्ते सूर्यादयोऽत्र। यद्वा नञ्पूर्वात् काशेः पचाद्यच् (३, १, १३४), नञश्छान्दसः (६, ३, १३६) दीर्घः। न काशते, पृथिव्यादिवत् अप्रत्यक्षत्वात्। तथा च श्रुतिः—"तिस्रो महीरुपरास्तस्थुरत्या गुहा द्वे निहिते दर्श्येका (ऋ० सं० ३, ५६, २)"—इति। 'तस्मान्नान्तरिक्षं पश्यति'—इति च "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः (तै० उ० २, १)"—इति निगमः॥

(८) आपः। 'आप्ऌ व्याप्तौ (भू० प०)'। 'आप्नोतेर्ह्रस्वश्च (उ० २, ५५)'—इति क्विप्प्रत्ययः उपधाह्रस्वश्च। जसि 'अप्तृन्तृच्स्वसृ (६, ४, ११)'—इत्यादिना दीर्घः। व्याप्नोति ह्यन्तरिक्षं सर्वं जगत्, आप्यते वा प्राणिभिः। अप्शब्दस्य नित्यं बहुवचनान्तत्वात् बहुवचनान्तस्य पाठः। * * *। "तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रम् (ऋ० सं० १०, ४५)"—इति निगमः॥

(९) पृथिवी। 'प्रथ प्रख्याने (भू० आ०)'। 'प्रथेः षिवन् सम्प्रसारणं च (उ० १, ५०)'। 'षिद्गौरादिभ्यश्च (४, १, ४१)'—इति ङीप्। प्रथते पृथिवी। "यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य राजा (ऋ० सं० २, १४, ११)"—"स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् (ऋ० सं० १०, १२१, १)—इति च निगमौ॥

(१०) भूः। भवतेः (भू० प०) क्विप्। भवत्यस्मात् सृष्ट्यादिः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(११) स्वयम्भूः। स्वयं भवति न केनचित् सृज्यते, केषाञ्चिद् वादिनां पक्षे नित्यं ह्याकाशम्। स्वयम्भित्युकारान्तं केषुचित्। तदा 'मृगय्वादित्वात् (उ० १, ३६)' कुः। निगमस्यादर्शनात् उभयमपि लिखितम्, निगमदर्शनान्निर्णयः कार्यः॥

(१२) अध्वा। 'अद भक्षणे (अदा० प०)'। 'अदेर्ध च (उ० ४, ११२)'—इति वनिप् धकारश्चान्तादेशः। अदनं स्वस्तिगच्छतां पश्वादीनां विषमस्थानाभावात्। यद्वा, अधिर्गत्यर्थः कश्चिद् धातुः, बाहुलकात् पूर्वेण वनिप्, गच्छन्त्यस्मिन् देवादय इत्यध्वा। 'अधेर्गतिक्रियात्'—इति माधवः। यद्वा, अध्वा मार्गोऽस्मिन् विद्यते 'मत्वर्थीयस्य लुक्'—सन्ति ह्याकाशे मेघपथादयः। 'अतेर्धश्च'—इति भोजसूत्रम्। 'अत सातत्यगमने (भ्वा० प०)'। सततं गच्छन्त्यत्र सूर्यादय इत्यध्वा। "भूमा रेजन्ते अध्वनि प्रविक्ते (ऋ० सं० ६, ५०, ५)"—"अममने अध्वनि वृजिने पथि (ऋ० सं० ६, ४७, १३)"—इति निगमौ॥

(१३) पुष्करम्। 'पुष पुष्टौ (स्वा०प०)'। 'पुषः कित् (उ० ४, ४)'—इति करन्प्रत्ययः। पुषिरत्रान्तर्णीतण्यर्थः, पोषयति भूतानि अवकाशप्रदानेन उदकदानाद्युपकारेण च। 'पुष्कं वारि राति पुष्करम्'—इति क्षीरस्वामी। पुषेरन्तर्णीतण्यर्थात् 'सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कित्'—इति विहितः करन्प्रत्ययो बाहुलकाद् भवति। 'हृदृहलसूर्वीचीपुषिमुषिमूङ्शूभ्यः किन्'—इति करः श्रीभोजदेवः। 'पोषयति भूतानीति।' पुष्कोपपदाद्रातेः 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)'। यद्वा, वपुरित्युदकनाम (निघ०-१,१२);—

तत्कर्त्तुं शीलमस्येति 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु (३, २, २०)' —इति टः, पपुष्करं सद् पकारलोपेन पुष्करम्, पृषोदरादिः। "विश्वे देवाः पुष्करे त्वादृन्त (ऋ० सं० ७, ३३, ११)"—इति निगमः॥

(१४) सगरः। सहशब्दपूर्वात् 'गॄ निगरणे (तु० प०)'— इत्यस्मात् 'ऋदोरप् (३, ३, ५७)', सहस्य सभावः (६, ३, ७८)। सह गिरन्त्यस्मिन् स्थिता आदित्यरश्मयो भौमरसमिति सगरः। सह उद्गिरन्त्यस्मिन् स्थिता मेघा वर्षोदकमिति वा। यद्वा, गीर्य्यते अभ्यवह्रियते पियते इति गरः उदकम्, तेन सह वर्त्तते इति सगरः। तथाच—'रश्मयश्च देवा गरगिरः'—इत्यत्र गृ (ग)-हदेवः 'गरमुदकं गिरन्ति गरगिरः'—इति भाष्यं कृतवान्। यद्वा, 'गॄ शब्दे (क्र्या० प्वा० प०)'—इत्यादि। गीर्य्यते इति गरः शब्दः पूर्ववत्, गरेण शब्देन सह वर्त्तते इति सगरः,— आकाशो हि स्वगुणेन शब्देन सहैव सर्वदा वर्त्तते। "अपः प्रेरयं सगरस्य बुध्नात् (ऋ० सं० १०, ८९, ४)"—इति निगमः॥

(१५) समुद्रः। समुद्द्रवन्ति सङ्गता ऊर्ध्वं द्रवन्ति गच्छन्त्यस्मादापो रश्मिभिराकृष्यमाणा आदित्यमण्डलम्। समुत्पूर्वात् द्रवतेर्गत्यर्थात् 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति अपादाने डप्रत्यये टिलोपे च रूपम्। यद्वा, संहता अभिद्रवन्त्येनमापो भौमरसलक्षणा वायुना प्रेर्य्यमाणाः आदित्यमण्डलाद्वा वर्षाकाले रश्मिभिः प्रवर्त्तमानाः। अत्र उदित्येष उपसर्गोऽभीत्यर्थे वर्त्तते, कर्मणि डप्रत्यय इति विशेषः। सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि

अन्तरिक्षचारीणीति वा। सम्पूर्वात् 'मुद हर्षे (भ्वा० आ०)'—इत्यस्मात् 'स्फायितञ्चिवञ्चि (उ० २, १२)'—इत्यादिना अधिकरणे रक्प्रत्यये, समो मलोपे च रूपम्। यद्वा, 'सम्'—इत्येकीभावे, उदकात् उच्छन्दः, रो मत्वर्थीयः। एकीभूतमुदकमस्मिन् विद्यते वर्षास्विति उदकशब्दस्योदुभावश्छान्दसः। यद्वा, सम्पूर्वात् 'उन्दी क्लेदने (रु० प०)'—इत्यस्मात् 'स्फायितञ्चिवञ्चि (उ० २, १२)'—इत्यादिना कर्त्तरि रक्प्रत्यये किरवान्नलोपे च समुद्रः। समुनत्ति वर्षेण भुवनं समुद्रः। 'एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश (ऋ० सं० ८, ६, १६, ४)"—इति निगमः॥

(१६) अध्वरम्। अध्वा व्याख्यातः (४८ पृ०)। अध्वानं मार्गं राति ददाति (अदा० प०) यस्मिन् गच्छतां पक्ष्यादीनाम्। यद्वा, अध्वा मार्गो विद्यतेऽस्मिन् मेघादीनाम्। रो मत्वर्थीयः। यद्वा ध्वरतिर्हिंसाकर्मा (निघ० २, १९), तत्प्रतिषेधः। अध्वर्त्तव्यं न हिंस्यमित्यर्थः। नञ्पूर्वात् ध्वरतेः 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (३, ३, ११८)'—इति घः। "शिशू क्रीळन्तौ परि यातो अध्वरम् (ऋ० सं० ८, ३, २३, ३)"—इति निगमः। 'अध्वरं यज्ञम्'—इति स्कन्दस्वामी व्याख्याति, तदा निगमोऽन्वेषणीयः॥

इति षोडशान्तरिक्षनामानि॥ ३॥

स्वः (१)। पृश्निः (२)। नाकः (३)। गौः (४)। विष्टप् (५)। नभः (६)। इति षट् साधारणानि॥ ४॥

स्वरादीनि पदं तु भाष्यकारेण स्कन्दस्वामिना च कृतव्याख्यानानीति नास्माभिरत्रोच्यन्ते ॥ ४ ॥

खेदयः (१) । किरणाः (२) । गावः (३) । रश्मयः (४) । अभीशवः (५) । दीधितयः (६) । गभस्तयः (७) । वनम् (८) । उस्राः (९) । वसवः (१०) । मरीचिपाः (११) । मयूखा (१२) । सप्तऋषयः (१३) । साध्याः (१४) । सुपर्णाः (१५) । इति पञ्चदश रश्मिनामानि ॥ ५ ॥

खेदयः । "तेषामादितः साधारणानि पञ्चाश्वरश्मिभिः (नि २, १५)'—इत्युक्तेः पूर्वमादित्यरश्मिनामानन्तरमश्वरश्मीनाञ्च निर्वचनं प्रदर्श्यते' । 'खिद दैन्ये' दिवादिः रुधादिश्च आत्मनेपदी, "खिद परिघाते तुदादिर्मुचादिः परस्मैपदी । 'अकर्त्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम् (३, ३, १९)'—इति घञ् । खिद्यते खित्ते वाऽनया, लोको, घर्मकाले, अश्वो बन्धनकाले । यद्वा परिहन्यन्ते सर्वतो हिंस्यन्ते अनया लोक आदित्येन, अश्वो बन्धनकाले । यद्वा, अनेकार्थत्वात् धातूनां खिदिः छेदने वर्त्तते । तथाच 'खेदनं छेदनम्'—इति माधवः । अस्मात् पचाद्यचि (३, १, १३, ४) खेदति छिनत्ति नाशयति तमः । तथाहि 'दोषच्छिन्नः'—इत्यादौ छिदिर्नाशने दृष्टः; घञि छिद्यतेऽश्वोऽनयेति खेदा अश्वरश्मिः ।

तृतीयैकवचनान्तस्य पाठो यथादृष्टः। 'खेदया त्रिवृता दिवः (ऋ० सं० ६, ५; १५, ३)'—इत्यश्वरश्मेर्निगमः, आदित्यरश्मेरन्वेषणीयः ॥

(२) किरणाः। "कॄ विक्षेपे' तुदादिः (प०), 'कॄञ् हिंसायाम्' क्र्यादिः (प०)। 'कॄपॄवृजिमन्दिनिधाञ्भ्यः क्युः (उ० २, ७६)'—इति क्यु-प्रत्ययः। किरन्ति तापम्, एकत्रोष्ण्येन, इतरत्र बन्धनेन। कीर्य्यन्ते वा, आदित्येन दिङ्मुखेषु, अश्ववालेनाश्वग्रीवादिषु। यद्वा, कृण्वन्ति हिंसन्ति तमः, हिंस्यन्त एभिरश्वकिरणाः। "भिया दुल्हासः किरणा नैजन् (ऋ०सं० १, ५, ४, ६)" —इति निगमः आदित्यरश्मेः। "रेणुं रेरिहत् किरणं ददश्वान् (ऋ० सं० ३, ७, १२, १)"—इत्यश्वरश्मेः ॥

(३) गावः। व्याख्यातः पृथिवीनामसु (१, १)। गच्छन्ति सर्वतस्तमो विहन्तुं, भौमं रसं वा हर्त्तुं, गीयन्ते स्तूयन्ते स्वाभिमतसाधनाद् यजमानैरश्वपालैश्च। "यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः (ऋ० सं० २,२, २४, ६)"—"को अद्य युङ्क्ते धुरिगा ऋतस्य (१, ६, ८, १)"—आदित्यरश्मेर्निगमौ। अश्वरश्मेरन्वेषणीयः ॥

(४) रश्मयः। 'रशिर्यमनार्थो धातुः (सौ०)'। 'नियोमिः (उ० ४, ४३)'—इति विधीयमानो मिप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति। रशना रश्मिरिति कतिपतप्रयोगविषय एवायं रशिः, भरत्यादिवत्, न सर्वत्र, बन्धनप्रतीतेः। बध्नन्त्युदकमथवा बध्यते तैरुदकमश्वो वा। यद्वा, 'अशू व्याप्तौ (स्वा० आ०)'। 'अशेरश

च (उ० ४, ४६)'—इति मि-प्रत्ययो रशादेशश्च। अश्नुवते सर्वं जगत् अश्वग्रीवादि वा रश्मयः। "सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्नवो (ऋ० सं० ७, २, २२, १)"—"चिरश्मयोजना ँ अनु (ऋ० सं० १, ४, ७, ३)"—इति आदित्यरश्मेर्निगमौ। "मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः (ऋ० सं० ५, ६, २०, १)"—"ते रश्मिभिस्तत्रक्रमिः सुखादयः (ऋ० सं० १, ६, १३, ६)"—इति चाश्वरश्मेः॥

(५) अभीशवः। अभिपूर्वात् 'अशू व्याप्तौ (स्वा० आ०)'—इत्यस्मात् 'भृमृशीतॄचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः (उ० १, ७)'—इति उप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति धात्ववयवस्याकारस्येकारश्च। जम्। अभि व्याप्नुवन्ति जगदश्वग्रीवां वा। यद्वा, अभिपूर्वात् 'ईश ऐश्वर्ये (अदा० आ०)'—इत्यस्मात् पूर्ववदु-प्रत्ययः। ईष्टे सूर्यस्तमोऽपहन्तुमेभिः, अश्वपालोऽश्वं वक्तुम्। "अभीशूनां महिमानं पनायत (ऋ० सं० ५, १, २०, १)"—इत्यश्वरश्मेर्निगमः। आदित्यरश्मेरन्वेषणीयः॥

(६) दीधितयः। एतदादीन्यादित्यरश्मिनामान्येव। 'दीधिङ् दीप्तिदेवनयोः (अदा० आ०)' 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् (३, ३, १७४)'—इति क्तिचि पृषोदरादित्वादेव (६, ३, १०९) यथाकथञ्चिद्रूपसिद्धिरन्वेष्या। धीयन्ते विधीयन्ते प्रेष्यन्ते रसाहरणादिकर्मस्वादित्येन, धार्यन्ते वा वर्षार्थमुदकमेभिरादित्येन तथा। 'अथास्य कर्म रसादानं रश्मिभिश्च रसधारणम् (५, १०)'—इति निरुक्तम्। 'न वा स धृतं गर्भं भास्करस्य गभस्तिभिः। पीत्वा रसं समुद्राणां द्यौः प्रसूते रसायनम्'—

इति श्रीरामायणम्। "शुचीदयन्दीधितिमुक्थशासः (ऋ० सं० ३, ४, ११, १)"—इति निगमः। 'दीधितिं रश्मिमित्यर्थः'—इति (११, ६६) वाजसनेयभाष्यकृदुवटोऽभाषयत्॥

(७) गभस्तयः। गो-शब्दपूर्वादन्तर्णीतण्यर्थात् 'भस भक्षणदीप्त्योः (जु० प०)'—इत्यस्मात् पूर्ववत् क्तिचीड्भावे च पृषोदरादित्वात् गो-शब्दस्याकारान्तादेशः। गां भूमिञ्च भासयन्ति दीपयन्ति। यद्वा, गवि संसर्गे दीप्यते। यद्वा, बभस्तिरत्तिकर्मा (निघ० २, ८०)। गामुदकं भौमरसलक्षणं बभसति अदन्ति। यद्वा, 'भसेर्गट् च'—इति भोज-सूत्रेण तिप्रत्ययः धातोर्गडागमश्च, बभसति दीप्यन्ते इति गभस्तयः। 'गृह्णेर्गभस्तिः'—इति माधवः, तदा पूर्वसूत्रेण तिप्रत्यये धातोरसुगागमः, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि (सि० कौ० वै० ३ आ०)'—इति निर्वाहः, गृह्णन्ति भौमं रसम्। "गभस्तिपूतो नृभिरद्रिभिः सुतो (ऋ० सं० ७, ३, १८, ४)"—"वृष्णो अंशुभ्यां गभस्तिपूतः (य० वा० स० ७। १)"—इति च निगमौ॥

(८) वनम्। "वन षण सम्भक्तौ" भ्वादिः परस्मैपदी। 'पुंसि संज्ञायां घः (३, ३, ११८)'। वन्यते सेव्यते शीतादिनिवारणाय। अथवा वनतिर्हिंसार्थः (भ्वा० प०)। वन्यते हिंस्यतेऽनेन तमः। यद्वा, "वनु याचने" तनादिरात्मनेभाषा। वन्यते याच्यते वृष्टिप्रदानाय। यद्वा, 'वन शब्दे' भ्वादिः परस्मैपदी। वन्यते शब्द्यते स्तूयते स्तोतृभिः। "अबुध्ने राजा वरुणो वनस्य (ऋ० सं० १, २, १४, २)"—इति निगमः। 'वननीयस्य तेजसः'—इति माधवः॥

(९) उस्राः । 'वस निवासे (भू० प०)'। "स्फायितञ्चिवञ्चि (उ० २, १२)"—इत्यादिना रक्, अदादित्वात् सम्प्रसारणं बाहुलकात्, 'शासिवसिघसीनाञ्च (८, ३, ६०)'—इति षत्वाभावः। वसत्येषु परतेजः वसन्त्येषु रसाः इति वा। यद्वा, उत्पूर्वात् 'स्रुगतौ (भू० प०)'—इत्यस्मात् 'उपसर्गे च सञ्ज्ञायाम् (३, २, ९९)'—इति जनेर्विधीयमानो डप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति,उदोऽन्तलोपश्च। उत्स्रवन्ति यस्यो रसाः। "उस्रा इव स्वसराणि (ऋ० सं० १, १, ६, २)"—इति निगमः॥

(१०) वसवः। 'वस निवासे (भू० प०)', 'वस आच्छादने (अदा० आ०)'। 'शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च (उ० १, १०)'—इति उ-प्रत्ययः। वसन्ति लोकेषु, वसन्त्यत्र रसाः, वसत्यत्र परं तेजः, आच्छादयति वा लोकान् वृष्ट्या, विवासयति वा तमः। "बहुलमन्यत्रापि सञ्ज्ञाच्छन्दसोः (६, ४, ५१ वा०)' —इति णिलुक्। वासयितारो वा लोकानां वृष्ट्यादिप्रदानेन। "उभया अत्र वसवो रन्त देवाः (ऋ० सं० ५, ४, ६, ३)"—"सुगावो देवाः सदना अकर्म य आजग्मु,सवनमिदं जुषाणाः। जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्वस्मे धत्त वसवो वसूनि (य० वा० सं० ८, १८)"—"हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनाम् (ऋ० सं० २, ३, १६, २)"—इति च निगमाः॥

(११) मरीचिपाः। 'मृङ्प्राणत्यागे (तु० आ०)'। मृकणिभ्यामीचिः (उ० ४, ७०)'—इति ईचिः प्रत्ययः। म्रियते तमोऽस्मिन्निति मरीचिः रश्मिः। अत्र मरीचिशब्देन मरीचिमान् सूर्य उच्यते,

मत्वर्थीयस्य लुक् साहचर्य्याद् भाव्यते, मरीचिमत्सूर्य्यमंडलं पान्ति मरीचिपाः, 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)'। "देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यः (य० वा० सं० ७, ३)"—इति निगमः॥

(१२) मयूखाः। 'डु मिञ् प्रक्षेपणे (स्वा० उ०)'। अस्मात् 'मुहेः खो डयूट् च (उ० ४, २२)'—इति विधीयमानः खप्रत्ययो वाहुलकाद् भवति, डयूडागमश्च प्रत्ययस्य वाहुलकादेव। मिन्वन्ति तमः मयूखाः। खप्रत्ययाधिकारे 'मयेरूट् च'—इति श्रीभोजदेवः। मयतिर्गत्यर्थः (भू० आ०)। गच्छन्ति सर्वलोकेषु मयूखाः। "दाधर्थ पृथिवी मभितो मयूखैः(ऋ० सं० ५, ६, २४, ३)" —इमे मयूखा उपसेदुरु सदः (ऋ० सं० ८, ७, १८; २)"—इति च निगमौ॥

(१३) सप्तऋषयः। 'सप्त सृप्ता संख्या (निरु० ४, २६)'—इत्युक्तेः सृपेर्गत्यर्थात् 'सप्यशूभ्यां तुट् च (उ० १, १५५)—' इति सर्पेविधीयमानः कनिन् प्रत्ययस्तुडागमश्च वाहुलकाद् भवति ऋकारस्याकारश्च। षड्भ्यः सकाशात् सृप्ता संख्या सप्त। 'ऋष गतौ (तु० प०), अनेकार्थत्वाद्धातूनां दर्शनार्थः। 'इगुपधात् (उ० ४, ११६)'—इति इन् प्रत्ययः। ऋषयः द्रष्टारः। सप्तसंख्याकाश्च ते ऋषयो द्रष्टारश्च त्रैलोक्यस्येति सप्तऋषयः। 'ऋत्यकः (६, १, १२८)'—इति प्रकृतिभावः। "सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रम् (ऋ० सं० २, ३, १४, २)"—इत्यत्र 'सप्त आदित्यरश्मयः (४, २६)' –इति वदन्ति नैरुक्ताः। यद्वा, 'षप समवाये (भू० प०), 'सप्यशूभ्यां तुट् च (उ० १, १५५),—इति कनिन्

प्रत्ययस्तुडागमश्च। समवेताः सप्त, ऋषिरपि गत्यर्थ एव प्रत्ययः। समवेता गच्छन्ति दिङ्मुखानि सप्तर्षयः। "यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः (ऋ० सं० ८, ३, १७, २)"—"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे (य० वा० सं० ३४, ५५)"—अत्रासत ऋषयः सप्त साकम् (अथ० सं० १०, २६, ६)"—इति निगमाः॥

(१४) साध्याः। 'राध साध संसिद्धौ (स्वा० दि० प०)'। 'ऋहलोर्ण्यत् (३, १, १२४)'—इति ण्यत् प्रत्ययः, 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ४, ११३)—इति कर्त्तरि भवति। 'रसाहरणादिकं स्वव्यापारं साध्नुवन्ति संसिद्धं कुर्वन्ति—इति स्कन्दस्वामी। साध्यन्ते आराध्यन्ते साध्याः—इति क्षीरस्वामी, अत्र यथाप्राप्तो ण्यत्। "यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः (ऋ० सं० २, ३, २३, ४)"—इति निगमः॥

(१५) सुपर्णाः। सूपसृष्टात् 'पॄ पालनपूरणयोः (जु० क्र्या० प्वा० प०)—इत्यस्मात् 'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३, ६)'—इति नप्रत्ययः। 'पर्णं पततेः पृणातेः प्रीणातेः वा,—इत्यणादया-ध्यायव्युत्पत्वात् पत्-धातोः बाहुलकात् नप्रत्ययः तकारस्य रेफादेशश्च। प्रीणातेरीकारस्य अकारादेशः स च पकारात् परः। शोभनं पृणन्ति पालयन्ति जगत् शीतादिनिवारणात्, अथवा पूरयन्ति वा वृष्ट्या, शोभनं पतनं गमनमेषामिति वा, सुष्ठु प्रीणन्ति तर्पयन्ति जगत् वर्षप्रदानेनेति वा सुपर्णाः। यद्वा, सुर्मत्वर्थः, भावे च न प्रत्ययः। पतनादिमन्तः सुपर्णाः।

तथाच—'बृहद्वदेम विदथे सुवीराः (ऋ० सं० २, ६, ६, ६)'—इत्यत्र 'वीरवन्तः कल्याणवीरा वा (निरु० १, ७)'। अष्टादशाध्याये च 'सुपर्णं विप्राः (ऋ० सं० ८, ६, १६, ५)'—इत्यत्र 'पर्णवन्तं कल्याणपर्णं वा,—इति चेति सुर्मत्वर्थे बहुशो दृष्टः। "यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम् (ऋ० सं० २, ३, १८, १)"—"वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रम् (ऋ० सं० ८, ३, ४, ६)"—इति च निगमौ॥ रश्मिनां प्रायो बहुवचनान्तत्वेन दृष्टत्वात् रश्मिनामाभिप्रायेण बहुवचनान्तानि पठितानि। एवं दिङ्नामस्वपि द्रष्टव्यम्॥

इति पञ्चदश रश्मिनामानि ॥ ५ ॥

आताः (१)। आशाः (२)। उपराः (३)। आष्ठाः (४)। काष्ठाः (५)। व्योम (६)। ककुभः (७)। हरितः (८)। इत्यष्टौ दिङ्नामानि ॥६॥

(१) आताः। आङ्पूर्वादततेर्गतिकर्मणः (भू० प०) 'अकर्त्तरि च कारके (३, ३, १९)'—इति घञ् आभिमुख्येन गम्यन्ते प्राणिभिस्तं तं कार्यं प्रति। यद्वा, आङ्पूर्वात् तनोतेः 'उपसर्गे च सञ्ज्ञायाम् (३, २, ९९)'—इति जनेर्विधीयमानो डप्रत्ययो बहुलवचनाद् भवति। आतताः आताः। "अद्अन्त्याताः सुसम्भृतासः (ऋ० सं० ३, ३, ७, ६)"—"उद्रातैर्जिहते बृहद्वारो (ऋ० सं० ६, ७, २४, ५)"—इति निगमौ॥

(२) आशाः। आङ्पूर्वात् 'शद्लृ शातने (भ्० प०)—इत्ययमत्र गत्यर्थः, अनेकार्थत्वाद्धातूनाम्। पूर्ववड्डः। तं तमर्थं प्रत्यागमनात्। यद्वा, आ इत्येषोऽर्भात्यस्यार्थे वर्त्तते। 'अशू व्याप्तौ (स्वा० आ०)'—इत्यस्मात् घञि रूपम्। आशा उपदिशा भवन्त्यभ्यशनात् परस्परादिभिः संव्याप्तेः। 'आ अश्नुवते आशाः'—इति क्षीरस्वामी। अत्र पचाद्यच् (३, १, १३४)। "इन्द्र आशाभ्यस्परि (ऋ० सं० २, ८, ६, २)"—इति निगमः॥

(३) उपराः। उपरमन्ते आत्मप्राणि प्राणिनो वा स्वस्वव्यापारेभ्यः। पूर्ववत् डः। "उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन् (ऋ० सं० १, ५, २, १)"—इति निगमः। "तमस्य पृक्षमुपरासु धीमहि (ऋ० सं० २, १, १२, ५)"—इत्यत्र दिग्वाची न वेति चिन्त्यम्॥

(४) आष्ठाः। आङ्पूर्वात् तिष्ठतेः (भ्० प०) धातोर्यत्रो कविधानम्। 'स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम् (३, ३, ६६ म० भा०)'—इति कप्रत्ययः। सुषामादित्वात् (८, ३, ९८) षत्वम्। आ समन्तात् स्थीयते आभिः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(५) काष्ठाः। काष्ठा दिशो भवन्ति (निरु० २, १५)'—इत्यत्र स्कन्दस्वामी—'क्रान्त्वा सर्वमतीत्य स्थिताः आकाशवद् व्यतिरेकपक्षे। अव्यतिरेकेऽपि त एव शब्दादयः सर्वत्र सन्ति संस्थिताश्चेति। उपदिशोऽप्येवमेव। व्यतिरेकेऽपि इतरेतरापेक्षया परत्वापरत्ववत् सर्वत्र व्यवहारोऽस्तित्वमिति'। क्रान्त्वा-

शब्दात् पूर्वार्द्धं स्थिताशब्दादुत्तरार्द्धमित्यर्थः। पृषोदरादिः। वैयाकरणपक्षे तु 'काशृ दीप्तौ (भ्० आ०)'। 'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् (उ० २, २)'—इति क्थन् प्रत्ययः। 'तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च (७, २, ९)'—इति इड्भावः। काशन्ते दीप्यन्ते काष्ठाः "नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः (ऋ० सं० ४, ७, २७, १)"—इति निगमः॥

(६) व्योम। व्याख्यातमन्तरिक्षनामसु (३)। स एवार्थोऽत्रापि। परिवीता वायुना। 'पवमानो हरित आ विवेश (ऋ० सं० ६, ७, ८, ४)'—इति श्रुतिः। यद्वा, विविधमोममवनमस्मिन् विद्यत इति व्योम। 'ओमानमापोमानुषीरमृक्तम् (ऋ० सं० ४, ८, ६, २)'—इत्यत्र 'अवं वा ओमन्'—इति माधवः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(७) ककुभः। 'ककुम्नाति विस्तारयतीति ककुप्'—इति क्षीरस्वामी। 'ककुप् कुभेरुच्छ्रयार्थात् उच्छ्रिता इव हि दिशो वृक्षाग्रे पूपलभ्यमानाः'—इति माधवः। वेन प्रजापतिना विस्तारिता इति वा। सर्वत्र 'क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तु (३, २, १७८ वा०)'—इत्यत्र 'प्राक् प्रत्ययनिर्देशाद्दिष्टसिद्धिः (म० भा०)' इत्युक्तेः क्विपिपृषोदरादित्वाच्च रूपसिद्धिः। "यः ककुभो निधारयः (ऋ० सं० ६, ३, २६, ४)"—इति निगमः॥

(८) हरितः। 'हृञ् हरणे' भ्वादिः (उ०), 'हृ प्रसह्य करणे' जुहोत्यादिः (प०)। 'हृसृरुहियुषिभ्यः (हृश्याभ्यामितन्। उ०

३, ६०)'—इति इतिः। हरन्ति जहति वा आसु स्थिताश्चौरादयो धनादिकम्। 'हरन्त्यासिः'—इति क्षीरस्वामी। "पवमानो हरित आ विवेश (ऋ० सं० ६, ७, ८, ३)"—इति निगमः॥ 'वायुरेव दिशो हरित आविष्टे'—इत्युपनिषत् (ऐ० आ० २, १)॥

इत्यष्टौ दिङ्नामानि॥ ६॥

श्यावी (१)। क्षपा (२)। शर्वरी (३)। अक्तुः (४)। ऊर्म्या (५)। राम्या (६)। यम्या (७)। नम्या (८)। दोषा (९)। नक्ता (१०)। तमः (११)। रजः (१२)। असिक्नी (१३)। पयस्वती (१४)। तमस्वती (१५)! घृताची (१६)। शिरिणा (१७)। मोकी (१८) शोकी (१९)। ऊधः (२०)। पयः (२१)। हिमा (२२)। वस्त्री (२३)। इति त्रयोविंशतीरात्रिनामानि ॥ ७॥

(१) श्यावी। 'श्यैङ् गतौ (भू० आ०)'। इण्शीभ्यां वन् (उ० १, १५०)'—इति विधीयमानो वनप्रत्ययो बाहुलकात् भवति। श्यायते गच्छति स्वाश्रयमिति। श्यावो धूसरारुणो वर्णः, तमः सन्ध्यादिवन्धात् श्यावर्णा रात्रिः श्यावी, 'अन्यतो

ङीप् (४, १, ४०)। "श्यावी च यदरुषी च स्वसारौ (ऋ० सं० ३, ३, ३०, १)"—इति निगमः॥

(२) क्षपा। 'क्षप्यते सूर्यचारेण क्षपा'—इति क्षीरस्वामी। 'क्षप् प्रेरणे,' 'क्षपि क्षान्त्याम्'-इति कथादिषु पठितोऽपि बहुलमेतन्निदर्शनमित्यस्योदाहरणत्वेन धातुवृत्तौ पठ्यते। 'क्षपेः क्षपयन्ति क्षान्त्यां प्रेरणे क्षपयेत्'—इति दैवम्। 'क्षपः क्षपयतेर्निशा'—इति च माधवः। क्षपा-शब्दोऽन्तोदात्तो रात्रिनाम, आद्युदात्तस्तु क्षपणवचनः। "नृणां नर्यो नृतमः क्षपावान् (ऋ० सं० ७, ७, २२, १)"—इतिनिगमः। "त्वमिदसि क्षपावान् (ऋ० सं० ६, ५, ११, २)"—इति क्षपणवचनः॥

(३) शर्वरी। 'शॄ हिंसायाम् (क्र्या० प०)'। 'कॄगॄशॄवृञ्-चतिभ्यः ष्वरच् (उ० २, ११४)'। टिड्ढात् (४, १, १५) ङीप्। शृणाति चेष्टाम्, रात्रौ हि स्वस्वव्यापारेभ्यः उपरमन्ते प्राणिनः, शीर्यन्ते वास्यां प्राणिनो नक्तञ्चरैः। "अति ष्कन्दन्ति शर्वरीः (ऋ० सं० ४, ३, ८, ३)"—इति निगमः॥

(४) अक्तुः। 'अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु (रु० प०)'। 'पः किच्च (उ० १, ६८)'—इति विधीयमानः तुप्रत्ययः कित्वञ्च बाहुलकाद् भवति। 'पाञ्जनृभ्यः क्तुः'—इति क्तुरिति श्रीभोजदेवः। 'अनिदिताम् (६, ४, २४,)'—इति नलोपः। अज्यते सिच्यतेऽस्यामवश्यायेन जगत्, गच्छति वा प्रतिदिनम् अक्तुः। "विशामक्तोरुषसः पूर्वहूतौ (ऋ० सं० ५, ४, ६, २)"—इति निगमः॥

(५) ऊर्म्या। 'ऊर्णुञ् आच्छादने (अदा० उ०)'। 'ऊर्णोतेर्णलोपश्च (उ० १, २६)'—इति मिप्रत्ययः—इति केचित्। 'अर्त्तेरुच (उ० ४, ४४)'—इति मि-प्रत्ययः—इतिकमलनयनः। ऊर्मिः तमःसङ्घातः, आच्छादकत्वात् लोकस्य। 'तमर्हति (५, १, ६३)' 'छन्दसि च (५, १, ६७)'—इति यत् प्रत्ययः। "इन्द्राय नक्तमूर्म्याः सुवाचः (ऋ० सं० ६, ६, ३२, १)"—इति निगमः॥

(६) राम्या। 'रमु क्रीडायाम् (भू० आ०)'। अन्तर्णीतण्यर्थात् प्रोपार्थविशिष्टादस्मात् 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति बहुलवचनात् 'पोरदुपधात् (३, १, ९८)'—इति यतं बाधित्वा 'ऋहलोर्ण्यत् (३, १, १२४)' भवति, 'अचोञ्णिति (७, २, ११५)'—इति वृद्धिः। प्ररमयतिभूतानि नक्तञ्चराणि, उपरमयति दिवाचराणि स्वव्यापारेभ्यः। माधवस्तु सर्वभूतानि रमयति। तथाच कौषीतकिः—'ये वै के चानन्दा अन्ने पाने मिथुने रात्र्या एव ते सन्तता अवच्छिन्नाः क्रियन्ते, तेषां रात्रिः कारयितरः'—इति। 'अघोरामः सावित्रः (य० वा० सं० २९, ५८)"—इत्यत्र श्वेतः कृष्णोदरः'—इति भाष्यम्। 'रामश्चासौ सितेऽसिते'—इति च जयन्ती। तस्माद्रामशब्दः कृष्णपर्य्यायः। स्वाश्रये रमते रामः 'ज्वलिति कसन्तेभ्यो णः (३, १, १४०)'। 'तदर्हति (५, १, ६३)', छन्दसि च (५, १, ६७)'—इति यत्। 'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च (ऋ० सं० ४, ५, ११, १)' —इति श्रुतिः। यद्वा, रमणं रामः। भावे घञ् (३, ३, १८)। स्त्रीभिः सह क्रीडा रामः। 'तत्र साधुः (४, ४, ९८)'—इति यत्। "सद्मान उषसो राम्या अनु (ऋ० सं०

२, ५, २१, ३)"—इति' "आविर्धेना अकृणोद्राम्याणाम् (ऋ० सं० ३, २, १५, ३)"—इति च निगमौ ॥।

(७) यम्या। 'यम उपरमे (भू० प०)'। अघ्न्यादयश्च (उ० ४, १०८),—इति यक्प्रत्ययान्तो निपात्यते। उपरमयति प्राणिनां चेष्टाः। अथवा 'गदमदचरयमश्चानुपसर्गे (३, १, १००)'—इति यत् कर्त्तरि बाहुलकेन। यद्वा, यमनीया उपरमयितव्या आदित्य-चारेणेति यथाप्राप्तो यत्। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(८) नम्या। (९) दोषा। (१०) नक्ता। (११) तमः। (१२) रजः। (१३) असिक्नी ॥

(१४) पयस्वती। पयोऽस्या अस्तीति। 'अस्मायामेधास्रजो विनिः (५, २, १२१)'। 'बहुलं छन्दसि (५, २, १२२)'—इत्युक्ते-र्मतुपि वत्वे च 'उगितश्च (४, १, ६)'—इति ङीप्। 'तसौ मत्वर्थे (१, ४, १९)'—इति भसञ्ज्ञाविधानात् रुत्वं न भवति। निगमोऽ-न्वेषणीयः ॥

(१५) तमस्वती। ताम्यन्त्यनेनेति (दि० प०) तमोऽन्धकारं तेन तद्वती। पूर्ववत् प्रक्रिया। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१६) घृताची। 'घृ क्षरणदीप्त्योः (चु० प०)' 'गृ घृ सेचने (भू० प०)'। 'अग्निगृपिभ्यः क्तः (उ० ३, ८९)'—सेचयत्यनेन भूमिं पर्जन्यः, क्षरति मेघान् दीप्तं वा स्वेन तेजसा देवतात्वादिति घृतमत्रावश्यायलक्षणं जलम्, तदञ्चति। ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगु-ष्णिगञ्चु युजिक्रुञ्चां च (३, २, ५९)'— इति अञ्चतेर्गत्यर्थात् (भू० प०) क्विनि 'अनिदिताम् (६, ४, २४)"—इति नलोपे, 'अचः

(६, ४, १३८)'—इत्यकारलोपे, 'चौ (६, ३, १३८)'—इति दीर्घे, 'अश्वतेश्चोपसङ्ख्यानम् (४, १, ६ वा०)'—इति ङीप्, घृताचीति। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१७) शिरिणा। शीङः (अदा० आ०) अन्तर्णीतण्यर्थात् 'बहुलमन्यत्रापि (उ० २, ४६)'—इति इनच्प्रत्यये रुडागमोधातोर्ह्रस्वश्च। शाययति प्राणिनः शिरिणा। शायये न्निशेति माधवः। "शिरिणायां चिदक्तुनामहोभिः (ऋ० सं० २, ६, २, ३)"—इति निगमः ॥

(१८) मोकी। 'मुचॢ मोक्षणे (तु० उ०)'। 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४),—इति इनि बाहुलकात् कुत्वम्। 'कृदिकारादक्तिनः (४, १, ४५ वा०)' इति ङीप्। मुञ्चत्यस्यामवश्यायं मध्यमः, मुञ्चन्ति प्राणिनः स्वस्वव्यापारान् मोक्। तदस्यामस्तीति 'छन्दसीवनिपौ च (५, २, १२२ वा०),—इति मत्वर्थीय ईकारप्रत्ययः, व्यत्ययेन (३, १, ८५)' हल्ङ्यादिलोपः (६, १, ६८)। "अनुव्रतं सवितुर्मोक्यागात् (ऋ० सं० २,८, २,३)" —इति निगमः ॥

(१९) शोकी। 'शुच् शोके (भ्वा० प०)', ज्वलतिकर्मा (निघ० १, १७) वा। पूर्ववत् प्रक्रिया। शोचन्त्यस्यां विरहिणः, शोकस्तेजोऽस्या अस्तीति वा, 'अग्निना वै तेजसा रात्रिस्तेजस्वती'—इति ब्राह्मणम्। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२०) ऊधः। रात्रिनाम-निर्वचनार्थप्रसिद्धं तावदुच्यते। गोरूध उद्धततरं भवति प्रसवकाले अङ्गान्तरेभ्य उच्छ्रिततरं

भवति। यद्वा, उपोन्नद्धमुपरि सृष्टमूर्ध्वमिव केनचित्। तत् स्नेहं रसानुप्रदानसामान्याद् रात्रिरूधूध उच्यते। यद्वा, 'उन्दी क्लेदने (रु० प०)'। असुनि (उ० ४, १८४), बाहुलकान्नलोपे दकारस्य धत्वे दीर्घे च रूपम्। उनत्त्यवश्यायेन भूतानि। उनस्यूधः'—इति क्षीरस्वामी। "यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि (ऋ० सं० ४, २, ३,३)"—"ऊधर्न नग्ना जरन्ते (ऋ० सं० ५, ७, १६, १२)"—इति च निगमौ। ऊधनीत्यत्र छान्दसत्वादनङ् (५, ४, १३१,—१४२)॥

(२१) पयः। व्याख्यातं पयस्वतीत्यत्र, मत्वर्थीयस्य लुक्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२२) हिमा। 'हन्तेर्हि च (उ० १, १४४)'-इति मक्प्रत्ययो हिरादेशश्च। हन्ति (अदा० प०) पद्मानीति हिमम्, अर्शआदित्वाद्च् (५, २, १२७)। "शं भानुना शं हिमा शं घृणेन (ऋ० सं० ७, ८, १३, ४)"—इति निगमः।

(२३) वस्वी। 'वस आच्छादने (अदा० आ०)'। 'शॄस्वृस्निहित्रप्यसिवसि (उ० १, १०)'-इति उ-प्रत्ययः। वस्ते आच्छादयते लोकमिति अवश्यायस्तमो वा, तद्वती वसुः। 'छन्दसीवनिपौ च (५, २, १२२ वा०)'—इति ईकारः 'वृषादीनाञ्च (६, १, १०२)'—इत्याद्युदात्तत्वम्। यद्वा, प्रशस्यवचनाद् वसुशब्दात् 'वोतोगुणवचनात्(४, १,४४)'—इति ङीष्, सर्वभूतरमणत्वाद्रात्र्याः प्राशस्त्यम्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

इति त्रयोविंशतीरात्रिनामानि॥७॥

विभावरी (१)। सूनरी (२)। भास्वती (३)। ओदती (४)। चित्रामघा (५)। अर्जुनी (६)। वाजिनी (७)। वाजिनीवती (८)। सुम्नावरी (६)। अह्ना(१०)। द्योतना (११)। श्वेत्या (१२)। अरुषी (१३)। सूनृता (१४)। सूनृतावती। (१५)। सूनृतावरी (१६)। इति षोड़शोषोनामानि॥ ८॥

(१) विभावरी। 'भा दीप्तौ (अदा० प०)' विपूर्वः। 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च (३, २, ७४)'--इति वनिप्। 'वनो र च (४, १, ७)'--इति ङीब्रेफौ। विशेषेण भाति दीप्यते आदित्य-किरणसम्बन्धात्। "आपप्रुषी विभावरि (ऋ० सं० ३, ८, ३,६)" --इति निगमः॥

(२) सूनरी। शोभना नरा अस्यां सन्ति, मत्वर्थीय ईकारः, व्यत्ययेन हल्ङ्यादिलोपः। अथवा बहुव्रीहिः, पिप्पल्यादेरा कृतिगणत्वादीकारः। नराणां प्रसन्नचित्तत्वेन धर्मादिविशिष्टतया तदानीं शोभनत्वम्। तथाच महाकविः—'पश्चिमाद् यामिनीयामात् प्रसादमिव चेतना'—इति। यद्वा, सूनरी शोभनं नयति कालम्। 'णी नये (भ्वा० प०)' सुपूर्वात् 'अच इः (उ० ४, १३४),' 'कृदिकारादक्तिनः (४, १, ४५ वा०)'—इति ङीष्। सूनरी सुधना। यद्वा, 'नृभिर्देवैः समन्विता'—इति

माश्रयः।' 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः। व्यत्ययेनावधारणाभावगृह्यते। "ज्योतिष्कृणोति सूनरी (ऋ० सं० ५, ६, १, १)"—इति निगमः॥

(३) भास्वती। 'भासृ दीप्तौ (भू० आ०),' क्विप्। भासत इति भासः प्रकाशः। भासा, तद्वती भास्वति 'तसौ मत्वर्थे (१, ४, १६)'—इति भ-सञ्ज्ञया पदकार्यं रुत्वं न भवति भास्वती। "भास्वती नेत्री सूनृतानाम् (ऋ० सं० १, ८, ३, ४)"—इति निगमः॥

(४) ओदती। 'उन्दी क्लेदने (रु० प०)'। उन्देर्लटः शतरि 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—इति शतुरार्द्धधातुकत्वेन विकरणाभावः, सार्वधातुकत्वात् 'सार्वधातुकमपित् (१, २, ४)'—इतिङिद्वद्भावात् 'अनिदिताम् (६, ४, २४)'—इति न-लोपः, व्यत्ययेन गुणः 'उगितश्च (४, १, ६)'—इति ङीप्। उनस्यवश्यायेन ओदती। "पदं न वेत्योदती (१, ४, ४, १)"—इति निगमः॥

(५) चित्रामघा। 'चित्र् चयने (स्वा० उ०)'। 'अमिचिमिमिदिशंसिभ्यः क्तः (उ० ४, १५६)'—'इति क्त-प्रत्ययः' चित्रम्। मंहतिर्दानकर्मा (निघ० ३, २०), घञर्थे कविधानमित्यत्र परिगणनस्योपलक्षणार्थत्वात् कप्रत्यये 'अनिदिताम् (६, ४, २४)'—इति न-लोपः, पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) घत्वम्। मह्यते दीयतेऽर्थिभ्यः इति मघं धनम् चित्रमाश्चर्यभूतं धनं यस्या इति चित्रामघा, 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः। "वाजिनी

चती सूर्य्यस्य योषा चित्रामघा (ऋ० सं० ५, ५, २२, ५)"—इति निगमः ॥

(६) अर्जुनी। 'अर्ज सर्ज अर्जने (चु० प०)'। अर्जेर्णिलुकि उनन्प्रत्ययः (उ० ३, ५५), अर्जति। यद्वा, 'अर्ज गतिस्थानार्जनेषु (भू० प०)'। बाहुलकादुनन्। गम्यते तदर्थिभिः तिष्ठति स्वाश्रये। अर्जुनमिति रूपनाम '(निघ० ३, ७)' तथात्रादित्यरश्मिसम्बन्धात् श्वेतम्, अर्जुनी श्वेता, 'अन्यतो ङीप् (४, १, ४०)' यद्वा, अर्जुन्यो गावः ता अस्याः सन्ति वाहनत्वेन मत्वर्थीय ईकारः, व्यत्ययेन हलुङ्यादिलोपः। "या गोमतीरुषसः सर्व वीरा (ऋ० सं० १, ८, ४, ३)"—इति श्रुतिः। "द्विपच्चतुष्पदर्जुनि (ऋ० सं० १, ४, ६, ३)"—इति निगमः ॥

(७) वाजिनी। 'वाज इत्यन्ननाम (निघ० २, ७)' वाजो हविर्लक्षणमन्नमस्या अस्ति, 'अत इनिठनौ (५, २, ११५)'—'ऋन्नेभ्यो ङीप् (४, १, ५)'। यजमानेभ्यो यानि देयान्यन्नानि तैस्तद्वती वा। "वायविन्द्रश्च चेतथः सुतानां वाजिनीवसू (ऋ० सं० १, १, ३, ५)"—इति निगमः ॥

(८) वाजिनीवती। वाजो बलं वेगो वा तेन तद्वती वाजिनी, कार्शो उपसः सम्भृता तेन तद्वती वाजिनीवती। यद्वा, वाजो हविर्लक्षणम् अन्नमस्या अस्तीति वाजिनी यागसन्ततिः, तद्वती वाजिनीवती। यद्वा, वाजमन्नं तद्वती या वाजिनी, कार्शी अपचयभूतेनान्नेन तद्वती अन्न संहतिः, तया अन्नसंहत्या तद्वती वाजिनीवती। यद्वा, द्वावेतौ मत्वर्थीयौ तयोरैकार्थ्येनातिनरोम-

त्वर्थीयः अतिशयेनान्नवतीत्यर्थः 'वाजिनीवतीरिषणा हि सर्वेऽन्नं लभन्ते'—इति माधवः। 'सञ्ज्ञायाम् (८, २, ११)'—इति वा 'छन्दसीरः (८, २, १५)'—इति वा मतुपो वत्वम्। "व्यश्वेभ्यः सुभगे वाजिनीवति (ऋ० सं० ६, २, २२, ३)"—"अस्मभ्यं वाजिनीवति (ऋ० सं० ३, ८, ७, ४)"—इति निगमौ॥

(९) सुम्नावरी। सुपूर्वात् 'म्ना माने (अदा० प०)'—इत्यस्मात् 'उपसर्गे च सञ्ज्ञायाम् (३, २, ९९)'—इति जनेर्विधीयमानो डप्रत्ययो बाहुलकाद्व भवति। सुष्ठु आम्नायते अभ्यस्यते इति सुम्नं सुखं, तद्धि सर्वैः सर्वदा ममेदं भूयादित्यभ्यासेन प्रार्थ्यते। तथाच—'सुखं सुम्नातेः, प्रजा वै पशवः सुम्नम्,—इति माधवः। तदस्या अस्ति। 'छन्दसीवनिपौ च (५, २, १२२ वा०)'—'वनो र च (४, १, ७)'—इति ङीप्रौ, 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः। 'सुम्नावतीत्यर्थः। "सुम्नावरी सूनृता ईरयन्ती (ऋ० सं० १, ८, ३, २)"—इति निगमः।

(१०) अहना। 'अहि गतौ,' भुवादिरात्मनेपदी, 'अह व्याप्तौ,' स्वादिः परस्मैपदी। 'युच् बहुलम् (उ० २,७४)'—इति युच्प्रत्ययः बहुलवचनात् पूर्वत्र नकारलोपः। अहन्तेगच्छत्याकाशे प्रतिदिनं क्षयं गच्छतीति वा। व्याप्नोति स्वभासा लोकं व्याप्यते वादित्यरश्मिभिः। गृहं गृहमहना यात्यच्छा (ऋ० सं० २, १, ४, ४)"—इति निगमः॥

(११) द्योतना। ण्यन्तात् 'द्युत दीप्तौ (भ्वा० आ०)'—इत्यस्मात् 'ण्यासश्रन्थो युच् (३, ३, १०७)'—इति बाहुलकात् कर्त्तरि युच्

'णेरनिटि (६, ४, ५१)'—इति णिलोपः। द्योतयति सर्वान् पदार्थान् प्रकाशकत्वात्। यद्वा, केवलात् 'अनुदात्तेतश्च हलादेः (३, २, १४९)'—इति युच्। द्योतते स्वयं द्योतना। "सिषासन्ती द्योतना शश्वदागात् (ऋ० सं० २, १, ४,४)"—इति निगमः।

(१२) श्वेत्या। 'श्विता वर्णे (भ्वा० आ०)'। अघ्न्यादित्वात् (उ० ४, १०८) यक् द्रष्टव्यः। श्वेतते श्वेत्या। 'श्विता वर्णे' इति वर्णसामान्यं सामर्थ्यात् शुक्लवर्णेऽपि शेषे पर्य्यवसितं द्रष्टव्यम् उषसि तथा दर्शनात्। "रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागात् (ऋ० सं० १, ८, १, २)"—इति निगमः॥

(१३) अरुषी। 'ऋ सृ गतौ' जुहोत्यादिः (प०), 'ऋ गतिप्रापणयो,' भ्वादिः (प०)। 'ऋनहिभ्यामुषन् (उ० ४, ७४)', पिप्पल्यादेराकृतिगणत्वादीकारः। इयर्त्ति गच्छति चादित्योदयेनान्तं प्रतिदिनम् प्रापयति वा स्तोतॄन् ऐश्वर्य्यादि। यद्वा, आङ्पूर्वात् 'रुच दीप्तौ (भ्वा० आ०)'—इत्यस्मात् बाहुलकात् उषच्, टिलोपः, आङो ह्रस्वश्च, आरोचते अरुषी। यद्वा, अरुषमिति रूपनाम (निघ० ३, ७), सामर्थ्यादत्र शुक्लविषयम्, शुक्लवर्णा अरुषी। 'अन्यतो ङीष् (४, १, ४०)'। "अश्वेव चित्रारुषी (ऋ० सं० ३, ८, ३, २)"—इति च निगमः॥

(१४) सूनृता। (१५) सूनृतावती। (१६) सूनृतावरी। सुष्ठु ऊन्यते अप्रियैरिति सून्। सुपूर्वात् 'ऊन परिहाणे (चु० उभ०)'—इत्यस्मात् क्विप्। ऋतमिति सत्यनाम (निघ० ३, १०)। सून् च तदृतञ्च सूनृतम्, पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) नलोपा-

भावः। प्रियश्च सत्यश्च। पूर्वं मत्वर्थीयोऽकारः, उत्तरत्र मतुप् अन्यत्र छन्दसीवनिपौ च (५, २, १२२ वा०)'—इति वनिप्, मतौ वत्वरत्वौ, 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः। यद्वा, प्रियसत्यरूपा वाचः सूनृता उच्यन्ते। "सुम्नावरी सूनृता ईरयन्ती (ऋ० सं० १, ८, ३ २)"—"उदीरय प्रति मा सूनृता उषः (ऋ० सं० १, ४, ३, २)"—इत्यादिदर्शनात् तद्वत्यः सूनृतादयः दीर्घो नापेक्षणीयः। यद्वा सूनृतेत्यन्ननामसु (निघ० २, ७) पाठादन्नम्। सूनृता धननाम माधवपक्षेण अन्नवत्यो धनवत्यो वा सूनृतादयः। "रेवतुस्तोत्रे सूनृते जानरयन्ती (ऋ० सं० २, १, ८, ५)"—"रेवदस्मे व्युच्छ सूनृतावति (ऋ० सं० १, ६, २६, ४)" —"चिकित्वित् सूनृतावरि (ऋ० सं० ३, ८, ३, ४)"—इति च निगमाः क्रमेण॥

इति षोडशोषोनामानि॥ ८॥

वस्तोः (१)। द्यौः (२)। भानुः (३)। वासरम् (४)। स्वसराणि (५)। घ्रंसः (६)। घर्मः (७)। घृणः (८) दिनम् (९)। दिवा (१०)। दिवेदिवे (११)। द्यविद्यवि (१२) इति द्वादशाहर्नामानि॥ ९॥

(१) वस्तोः। अत्र स्कन्दस्वामी—'वस्तोरितीदृशमेवेदं नाम, न विभक्त्यन्तरम्, "दोषावस्तोर्हविष्मती घृताची (ऋ०

सं० ५, १, २४, १)"—दोषावस्तोर्वहीयसः प्रपित्वे (अ० सं० १, ७, १८, १)"—इति समस्तस्यापि दर्शनात्। वस्ते ज्योतिरिति वस्तोः, द्योतत इति द्यौः। पदं सर्वत्र'—इति। वस्ते (अदा० आ०) आच्छादयतीति ज्योतिः। व्यत्ययेन कर्त्तरि तोसुन् (३, ४, १३)। "कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना (ऋ० सं० ७, ८, १८, २)"—इति निगमः। कुह क्वेति सप्तमीसामानाधिकरण्यात् दोषावस्तोरित्यपि सप्तम्या एवाव्ययलुगध्यवसितः॥

(२) द्यौः। 'द्युत दीप्तौ (भ्वा० आ०)', बाहुलकात् डोप्रत्ययः (उ० २. ६४)। द्योतते किरणसम्बन्धात्। यद्वा, 'द्यु अभिगमने (अदा० प०)', 'द्युगमिभ्यां डोः'—इति श्रीभोजदेवः। अभिगच्छन्त्यस्मिन् स्वं स्वमभिमतप्रदेशं प्राणिनः। 'गोतोणित् (७, १, ९०)'—इति वृद्धिः। "मध्व आरोधने दिवः (१, ७, २२, १)"—इति निगमः॥ केचित् द्युरिति पठन्ति। तदा 'डिच्च'—इत्यधिकारे 'द्युद्रुभ्यां न्नः'—इति भोजसूत्रेण उप्रत्ययः। 'द्यु अभिगमने (अदा० प०)' द्युतेर्वा वा 'अश्वादयश्च (उ० ५, ३०)'—इति डुन्-प्रत्ययान्तो निपातितो द्रष्टव्यः। उभयत्र पूर्वोक्त एवार्थः। "द्युभिरक्तुभिः परिपातमस्मान् (ऋ० स० १, ७, २७, ५)"—"त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणि (ऋ० सं० २, ५, १७, १)"—इति निगमौ॥

(३) भानुः। 'भा दीप्तौ (अदा० प०)', 'भादाभ्यां नुः (उ० ३, ३१)। भात्यादित्याधिकरणसम्बन्धादेव। "उद्देव्या उषसो

भानुरर्त्तं (ऋ० सं० ३, ४, १५, २)"—इति निगमः। रश्मि-र्भानुरिति माधवोक्तमहमेवितुमर्हति ॥

(४) वासरम्। 'वस निवासे (भ्वा० प०)', णिजन्तः शुद्धोऽपि विपूर्वस्यार्थे वर्त्तते। 'अर्त्तिकमिभ्रमिदिविचमिवासिभ्यश्चित् (उ० ३, १२८)'—इत्यरच् प्रत्ययः। विवासयति अपनयति शीतादिकम्। यद्वा, वसेः स्वार्थे णिचि अधिकरणेऽरच्। वसत्यस्मिन् गुर्वेनेति वासरम्। यद्वा, 'वासृ दीप्तौ (दि० आ०)' पूर्वस्मादेव सूत्रादरच् दीप्यते वासरम्। यद्वा, विपूर्वात् सर्त्तेर्गत्यर्थात् पचाद्यचि वीत्यस्यैकारस्याकारः पृषोदरादित्वात्, विविधं सराणि सृतानि विस्तीर्णानीत्यर्थः। 'वासराणि वेसराणि (निरु० ४, ७)'—इति भाष्ये स्कन्दस्वामी—'वेसरशब्दस्यायमेकारस्याकारः। सादृश्येन चात्र वर्त्तते। यथा वेसरो निष्पादकगताभ्यां विरुद्धाभ्यां जातिभ्यामश्वत्वजात्या गर्दभत्वजात्या सम्पन्नः। एवं यावत् द्वौ निष्पादकौ पूर्वभागापरभागौ तद्गताभ्यां विरुद्धाभ्यां शीतोष्णाभ्यां पूर्वभागगतेन शीतेनापरभागगतेन चोष्णेन सम्बन्धाद् वेसरसदृशत्वाद् वासरम्'—इति। "अहानीव सूर्यो वासराणि (ऋ० सं० ६, ४, १२, २)"। अहानीत्यनेन पौनरुक्त्यादन्योऽपि निगमोऽन्वेषणीयः॥

(५) स्वसराणि। स्वशब्दे उपपदे सर्त्तेर्गत्यर्थात् (भ्वा० प०) पचाद्यच् (३, १, १३४)। स्वेन आत्मनैव गच्छन्ति। अपि च, स्वरित्यादित्यनाम (निरु० २, १४)। सर्त्तेः 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण (३, ३, ११८)'। अन्तर्णीतण्यर्थश्चात्र सर्त्तिः।

सरित्येतस्य रेफलोपः पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९)। आदित्येन सार्यते। स हि स्वोदयास्तमयाभ्यां तानि गमयति। यद्वा, सुपूर्वात् 'असु क्षेपणे (दि० प०)'—इत्यस्मात् कृदरादित्वादरच् (उ० ५, ४२) प्रत्ययः। सुष्ठु अस्यन्ते क्षिप्यन्ते सूर्येण स्वोदयास्तमयाभ्याम्, तथाच 'स्वसर इहेत्युपसृप्तात्'—इति माधवः "उस्रा इव स्वसराणि (ऋ० सं० १, १, ६, २)"—इति निगमः॥

(६) घ्रंस। 'ग्रह उपादाने (क्र्या० उ०)' अस्मात् घञि पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) गकारस्य घकारो नुगागमः हकारस्य सकारः। गृह्यन्तेऽस्मिन् रसा अवश्याया आदित्येन। "यो अस्मै घ्रंस उ त वा य ऊधनि (ऋ० सं० ४, २, ३, ३)"—इति निगमः॥

(७) घर्मः। 'घृ क्षरणदीप्त्योः (जु० प०),' 'घर्मः (उ० १, १४६)'—इति मप्रत्ययान्तो निपातः। जिघर्त्ति दीप्यते रश्मिसम्बन्धात्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(८) घृणः। जिघर्त्तेः (जु० प०) 'इणुसिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् (उ० ३, २)'—इतीणादिभ्यो विधीयमानो नक्प्रत्ययो बाहुलकाद् भवति। पूर्ववदर्थः। "घृणा वयोऽरथामः परिस्मन् (ऋ० सं० ३, ७, १६, ६)"—इति निगमः॥

(९) दिनम्। 'दो अवखण्डने (दि० प०)', पूर्ववदौणादिके नक्प्रत्यये बाहुलकात् (उ० २, ४६), 'द्यतिस्यतिमास्थाम् (७, ४, ४०)'—इतीत्वम्। द्यतितमः दिनम्। "अधा सरिभ्यः। सुदिना व्युच्छान् (ऋ० सं० ५, २, २८, १)"—इति निगमः॥

(१०) दिवा। द्योतनात्। अव्ययमिदम्। "दिवा भिपित्वेऽसागमिष्ठा (ऋ० सं० ४, ४, १७, २)"—"दिवा नक्त मवसा शन्तमेन (ऋ० सं० ४, ४, १७, ३)"—इति निगमौ॥

(११) दिवेदिवे। 'दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु (दि० प०)'। 'दिवेर्डिविः'—इत्यधिकरणे डिविप्रत्ययः। दिव्यन्तेऽस्मिन्निति द्यौः। दिव्-शब्दात् परस्य सप्तम्या एकवचनस्य 'सुपां सुलुक् (७, १, ३९)'—इत्यादिना शे आदेशः, प्रगृह्यत्वं (१, १, १३) तु व्यत्ययेनात्र न भवति। चतुर्थी वा व्यत्ययेन। ततो वीप्सादिः (८, १, ४), दिवसे दिवसे इत्यर्थः। यथादृष्टं पठितमिदं नाम। "उपत्वाग्ने दिवेदिवे (१, १, २, २)"—"दिवे वाममस्मभ्यं सावीः (ऋ० सं० ५, १, १५, ६)"—इति च निगमौ॥

(१२) द्यविद्यवि। द्योशब्दो व्याख्यातः (२)। सप्तम्येकवचनं, वीप्सादि पूर्ववत्, "मिर्नीमसि द्यविद्यवि (ऋ० सं० १, २, १६, १)"—इति निगमः॥

इति द्वादशाहर्नामानि॥ ६॥

आद्रिः (१)। ग्रावा (२)। गोत्रः (३)। वलः (४)। अश्नः (५)। पुरुभोजाः (६)। वलिशानः (७)। अश्मा (८)। पर्वतः (९)। गिरिः (१०)। व्रजः (११)। चरुः (१२)।

वराहः (१३)। शम्बरः (१४)। रौहिणः (१५)। रैवतः (१६)। फलिगः (१७)। उपरः (१८)। उपलः (१९)। चमसः (२०)। अहिः (२१)। अभ्रम् (२२)। वलाहकः (२३)। मेघः (२४)। दृतिः (२५)। ओदनः (२६)। वृषन्धिः (२७)। वृत्रः (२८)। असुरः (२९)। कोशः (३०)। इति त्रिंशन्मेघनामानि ॥ १० ॥

आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः (निरु० २, २१)'—इत्युक्तेर्मेघनामत्वं पर्वतनामत्वं क्रमेण निरुच्य प्रदर्श्यते।

(१) अद्रिः। 'अद भक्षणे (अदा० प०)'। 'अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन् (उ० ४ पा०)'—इति क्रिन्प्रत्ययः। अत्ति हि मेघो वर्षार्थमादित्यरश्मिभिराहृतान् भौमरसान्, अत्ति मेघैरभिवृष्टं जलम्, अद्यते वा प्राणिभिस्तत्प्रभवपदार्थभक्षणं तत्रोपचर्यते, अदन्त्यस्मिन् पदार्थान् मनुष्या इति वा। यद्वा, नञ्पूर्वात् 'दृ विदारणे '(क्र्या० प०)'—इत्यस्मात् बाहुलकात् रिक्प्रत्ययः ऋलोपश्च। 'अदरणीय इत्यद्रिः पर्वतः। "विजयुषा:ययथुः सान्वद्रेः (१, ८, १६, १)"—इति मेघस्य निगमः। "नान्तरिक्षं नाद्रयः सोमो अक्षाः (ऋ० सं० ८, ४, १५, २)"—इति पर्वतस्य ॥

(२) ग्रावाः। हन्तेः (अदा० प०) 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति क्वनिप्। पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०६) धातोर्ग्रादेशः। हन्यते हि मेघ इन्द्रेण 'अहन्नहिम् (ऋ० सं० १, २, ३६, १)'—इति श्रूयते। हन्यतेऽनेन सोमः। यद्वा, 'गॄ निगरणे (तु० प०)', गॄ शब्दे (क्र्या० प०)', गृणातिस्तुतिकर्मा (निरु० ३, ५)', एभ्यः पूर्ववत् क्वनिपि अडागमः। दृशिग्रहणात् (३, २, ७५) सर्वं सिद्धम्। गिरत्युदकं वर्षितुम्। अत्र गिरतिरुत्पूर्वस्यार्थे वर्त्तते, समुद्गिरति जलं वृष्टिसमये, समुद्गीर्णं इति वा अन्तरिक्षेण, गृणाति गर्जितलक्षणं शब्दं करोति, स्तूयते वा वर्षार्थिभिरिति ग्रावा मेघः। पर्वतोऽपि इन्द्रेण हन्यते पक्षच्छेदसमये, गिरति मेघैरभिवृष्टं जलमुद्गिरति निर्झरजलम्, समुद्गीर्ण इव वा गुहादिगतसिंहादिशब्देन, शब्दकारी, स्तूयते च पदार्थबाहुल्यात् प्राणिभिस्तदार्थिभिरिति ग्रावा। "इन्द्र ग्रावाणो अदितिः सजोषाः (ऋ० सं० ४, १, २१, ४)"—इति मेघस्य निगमः। "ग्रावाणो अप दुच्छुनामप सेधत (ऋ० सं० ८, ८, ३३, २)"—"ग्रावाण उपरेष्वा महीयन्ते (ऋ० सं० ८, ८, ३३, ३)"—इति पर्वतस्य निगमौ॥

(३) गोत्रः। 'गुङ् अव्यक्ते शब्दे (भू० आ०)'। 'गुधृवीपचिवचियमि [मनितनि] सदिक्षदिभ्यस्त्रः (उ०४,१६२)'—इति त्रप्रत्ययः। मेघो गर्जितलक्षणमव्यक्ताक्षरं शब्दं करोति, गूयते शब्द्यते वा,—'अहो ! अयमतीवघर्मकाले वर्षार्थमागतः'—इति। यद्वा, गामुदकं रश्मिभिराहृतं वर्षाऽव्यतिरिक्तेषु त्रायते

पालयति। 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)'। शरदादिषु हि मेघेषु घनीभूतास्तिष्ठन्त्यापः। गां पशुजातिं त्रायते वा वृष्ट्या पानीयप्रदानात्। पर्वतोऽपि निर्झरादिपतनजन्यमव्यक्तं शब्दं करोति, अभिवृष्टमुदकमुदकाधारेषु धारणाद् रक्षति च गोश्च सुयवसवत्तया गोत्राः। "गोत्रा शिक्षन् दधीचे मातरिश्वने (ऋ० सं० ८, १, ५, २)"—"त्वं गोत्रमङ्गिरोभ्योऽवृणोरप (ऋ० सं० १, ४, ६, ३)" "उद्गोत्राणि ससृजे दंसनावान् (ऋ० सं० ३, २, २५, ४)"—इति च मेघनिगमाः। "गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुम् (ऋ० सं० ८, ५, २२, ६)"—इति पर्वतस्य॥

(४) वलः। 'वृ आवरणे (स्वा० उ०)'। 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च (३, ३, ५८)'—इत्यप्। अपि लकारादित्वात् लत्वम्। यद्वा, 'वल संवरणे (भू० आ०)'अस्मात् 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण ३, ३, ११८)'—इति घः। व्रियतेऽनेन दिश आकाशश्च मेघः पर्वतेनापि स्वशरीरेण भूमिराकाशश्च संव्रियते। "अलातृणो वल इन्द्र व्रजो गोः (ऋ० सं० ३, २, २, ५)"—इति निगमो मेघस्य। "इन्द्रो वलं रक्षितारं दुघानाम् (ऋ० सं० ८, २, १५, ६)"—इति पर्वतस्य॥

(५) अश्मः। 'अशू व्याप्तौ (स्वा० आ०)', 'अश भोजने (क्र्या० प०)', आभ्याम् 'इण्सिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् (उ० ३, २)'—इति विधीयमानो नकप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति, युट्त्वं च न भवति 'श्नात् (८, ४, ४४)'—इति प्रतिषेधात्। उभावपि व्याप्नुत आकाशमर्पतिश्चौदकम्, एको पर्वितव्यमपरो वृष्टम्। अत्रानेन धात्र सम्पन्नं लक्ष्यते। "अश्मापिनद्धं मधुपर्यपश्यन्

"(ऋ० सं० ८, २, १८, २)"—इति मेघस्य। निगमोऽन्वेषणीयो वा॥

(६) पुरुभोजाः। 'भुज पालनाभ्यवहारयोः (रु० प०)'—इत्यस्मात् 'विद्भुजिभ्यां विश्वे (उ० ४, २३१)'—इति विश्वशब्दे उपपदे विहितोऽसुप्रत्ययः पुरुशब्देऽप्युपपदे बाहुलकात् (३, ३, १) भवति, पुरु बहु प्राणिजातं भुनक्ति पालयति वृष्टिप्रदानेन मेघः, पर्वतो हि दुर्भिक्षादेरक्षति। 'समुद्रः पर्वतो राजा इव दुर्भिक्षनाशकः'—इत्युक्तेः। पुरु अभ्यवहरति सामर्थ्याज्जलमत्र विशेष्यम्, एको वर्षितव्यमपरो हि वृष्टमिति विशेषः। बहुभिर्भुज्यते पाल्यते अभ्यवह्रियते वा। मेघस्य त्विन्द्र आदित्यरश्मयश्च रक्षितारः, पर्वतस्य तत्तद्देशाधिपतयः। मेघः स्वयृष्ट्युदकद्वारेण अभ्यवह्रियते। द्वयोरपि निगमावन्वेषणीयौ॥

(७) बलिशानः। वल संवरणे (भू० आ०),' औणादिकः क्विप्। 'ईश ऐश्वर्ये' अदादिकः (आ०)। लट् शानच्। संवृण्वन्नाकाशमीष्टे वर्षितुम्, पर्वतोऽपि स्वभोगेन भूमिमाकाशं संवृण्वन्नीष्टे दुर्भिक्षादेर्मनुष्यादीन्रक्षितुम् बलीशान इति, लोकवेदनिघण्टौ दृष्टान्तात् पृषोदरादित्वात् ह्रस्वः। निगमावन्वेषणीयौ॥

(८) अश्मा। 'अशू व्याप्तौ (स्वा० आ०),' 'अश भोजने (क्र्या० प०)'। 'अशिशकिभ्यां छन्दसि (उ० ४, १४४)'—इति मनिन्। अश्न इत्यनेन समानार्थः। "अपावृणोर्दुरो अश्म-

प्रजानाम् (ऋ० सं० ८, ७, २७, ६)"—इति मेघस्य निगमः। "यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान (ऋ० सं० २, ६, ७, ३)"—इति पर्वतस्य। अत्र स्कन्दस्वामिना मेघत्वेन व्याख्यातम्॥

(९) पर्वतः। 'पॄ पालनपूरणयोः (क्र्या० प०)'। 'स्नामदिपद्यर्तिपॄशकिभ्यो वनिप् (उ० ४, १०९)'। पृणन्ति पालयन्ति अवयविनं पूर्यन्ते वा तेन इति पर्वाणि। यद्वा, प्रीणातेर्बाहुलकात् (३, ३, १) वनिपि ईकारस्याकारः स च पकारात् परः प्रीणयन्ति स्वाश्रयमिति। पर्वाण्यवयवाः सन्त्यस्य 'पर्वमरुद्भ्यां तप् वक्तव्यः (५, २, १२१ वा०)'—इति मत्वर्थीयस्तप्प्रत्ययः। मेघस्य पर्वतस्य च देवतात्मकत्वस्य च विद्यमानत्वात् अवयविनि वक्तुं शक्यम्। यद्वा, परिदृश्यमानाकारेणापि मेघस्य धूमादिसङ्घातत्वात्, पर्वतस्य च शिलादिमत्त्वादवयवित्वम्। यद्वा,'पर्व पूरणे (भ्वा० प०),' अस्मात् 'भृमृदृशियजिपर्विपच्यमितमिनमिहर्यिभ्योऽतच् (उ० ३, १०७)'—इत्यतच्प्रत्ययः। पर्वति पूरयति वर्षेण भूमिं स्वशरीरेणाकाशं वा पर्वतोऽपि निर्झरनदीप्रवाहादिना भूमिं स्वोच्छ्रयाकाशञ्च पूरयति। "नि पर्वता अद्मसदो न सेदुः (ऋ० सं० ४, ७, २, ३)"—यद्विरथा पर्वतानाम् (ऋ० सं० ४, ४, २६, १)"—इति मेघस्य निगमौ। "यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः (ऋ० सं० ८, ४, २६, १)"—"प्र पर्वतानामुशती उपस्थात् (ऋ० सं० ३, २, १२, १)"—इति च पर्वतस्य॥

(१०) गिरिः। 'गॄ निगरणे (तु० प०)', अथवा 'गॄ शब्दे (क्र्या० प०)', गृणातिः स्तुतिकर्मा (निरु० ३, ५,)। किदिति

वर्त्तमाने (उ० ४, १३७), 'कॄगॄशॄपॄकुटिभिदिछिदिभ्यश्च इः (उ० ४, १३८)'—इति इप्रत्ययः, 'ऋत इद्धातोः (७, १, १००)'—इतीत्वम्, गिरिः। ग्रावेत्यनेन समानार्थः। "निराविध्यद् गिरिभ्य आ धारयत् पक्वमोदनम्"... भृणिर्न भ्राजते तुजा शवः (ऋ० सं० १, ४, २१, ३)"—इति पर्वतस्य। "मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः (ऋ० सं० २, २, २४, २)"—इत्युभयस्य॥

(११) व्रजः। व्रज गतौ (भू० प०)'। 'गोचरसञ्चरवहव्रजव्यजापण निगमाश्च (३, ३, ११९)'—इति निपातनात् घः, करणाधिकरणयोस्तदुव्यतिरिक्ते कारकेऽपि घो भवति। व्रजत्यन्तरिक्षे व्रजत्यनेनेन्द्र इति वा व्रजो मेघः, मेघवाहनो हीन्द्रः पर्वतोऽपि पक्षच्छेदात् पूर्वमन्तरिक्षे व्रजति। अथवा स्वशरीरेण भूमियन्तरिक्षञ्च व्रजति। व्रजन्ति तत्र प्राणिन इति वा। "अप व्रजमूर्णुगः सतास्यम् (ऋ० सं० ७, ८, ११, ३)"—इति मेघस्य निगमः। "व्रजं गोमन्तमुशिजो विवव्रुः (ऋ० सं० ३, ४, १४, १)"—इति पर्वतस्य॥

(१२) चरुः। 'चर गतिभक्षणयोः (भू० प०)'। 'भृमृशीतृचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः (उ० १, ७)'—इति उप्रत्ययः। चरन्ति गच्छन्त्यस्मादापो मेघाद्वर्षाकाले, पर्वतानां निर्झरलक्षणाः चरयन्ति जलं वर्षितव्यमिति चरवः, चरन्ति तत्र प्राणिनः, चर्यते भक्ष्यते सप्रमयपदार्थरूपेणेति चरुः पर्वतः। "स नो वृषन्नमुं चरुम् (ऋ० सं० १, १, १४, १)"—इति मेघस्य निगमः। पर्वतस्यान्वेषणीयः॥

(१३) वराहः। 'वृणोतेः (स्वा० प०)'। 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च (३, ३, ५८)'—इत्यकारः (अप्), वरशब्दे कर्मण्युपपदे आङ्पूर्वाद्धरतेः 'कर्मण्यण् (३, २, १)'। वरमुदकमाहरतीति वराहः। वर उदकलक्षणः आहारोऽस्यैति वा वराहः (निरु० ५, ४) आङ्पूर्वाद्धरतेर्घञ्। 'वरमाहारमाहार्षीः'—इति च ब्राह्मणम्। पृषोदरादित्वात् आहारशब्दस्याकाररेफयोर्लोपः। यद्वा, वरशब्दे उपपदे हरतेराङ्पूर्वात् 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति बाहुलकात् डप्रत्ययः। वराहाकारो वा कृष्णो मेघो वराहसादृश्येन वर्त्तते। वरमुत्कृष्टमुदकं वृहति उद्यच्छति वर्षितुम् 'वृह उद्यमने (तु० प०)'। हन्तेः पूर्ववत् डः। यद्वा, वरशब्द उपपदे जुहोतेर्दानार्थात् डः। वरमुदकं ददाति आदत्ते वा वर्षितुमिति वराहो मेघः, पर्वतोऽपि वरमुत्कृष्टं पदार्थमाहारयति प्राणिभिः, पदार्थानां सर्वत्र सौलभ्यादाहरयतीत्युच्यते। वर आहारोऽत्रेति वा। वराहवत् कृष्णवर्ण इति वा। वरं मूलं वृहत्युद्यच्छत्यसादिति वा (निरु० ५, ४)। वरं वरमिरयत्रैकस्य वरशब्दस्य निवृत्तिः। वरशब्दाद् वृहेश्च वराह इत्यर्थः। वरमुदकमाददाति आदीयते च तस्मात् पुरुषैर्वरः पदार्थ उदकमेव वा। "विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता (ऋ० सं० १, ४, २८ २)"—"वराहमिन्द्र एमुषम् (ऋ० सं० ६, ५, ३०, ५)"—इति च मेघस्य निगमौ। पर्वतस्यान्वेषणीयः॥

(१४) शम्बरः। 'शमु उपशमे (दि० प०)' अत्रान्तर्णीतण्यर्थः। 'शमेर्वन् (उ० ४, ११)'—इति वन्प्रत्ययः। शमयति

नाशयति असुरानिति शम्बो वज्रः। यद्वा, शातयते-र्बाहुलकात् बनप्रत्यये पृषोदरादित्वात् शमादेशः। शम्बोऽस्य प्रहर्तृत्वेनास्ति। रो मत्वर्थीयः। प्रहरति हि वज्रः इन्द्रप्रेरितो मेघान् पर्वतांश्च पक्षच्छेदसमये। यद्वा, सम्पूर्वाद् वृणोतेः (स्वा० प०) 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च (३, ३, ५८)'—इत्यपि सम्वरः सन् वर्णव्यत्ययेन शम्बरः। सं व्रियते मेघेनाकाशं, भूमिः पर्वतेन। यद्वा, शम्बरमित्युदकनाम (निघ० १, १२), मत्वर्थीयस्य लुक्, उदकमस्यास्तीति वा, उभयत्रापि तुल्यम्। "उ तादर्दर्मन्युना शम्बराणि वि (ऋ० सं० २, ७, १, २)"—"अधूनोत् काष्ठा अव शम्बरं भेत् (ऋ० सं० १, ४, २५, ६)"—इति मेघस्य निगमौ। पर्वतस्यान्वेषणीयः॥

(१५) रौहिणम्। 'रुह बीजजन्मनि (भ्वा० प०)'। भावे घञ् (३, ३, १८) रोहः आरोहणम् आदित्यपक्ष्यादीनामस्मि-न्नस्तीति। 'अत इनिठनौ (५, २, ११५)', रोहि अन्तरिक्षम्। 'तत्र भवः (४, ३, ५३)'—इत्यण्, 'इनण्यनपत्ये (६, ४, १६४)'—इति प्रकृतिभावः रौहिणः। अन्तरिक्षेण हि गच्छति मेघः, पक्षच्छेदात् पूर्वं पर्वतश्चेति तत्र भव इति वक्तुं शक्यते। यद्वा, बहुलमन्यत्रापि (उ० २, ४६)'—इति इनच्प्रत्यये रोहिण इन्द्रः। 'तस्येदम् (४, ३, १२०)'—इत्यण् रौहिणः। आरोहति मेघमिन्द्रः स्ववाहनत्वात्, 'तुराषाण्मेघवाहनः (अम० को० १, ४७),—इति तत्पर्यायेषु पठ्यते। अप्सरोभिः सह रिरंसया पर्वतेष्विन्द्रस्य गमनात् तदीयता। यद्वा, उभयत्रापि

छेद्यछेदकभावेन सम्बन्धः। तथाच चरकाध्वर्यूणां ब्राह्मणे इतिहासः श्रूयते—'प्रजापतेर्वा एतज्ज्येष्ठं तोकं यत्पर्वतास्ते पक्षिण आसन्, ते यत्र यत्र कामयन्ते तत्परा तमासत, इयं हि शिथिलासीत्, तेषामिन्द्रः पक्षानच्छिनत्, तैरिमा दृहदेति'। "अहन्नहिमभिनद्रौहिणम् (ऋ० सं० १, ७, १६, २)"—"यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुः (ऋ० सं० २, ६, ६, २)"—इति निगमौ क्रमेण॥

(१६) रैवतः। रैवत्यो गावः 'पशवो वै रेवतीः'—इति श्रुतेः। 'तस्येदम् (४, ३, १२०)'—इत्यण्। मेघो हि सर्वत्र वर्षति यवसं पानीयं च जनयित्वा तदीयो भवति, पर्वतस्तद्वत्तया। यद्वा, रयिरस्यास्तीति मतुपि 'रयेर्मतौ बहुलम् (६, १, ३४ वा०)' —इति सम्प्रसारणम्, 'सञ्ज्ञायाम् (८, २, ११)'—इति वत्वम्, सर्वस्य धनस्येशितृत्वात् रेवान् इन्द्रः, मघवेति हि तस्य नाम, तदीयो रैवतः। पूर्ववत् तदीयत्वं द्रष्टव्यम्। निगमावन्वेषणीयौ॥

(१७) फलिगः। प्रतिफलति तत् फलम्। तदस्मिन्नस्तीति फलि स्वच्छमुदकं तद्गच्छत्याधारत्वेन मेघो वर्षिष्यमाणं पर्वतो हि वृष्टमिति विशेषः। डप्रकरणे 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)' —इति गमेर्डप्रत्ययः, स्वच्छोदकपूर्ण इत्यर्थः। यद्वा, फलवत्-स्नानपानादिप्रयोजनवत् उदकं फलि, तद्गच्छतीति पूर्ववत्। माधवस्तु—फलिर्भेदनकर्मापि भिन्दन् गच्छति फलसंयुक्तो गच्छतीति वा'—इति निरवोचत्। तस्यायमभिप्रायः प्रायेण मेघो हि वर्षासु ग्रीष्मजन्यं तापं भिन्दन् गच्छति, पर्वतोऽपि

स्वभारेण भूमिं भिन्दन्नधोगच्छति, अन्तकाले वा शतधा स्वयमेव भिद्यमानो गच्छति नाशम्। कृपिफलस्य मेघायत्तत्वात् फलसंयुक्तो गच्छति इत्युच्यते। तथाच कालिदासः—'त्वय्यायत्तं कृपिफलमिति भ्रूविकारानभिज्ञैः'—इति मेघकाव्यम्। पर्वतोऽपि शस्यादिरूढवृक्षादिफलसंयुक्तो गच्छति च। फलवत्त्वदशायाम्। फलेर्गमि गम्यादित्वादिन्, गमेः पूर्ववत् डः (३, २, १०१) इति च। "वलं रुरोज फलिगं स्वेण (ऋ० सं० ३, ७, २६, ५)"—इति निगमः॥

(१८), (१९) उपरः, उपलः। 'आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः (निरु० २, २१)'—इत्यादिभाष्यस्य स्कन्दस्वामिग्रन्थः—'आ उपर उपल इति, आङ् अभिविधौ मर्य्यादायामित्यन्ये, विना उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानीत्यर्थः। आ उपरादिति वक्तव्ये उभयोरुपादानं रलयोरविशेषत्वप्रदर्शनार्थम्। तयोश्चैकनिर्वचनत्वप्रदर्शनार्थमेकयोगपक्षत्वं चाङ्गीकृत्याह—'उपर उपलो मेघो भवति (निरु० २, २१)'—इति। वक्ष्यमाणनिगमापेक्षया उपलशब्दस्य च पाषाणे प्रसिद्धत्वात् 'तेषामुपरः स्वविष्टो मध्यमः'—इति तत्सङ्घातशब्दे पर्वत उपलशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्ध एवेति मेघग्रहणं कृतम्। मर्य्यादापक्षस्य च मेघग्रहणमेव लिङ्गमिति उत्तराणि मेघस्यैवेति। यदा पर्वतस्तदा उपेत्य रमन्ते ह्यस्मिन् अभ्राणीति, मेघपक्षे आप इति। अभिविधिपक्षे 'नेदं निर्वचनम्'—इति। जनेर्विधीयमानो डप्रत्ययः (३, २, ९७) बाहुलकाद्रमेर्भवति (३, ३, १), कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरं (६, २, १३९) बाधित्वा अव्ययपूर्वपदप्रकृ

तिस्वग्त्वम् (६, २, २)। 'उपरो जलधापनात्'—इति माधवः। वपेः कृदरादित्वात् (उ० ५, ४२) अरन् द्रष्टव्यः, सम्प्रसारणं च बाहुलकात्। 'उपरमिव हि नभस्यभ्रं भूमौ पर्वतश्च'—इति माधवः। अत्र श्रीमोजः—'पृपिपटिद्देविकेविचपिवचिभ्य-श्चित्'—इत्यलच्प्रत्ययः। व्युत्पत्यनवधारणाभावगृह्यते। मेघ-नामत्वे तत्र—"एषामुपरा उदायन् (ऋ० सं० ७, ७, १६, ३)"—इति निगमः। पर्वतानां चान्वेषणीयः "हिरण्यनिर्णिगुपरा न ऋष्टिः (ऋ० सं० २, ४, ४, ३)"—इति। अत्र 'उपरा अस्माच्छिला दीर्घाः'—इति माधवः॥

(२०) चमसः। 'चमु अदने (भ्० प०),' 'अत्यविचमि (उ० ३, ११३)'—इत्यादिना असच्॥

(२१) अहिः। 'इण् गतौ (अदा० प०),' 'इन् सार्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'—इतीन्प्रत्ययः, गुणायादेशौ, यकारस्य हकारो व्यत्ययेन। पत्यन्तरिक्षे। अयतेरेव गत्यर्थादिन्प्रत्यये पूर्ववद् व्यत्ययः। यद्वा, 'अहि गतौ' भौवादिकः (आ०), इन्प्रत्ययः, बाहुलकान्नलोपः, आगमानित्यत्वाद्वा नुम् न क्रियते। इत्यत्य-याधिकारे श्रीमोजदेवः—'आहिकुण्डलिकं पात्रलोपश्च'—इति। यद्वा, 'अह्व्याप्तौ' स्वादिः (प०), इन्, अह्नोति व्याप्नोति आकाशं दिगन्तराणि वा। यद्वा, आङ्पूर्वाद्धन्तेः हिंसार्थाद् गत्यर्थाद्वा 'आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च (उ० ४, १३३)'—इति इण्प्रत्ययो डिच्च, आ समन्तात् हन्ति भिनत्ति उष्णामभि-मुख्येन, हन्ति गच्छत्यन्तरिक्षम्। यद्वा, केवलादेव हन्तेर्बाहुल-

कादिणप्रत्ययो डिच्च, हिः हन्ता, नहन्ता अहन्ता, अहिः अहिंसक इत्यर्थः, सर्वदा लोकस्य घर्मप्रदत्वात्। माधवेन तु—'त्वमपामपिधाना वृणोरप (ऋ० सं० १, ४, ६, ४)'—इत्यत्र वाजसनेये तु 'सोऽग्निषोमावभिसम्बभूव सर्वां विद्यां सर्वयशः सर्वमन्नाद्यं सर्वां श्रियं स यत्सर्वमेतत् समभवत् तस्मादहिः'—इति प्रदर्शितम्। तेन चैतद् युक्तम्। अहिशब्दोऽसुरवाचक आद्युदात्तः। "यदिन्द्राहन्प्रथमजामहीनाम् (ऋ० सं० १, २, ३६, ४)"—इति। नदीवचनोऽन्तोदात्तः। 'इन्द्रोदक्षं परि जानादहीनाम् (ऋ० सं० ८, ७, २७, ६)"—इति। अत्राहिशब्दमेघनामत्वेनाभाषयत् स्कन्दस्वामी। "दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् (ऋ० सं० १, २, २८, १)"—इति निगमः॥

(२२) अभ्रम्। 'अभ्र गतौ (भू० प०),' पचाद्यच् (३, १, १३४)' अभ्रन्त्यन्तरिक्षे। आपो रातीति वा अप्शब्दे कर्मण्युपपदे रातेर्दानार्थात् 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३),' पकारस्य भकारो व्यत्ययेन (३, ४, ८८)। न भ्रंस्यत्यस्मादापो वर्षासमयादन्यत्रेति वा। यदुक्तं—'न भ्रंश्यति यतस्तेभ्यो जलान्यभ्राणि नान्यतः'—इति नञ्पूर्वात् 'भ्रंसु भ्रंसु अधःपतने (भू० आ०)'—इत्यस्मात् 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)' —इति डप्रत्ययः। न भ्राजते वा वर्षासु मलिनवर्णत्वात् भ्राजतेः पूर्ववत् डः (३, २, १०१)। "भ्राणः पिन्वविद्युद्येव रोदसी (ऋ० सं० ७, ३, १, ३)"—"उदभ्राणी व स्तनयन्नियर्त्ति (ऋ० सं० ४, ७, १८, २)"—इति च निगमौ॥

(२३) वलाहकः। वलाकाभिर्हीयते गम्यते इति वलाहकः। वारिवाहको वा, पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०६) वर्णागमादिना साधुः। वराहशब्दाद्वा 'संज्ञायां कन् (५, ३, ७५)', रेफस्य लकारः। उक्तार्थो वराहशब्दः (१३), विकृतस्यासाधारण्यार्थत्वप्रदर्शनाय पुनः पाठः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२४) मेघः। 'मिह सेचने (भृ० प०)', पचाद्यच् (३, १, १३४), न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम्। मेहति सिञ्चति वर्षणभूमि मेघः। "वृषा वा मेघो वृषणा पीपाय (ऋ० सं० २, ४, २६, २)"—"असिन् मेघे विद्युत्"—इति च निगमौ॥

(२५) दृतिः। 'दृ विदारणे (क्र्या० प०)'। 'दृणातेर्ह्रस्वश्च (उ० ४, १७८)'—इति तिप्रत्ययः, ह्रस्वविधानसामर्थ्याद्गुणो न भवति। दीर्यते इन्द्रेण, दृतिवत् स्यन्दमानाधारत्वाद्वा। "दृतिं सुकर्ष विषितं न्यञ्चम् (ऋ० सं० ४, ४, २८, २)"—"ईशानो विसृजद् दृतिम्"—इति च निगमौ॥

(२६) ओदनः। उदकशब्दे उपपदे ददातेः 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ४, ११३)'—इति कर्त्तरि ल्युट्। ओदनः उदकदानेत्यर्थः। यद्वा, 'उन्दी क्लेदने (रु० प०)', 'उन्देर्नलोपश्च (उ० २, ७२)'—इति युच्प्रत्ययः, गुणः, उनत्ति वनभूमिम् ओदनः। "धारयत् पक्वमोदनम् (ऋ० सं० ६, ५, ३२, १)"—इति निगमः॥

(२७) वृषन्धिः। 'वृष सेचने (भृ० प०)', 'कनिन्युवृषीत्यादिना (उ० १, १५४) कनिन्, वृषा। शत्रुजयादिसाधनत्वात् कामानां वर्षिता यतः, स निर्धीयतेऽस्मिन्निन्द्रेण प्रहारकाले 'कर्मण्यधिकरणे

च. (१, ३, ६३)'—इति किप्रत्ययः नलोपाभावश्छान्दसः। "धिपन्धिः"—इति केषुचित् कोशेषु दृष्टम्। तदा धिर्णं जलं धीयतेऽस्मिन्निति निर्वाहः, मुगागमश्छान्दसः। निगमदर्शनान्निर्णयः। "वृषा वृषन्धिश्चतुरश्रिमस्यन् (ऋ० सं० ३, ६, ७, २)"—इति मेघनाम न वेति सन्दिग्धम्॥

(२८) वृत्रः। वृणोतेराच्छादनार्थात् (स्वा० प०) 'अमिचिमिमिदिशंसिभ्यः क्त्रः (उ० ४, १५६)'—इति क्त्रप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति, आच्छादयति ह्यसौ कृत्स्नं नभः। वर्त्ततेर्वा गतिकर्मणः (निघ० २, १४) 'स्फायितञ्चिवञ्चि (उ० २, १२)'—इत्यादिना रक्प्रत्ययः, गच्छत्यसौ कृत्स्नं नभः। वर्द्धतेर्वा वृद्ध्यर्थात् (भू० आ०) बाहुलकात् त्रन्, धकारस्य तकारो व्यत्ययेन, वर्द्धते हि वर्षासु मेघः। ब्राह्मणोक्ता एवामी त्रयोऽप्यर्थाः—'यदिमांल्लोकानवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्, स इषुमात्रमिषुमात्रं विष्वङ् अवर्द्धत'—इति। "वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः (ऋ० सं० १, ४, २६, २)"—"अहन्यद् वृत्रतरं विवेरवः (ऋ० सं० ८, ८, ५, १)"—इति च निगमौ॥

(२९) असुरः। 'असु क्षेपणे (दि० प०)', 'असिमसोरुरन् (उ० १, ४२,—४३)'—इति उरन्प्रत्ययः, अस्यति क्षिपतिभूमौ जलम्। यद्वा, अस्यते क्षिप्यते स्थाने इन्द्रेण वर्षार्थम्। यद्वा, अस्ति (भू० प०) तिष्ठति 'शॄस्वृस्निहित्रप्यसिवसि (उ० १, १०)'—इत्यादिना उप्रत्ययः असुः। शरीरे वसतीत्यसुः प्राणः। 'प्राणा वा आपः'—'पानीयं प्राणिनां प्राणाः'—इत्यादिदर्शनात्

असुरशब्देनात्र जलमुच्यते। तद्राति, 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)'। यद्वा, जलवान् प्राणवान् वा। रो मत्वर्थीयः। यद्वा, 'अस गतिदीप्त्यादानेषु' औणादिकः स्वरितेत्, पूर्वस्मादेव सूत्रादुरन्। असति गच्छत्यन्तरिक्षे, दीप्यते स्वयम्, आदत्ते वा जलं वर्षितुम्। यद्वा, 'सुर ऐश्वर्ये (तुदा० प०)', इगुपधलक्षणः कः (३, १, १३६), सुरतीति सुरः ईश्वरः स्वतन्त्र इत्यर्थः, असुरः अनीश्वरः, इन्द्रादिपरतन्त्र इत्यर्थः। "दिवः श्येनासो असुरस्य नीलयः (ऋ० सं० ८, ४, २४, १)"—"दीर्घाधियो रक्षमाणा असुर्यम् (ऋ० सं० २, ७, ६, ४)"—इति च निगमौ॥

(३०) कोशः। कोशतेः शब्दकर्मणः (भ्वा० प०) पचाद्यचि (३, १, १३४) पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) रेफलोपः कोशः। मेघो हि गर्जितलक्षणं शब्दं करोति। कुष्यतेर्वा वृद्ध्यर्थात् (दि० प०) असिद्धे घार्थे पकारस्य शकारः, इगुपधमवर्द्धतीत्युक्तम्। कोशतिश्छादनार्थ इति माधवः, पूर्ववदच्छादयत्यर्सो एतन्नं नभः। जलस्य कोशस्थानीयत्वात् कोश इत्यन्ये। यद्वा, 'कु शब्दे (तु० आ०)', 'कुदापाभ्यः शः'—इति श्रीभोजदेवः, कौति (अदा० प०) गर्जितशब्दं करोति कोशः। "दिव्या न कोशासो अभ्रवर्षाः (ऋ० सं० ७, ३, २४, ६)"—"महान्तं कोशमुदचा नि षिञ्च (ऋ० सं० ४, ४, २८, ३)"—इति च निगमौ॥

इति त्रिंशन्मेघनामानि॥ १०॥

श्लोकः (१)। धारा (२)। इला (३)। गौः (४)। गौरी (५)। गान्धर्वी (६)। गभीरा (७)। गम्भीरा (८)। मन्द्रा (९)। मन्द्राजनी (१०)। वाशी (११)। वाणी (१२)। वाणी ची (१३)। वाणः (१४)। पविः (१५)। भारती (१६)। धमनिः (१७)। नालीः (१८)। मेना (१९) मेलिः (२०)। सूर्य्या (२१)। सरस्वती (२२)। निवित् (२३)। स्वाहा (२४) वग्नुः (२५)! उपब्दिः (२६)। मायुः (२७)। काकुत् (२८)। जिह्वा (२९)। घोषः (३०)। स्वरः (३१)। शब्दः (३२)। स्वनः (३३)। ऋक् (३४)। होत्रा (३५)। गीः (३६)। गाथा (३७)। गणः (३८)। धेना (३९)। ग्नाः (४०)। विपा (४१)। नना (४२)। कशा (४३)। धिषणा (४४)। नौः (४५)। अक्षरम् (४६)। मही (४७)। अदितिः (४८)। शची (४९)। वाक् (५०)। अनुष्टुप् (५१)। धेनुः (५२)।

वल्गुः (५३)। गल्दा (५४)। सरः (५५)। सुपर्णी (५६)। बेकुरा (५७)। इति सप्तपञ्चाशद्वाङ्नामानि ॥ ११ ॥

'आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः। वाङ्नामान्युत्तराणि (निरु० २, २१—२३)'—इति भाष्ये स्कन्दस्वामी—'उत्तराणि सप्तपञ्चाशत् श्लोकेत्यादीनि वाङ्नामानि। उच्यते इति वाक् इन्द्रियम्, तत्कार्य्यः शब्दोऽप्युच्यते इति वाक्, उच्यतेऽनया अर्थः इतिवाक् स्तनयित्नुलक्षणा माध्यमिका साप्युच्यते इति वाक्, तदधिष्ठात्र्यपि देवता वागिष्यते। सर्वतश्चास्या मेघहेतुत्वात् मेघनामभ्य उत्तराणीति। स च वाक्शब्दः 'वचि परिभाषणे (अदा० प०)'—इत्यस्मात् धातोः 'क्विब्वचि (उ० २, ५४) (३, २, १७८ वा०)'—इत्यादिना क्विपि दीर्घत्वे सम्प्रसारणाभावे च व्युत्पन्नः॥

(१) श्लोकः। 'श्रु श्रवणे (भू० प०)' 'इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन् (उ० ३, ४३)'—इति कन्प्रत्ययो बाहुलकाद्भवति, गुणः, कपिलकादित्वात् लत्वम्, श्रूयते इति श्लोकः। यद्वा, श्लोक सङ्घाते (भू० आ०)' 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः (३, ३, ११८)' श्लोक्यते पद्यते रूपेण संहन्यते कविभिः श्लोकः 'पद्ये यशसि च श्लोकः (३, ३, २)'—इत्यमरसिंहः। "ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द (ऋ० सं० ३, ६, १०, ३)"—"श्लोको न यातामपि वाजो अस्ति (ऋ० सं० ७, ६, ११, ५)"—इति निगमौ॥

(२) धारा। 'धृञ् धारणे (भ्वा० उ०)' 'हेतुमति च (३, १, २६)'—इति णिचि 'एरजण्यन्तानाम् (३, ३, ५६ भा०)'—इत्यस्याप्रापकत्वादेव 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति कर्त्तरि भवति। यद्वा, धारेः पचाद्यच् (३, १, १३४) लोकस्य धारयित्री वर्षप्रदानेन स्वाभिधेयस्य वा। "तनसहे सुधारा"—इत्यत्र धारा वाङ्नाम। "धारा सुतस्य रोचते (ऋ० सं० ७, ५, २४, १)"—"यः ससाद धारामृतस्य (ऋ० सं० २, ५, ११, ४)"—इति च निगमौ॥

(३) इला। 'इल क्षेपणे (तु० प०)' इगुपधेभ्यः (३, १, १३५) कर्त्तरि विधीयमानः कः प्रत्ययो बाहुलकात् (३, ३, १) भवति। क्षिप्यते प्रेर्य्यते उच्चारणकाले प्राणेन, इला। बहुचानां लत्वमुक्तं पूर्वमेव। यद्वा, 'ईड़ स्तुतौ (अदा० आ०)'—'ञि इन्धी दीप्तौ (रु० आ०)' आभ्यां पूर्ववत् कः (३, ३, १), पृषोदरादिः (६, ३, १०६), ईड़ति स्तूयतेऽनया देवता ईड्यते वा या स्वयं देवतात्वात्, दीपयति प्रयोक्तारं, दीप्यते वा स्वेन तेजसा। यद्वा, इलेत्यन्ननाम (निघ० २, ७), अकारो मत्वर्थीय यजमानानां देयेनान्नेन हविर्लक्षणेन वा तद्वती इला। "अभि न इला यूथस्य माता (ऋ० सं० ४, २, १६, ४)"—इति निगमः॥

(४) गौः। व्याख्याता पृथिवीनामसु (१)। गच्छति यज्ञेष्वाहुता, गीयते स्तूयते वा। "अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता (ऋ० सं० २, ३, १६, ४)"—इति निगमः॥

(५) गौरी। रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः (निघ० १, १६)। "ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्रकुत्र (उ० २, २७)'—इत्यादिसूत्रेण रन्-प्रत्ययान्तो गौरशब्दो निपातितः, तस्माद्रुचेर्धातोर्गादेशः, 'षिद्गौरादिभ्यश्च (४, १, ४१)'—इति ङीष्। स्वया दीप्त्या ज्वलति वाग्देवतात्वात्। यद्वा, 'गूरी उद्यमने (तु० आ०)' अस्मात् इति पूर्ववन्निपातनादुकारस्योकारः, रोरि (८, ३, १४)'—इति रेफलोपः, ङीष्, गुरते उद्यच्छति सममभिप्रेयम्, उद्यमनं चारु प्रकाशनम्। यद्वा, 'गुङ् अव्यक्ते शब्दे (भ्वा० आ०)'—इत्यस्मान्निपातनादिनि वृद्धिः, गवते गर्जितलक्षणमव्यक्तशब्दं करोतीति गौरी। यद्वा, शुक्लवर्णत्वात् गौरी, 'भास्वत्कपर्दां शशिकलामिन्दुकुन्दावदाताम्'—इत्याचार्य्याः, 'सर्वशुक्ला सरस्वती'—इति च। "गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती (ऋ० सं० २, ३, २२, १)"—"सोमो गौरी अधिश्रितः (ऋ० सं० ६, ७, ३८, ३)"—इति च निगमौ॥

(६) गान्धर्वी। गविगन्ध्यन्वयो धः। 'धृञ् धारणे (भ्वा० उ०)'—इत्यस्मात् गोशब्दोपपदाद्वा वप्रत्ययः, उपपदस्य गवा-देशः, गन्धर्वः, गौर्यस्य धारयितेन्द्रः। भोजस्तु 'गन्धेरप् च'—इति वप्रत्ययोऽधिरतः धातोरागमश्च। गन्धयते अर्दयति हिनस्ति देवशत्रूनिति गन्धर्वः इन्द्रः। 'गन्ध अर्दने'—इति धातुधुरादिरात्मनेपदी। 'तस्येदम् (४, ३, १२०)'—इत्यण्, ङीप् (४, १, १५), गान्धर्वी। ऐन्द्रीत्यर्थः। तथाच ब्राह्मणम्—'अथ यैन्द्रयावर्पी तस्यै यदैन्द्रं पदं तेन वाचं कल्पयति, वाग्घैन्द्री

(ऐ० ब्रा० २, ४, २)'—इति। यद्वा, गन्धर्वा देवानां गायकाः, तेषामियम्। तथाचैतरेयब्राह्मणे—'सोमो वै राजा गन्धर्वेष्वासीत् (ऐ० ब्रा० १, ५, १)'—इत्यस्मिन् खण्डे वाचो गान्धर्वीत्वं स्पष्टमुक्तम्। 'तां गन्धर्वोऽवदीत् गर्भे अन्तः'—इति श्रुतिः। "अग्निर्गान्धर्वी पथ्या ऋतस्य (ऋ० सं० ८, ३, १५, ६)"—इति निगमः॥

(७) गभीरा, (८) गम्भीरा। भीयन्ति (द्वि० प०) रातीति (अदा० प०) भीराः। 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)'। गवां भीरा गभीरा गम्भीरा च। पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) गोशब्दस्य गभावो गम्भावश्च। स्तनयित्नु-लक्षणा हि माध्यमिका वाक् श्रूयमाणैव सर्वप्राणिनां भियमादधाति। यद्वा, उणादौ गभीरादिसूत्रेण गमेर्धातोरीरन्प्रत्यये नुमागमो मकारस्य विकल्पेन लोपो निपात्यते (उ० ४, ३४)। गच्छति यशो, अधिगम्यते वा ज्ञानार्थिभिः। यद्वा, 'गाधृ प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे च' भौवादिकः (आ०), अस्य ह्रस्वत्वं भश्चान्तादेशः, वा च नुम् निपात्यते। प्रतिष्ठिता स्वस्मिन् स्थाने, लिप्स्यन्ते वा प्राणिभिः, ग्रथिता वा गद्यपद्यादिरूपेण गभीरा गम्भीरा। उभयोरपि निगमावन्वेषणीयौ॥

(९) मन्द्रा। 'मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु (भ्वा० आ०)'। गच्छति स्वाभिधेयं प्राप्नोति, अधिगम्यते वा तदर्थिभिः। "स मन्द्रया च जिह्वया (ऋ० सं० ५, २, २२, ३)"—इति निगमः॥

(१०) मन्द्राजनी। मन्द्रशब्दो व्याख्यातः। 'अज गतिक्षेपणयोः (भू० प०)' ल्युट्। मन्द्रमजनं गमनं क्षेपणं प्रेरणमुच्चारणं वा यस्याः सा मन्द्राजनी, पिप्पल्यादिषु द्रष्टव्यम्। (४, १, ४१ ग०) "मन्द्राजनी चोदते अन्तरासनि (ऋ० सं० ७, २, २१, २)"—इति निगमः॥

(११) वाशी। 'वाशृ शब्दे' दैवादिकः (आ०)'। 'वसिवपियजिराजिव्रजिध्वजिसद्दिहनिकमिवाशिवादिवारिभ्य इञ् (उ० ४, १२१) कर्मणि कारके वा दृश्यते, वाशिः। 'कृदि कारादक्तिनः (४, १, ४५ वा०)'—इति ङीप्, वाशी। "ते वाशी मन्त इष्मिणो अभी रवो (१, ६, १३, ६)"—वाशीमिस्त क्षताश्मन्मयीभिः (ऋ० सं० ८, ५, १६, ४)"—इति च निगमौ॥

(१२) वाणी। 'वणि शब्दे (भू० प०)'। वाहुलकादिञ् (उ० ४, १२१) (३, ३, १), ङीप् (४, १, ४५ वा०)। "वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः (ऋ० सं० ३, २, २, १०)"—"अभिवाणीॠषीणां सप्त नूषत (ऋ० सं० ७, ५, ६, ३)"—इति निगमौ॥

(१३) वाणीची। वाणीं स्तुतिरूपां वाचमञ्चति गच्छतीति विगृह्य 'ऋत्विग्दिगित्यादिना (३, २, ५६) क्विनि, नलोपे, 'अचः (६, ४, १३८)'—इत्यकारलोपे 'अञ्चतेश्चोपसङ्ख्यानम् (४, १, ६ वा०)'—इति ङीप्। "रथे वाणीच्याहिता (ऋ० सं० ४, ४, १५, ४)"—इति निगमः॥

(१४) वाणः। वण्यते शब्द्यते वाणः। "अकर्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम् (३, ३, १९)'—इति घञ्। यद्वा वणनं शब्दनं

चाणः, भावे घञ् (३, ३, १८), अर्शआदित्वादच् (५, २, १२७)। स्तुतिमती हि वाक्। "दोना दक्षा वि दुहन्ति प्र वाणम् (ऋ० सं० ३, ६, १२, ४)"—इति निगमः ॥

(१५) पविः। 'पूञ् पवने (क्र्या० उ०)' 'अच इः (उ० ४, १३४)'—इति इप्रत्ययः। पुनाति हि वाक्। 'पावका नः सरस्वती (ऋ० सं० १, १, ६, ३)'—इति मन्त्रः। पूयते वा सङ्कीर्त्तनादिना, 'वाचं शौरिकथालापप्रसङ्गे पुनीमहे' इत्युक्तेः। पूयतेऽनयेति वा शुद्धिकरणं हि वाक्। 'पवित्रं हि वाग् विदुषाम्'—इति माधवः। "वाणस्य चोदया पविम् (ऋ० सं० ७, १, ७, १)"—इति निगमः ॥

(१६) भारती। 'डु भृञ् धारणपोषणयोः (भू० उ०)' 'भृमृद्दृशियजिपर्विपच्यमितमिनमिहर्यिभ्योऽतच् (उ० ३, १०७)'। भरतशब्दात् 'प्रज्ञादिभ्यश्च (५, ४, ३८)'—इति स्वार्थिकोऽण्, ङीप् (४, १, १५)। बिभर्त्ति जगदुपवर्णप्रदानेन, स्वाभिधेयं वा भ्रियते प्राणिभिः व्यवहारसाधनत्वेन। अथवा 'अग्निर्भरतः, प्राणो भूत्वा हवींषि बिभर्त्ति'—इति वाजसनेयकम्, तदीया भारती। तथाच 'अग्निर्वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत्'—इत्युपनिषत् (ऐ० उ० १, ३)। अथवा 'भरतः (निघ० ३, १८)'—इति ऋत्विङ्नाम, तदीया, स्तुतिसाधनत्वात् भारती। "आ भारती भारतीभिः सजोषा (ऋ० सं० २, ८, २३, ३)"—इति निगमः ॥

(१७) धमनिः। धमतिर्गतिकर्मा (निघ० २, १४,), 'अर्त्ति-सृधृधम्यम्यश्यवितृभ्योऽनिः (उ० २, १५)'—इत्यनिप्रत्ययः।

गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः। गम्यते ज्ञायते अनया अर्थः, ज्ञायते वा विद्वद्भिः साध्वसाधुविभागेन। यद्वा, 'धमति'—इति वधकर्मसपि पठ्यते (निघ० २, १६)। हन्यतेऽनया शापाक्रोशादिरूपयेति। तथाच 'वज्र एव वाक्'—इति ब्राह्मणम् (ऐ० ब्रा० २, ३, २)। 'वाक्सायका वदनान्निःसरन्ति यैराहताः'—इति च महाभारतम्। "इन्द्रेषितां धमनिं पप्रथन्नि (ऋ० सं० २, ६, ४, ३)"—इति निगमः॥

(१८) नालीः। 'नल गन्धे (भू० प०)' 'वसिवपियजिराजिव्रजि (उ० ४, १२१)'—इत्यादिना विहितः इञ्प्रत्ययो बाहुलकाद् भवति, 'कृदिकारात् (४, १, ४५ वा०)'—इति ङीप् व्यत्ययेन सोर्विसर्जनीयः। 'गन्ध अर्दने (चु० आ०)' 'अर्द हिंसायाम् (भू० प०)' इति पठ्यते। गन्धनं हिंसात्मकं सूचनम्, सूचयति परमर्हाणि। "श्यमस्य धम्यते नालीः (ऋ० सं० ८, ७, २३, ७)"—इति निगमः॥

(१९) मेना। 'मान पूजायाम् (चु० आ०)'—इत्यस्मात् 'बहुलमन्यत्रापि इनच् भवति (उ० २, ४६)'—इति वचनादिनच्, बहुलग्रहणान्नलोपः। पूज्यतेऽनया गुर्वादिरुपदेशवाक्येन, पूज्या वा देवतात्वात्। आन्मेनां कृण्वन्नच्युतो भुवद्गोः (ऋ० सं० ८, ६, १०३)"—इति निगमः। 'मेनां गर्जितशब्दम्'—इति माधवः॥

(२०) मेलिः। सम्पर्कार्थो धातुः (चु० आ०)। पूर्ववत् बाहुलकादिन्। सम्पृक्ता ह्यर्थेन वाक्। तथाच—'वागर्था-

विव सम्पृक्तौ'—इति (रघौ १, १) कालिदासः। "मेलिं मदन्तं पित्रोरुपस्थे (ऋ० सं० ३, १, २७, ४)"—इति निगमः। मत्वर्थीयस्य लुकि वाग्मिनमित्यर्थः। "मेलिः स्यात् त्राणयोजनात्"—इति माधवः॥

(२१) सूर्या। सर्त्तेर्गत्यर्थात् (भू० प०), सुवतेर्वा प्रेरणार्थात् (तु० प०) 'राजसूयसूर्य्य (३, १, ११४)'—इत्यादिना निपातनात् क्यपि सर्त्तेरुत्वं सुवतेर्वा रुड़ागमः। सति गच्छति स्तोतॄन् प्रति, कर्णशष्कुलिं वा सुवति प्रेरयति चोदनारूपा पुरुषादीनिदं कुर्विति। यद्वा, सुपूर्वादीरतेः 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)"—इति कर्मणि क्यपि निपातनाद्रूपसिद्धिः। सुष्ठु ईर्य्यते उच्चार्य्यते इति सूर्य्या। यद्वा, 'षु प्रेरणे (स्वा० उ०)' 'सुसूधीगृधिभ्यः क्रन् (उ० २, २३)'—इति क्रन्प्रत्ययः। प्रेर्य्यते उच्चारणकाले प्राणेन सूरा 'छन्दसि स्वार्थे'—इति यत्प्रत्ययः, सूर्य्या। यद्वा, सूरयो मेधाविनः, नानर्हति 'छन्दसि च (५, १, ६७)'—इति यत्प्रत्यः। यद्वा, सूरिषु साधुः 'तत्र साधुः (४, ४, ९८)'—इति यत्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२२) सरस्वती। सर्त्तेरसुन् (उ० ४, १८४) सरः। गद्यपद्यादिरूपेण प्रसरणमस्यास्तीति 'अस्मायामेधास्रजो विनिः (५, २, १२१)' 'बहुलं छन्दसि (५, २, १२२)'—इत्युक्ते मतुपि ङीप्। यद्वा, सर इत्युदकनाम (निघ० १, १२)। सर्त्सस्तद्वती धृष्ट्यधिदैवतात्वादुदकवती हि माध्यमिका वाक्। सैव वाग्मीदी सरस्वती। तदुक्तं भाष्यकारेण—'तत्रसरस्वती-

त्येतस्य नदीवन् देवातावच्च निगमा भवन्ति (निरु० २, २३)' —इत्यादिना। "पावका नः सरस्वती (ऋ० सं० १, १, ६, ३)"—इति निगमः देवतायाः। "इयं शुष्मेभिः (ऋ० सं० ४, ७, ३०, २)"—इत्येषा नद्याः॥

(२३) निविन्। 'विद ज्ञाने (अदा० प०)', निपूर्वः 'सत्सूद्विषद्रुहदुह (३, २, ६१)'—इत्यादिना क्विपि [अन्तर्णीतण्यर्थश्चात्र विदिः] नितरां वेदयति ज्ञापयति समभिधेयम्। "तान् पूर्वया निविदा हूमहे वयम् (ऋ० सं० १, ६, १५, ३)" —इति निगमः॥

(२४) स्वाहा। यस्य नाम्नो याद्दङ्निर्वचनं द्रष्टं तत्सर्वं तद्रूपेणैव लिख्यते। अत्र निरुक्तम्—'स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा (निरु० ८, २०)'—इति। अस्य स्कन्दस्वामी—स्वाहेत्येतत् स्वाहाकृतिशब्दस्य पूर्वपदं स्वाहाकारान्तो होममन्त्राणां कर्त्तव्यः, 'न ह वै आहुतयो देवान् गच्छन्ति य अवषट्कृता वा अस्वाहाकृता वा भवन्ति (शत० ब्रा० ६, ३, ६, १४)'—इतिश्रुतिः। स्वाहाकारस्य सम्प्रदानत्वेन मन्त्रान्तेऽवश्यम्भावित्वात्। अयमर्थः यस्यान्ते श्रूयते स होममन्त्रः शोभनमर्थमाह। अथवा प्रजापतेः स्वा आत्मीयता वागाहेति स्वाहाकाररूपा वाक् प्रजापतिरुग्रेत्यर्थः। अथवा स्वं प्राहेति यजमानस्य, स्वं हविः देवतायै दत्तं तदुद्देशेन त्यागात, तस्य यजमानो सोवं प्राहेति स्वाहा, सम्प्रदानत्वं स्वाहाकारस्य स्पष्टमनेन प्रकारेण दर्शितं

स्वाहुतमित्यादिना। अथवा यदनेन स्वाहाकारेण जुहोति तदेव सुष्ठुमर्य्यादया जुहोतीति, एवञ्च सति पूर्वकाणि निर्वचनानि ब्रूमः। इदन्तु जुहोतेरिति। अत्र भास्करमिश्रः—'स्वयं सरस्वती आह ब्रूते'। 'स्वैव ते वागित्यब्रवीत्'—इति ब्राह्मणम्। स्वयमेवाहेत्यस्यार्थस्य द्योतकोऽयं निपातः प्रदेशान्तरेऽपि विमृश्यन्तसमुदायात्मनिपातः स्वाहेति। संस्कारविशेषानवधारणाचावगृह्यते। अत्र क्षीरस्वामी—'सुष्ठु आह्वयति स्वाहा'। अत्र स्वाहाशब्दो नाव्ययम् अप्यग्निजायावाचित्यमित्यर्थः। भाष्ये तु स्वाहाशब्दस्य वाङ्नामत्वेनाभिव्यक्तेर्द्वानि निर्वचनानि लिखितानि, तेषु यद्योच्छितं तद् गृह्णन्तु विद्वांसः। तस्याः वाचः सृष्टौ पृथिवी चाग्निश्चेति वाचोऽग्नेश्च कारणकार्य्यभावः श्रूयते। 'अग्निर्वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत् (ऐ० उ० १, ६)' —इति। तस्मादग्नेर्वाचश्च सम्बन्धात् अग्नायी स्वाहा वागित्युच्यते। वाति वातात्मत्वेन वागुच्यते इति सन्देहः। निगमः सुलभः स्वाहाकारपक्षे, अन्यत्रान्वेषणीयः॥

(२५) वग्नुः। 'वच भाषणे (अदा० प०)', 'वचेर्गश्च (उ० ३, ३२)' इति नुप्रत्ययः, चकारस्य गकारश्च। वग्नुः वाचा समानोऽर्थः। "वग्नु मियर्त्ति यं विदे (ऋ० सं० ६, ८, ४, १)" —"इन्द्रस्येव वग्नुरा शृण्व आजौ (ऋ० सं० ७, ४, १३, ३)" —इति च निगमौ॥

(२६) उपब्दिः। उपपूर्वात् पदेर्गत्यर्थात् (दि० आ०) 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'—इतीन्प्रत्ययो बाहुलकादु-

पघालोपः, 'न पदान्तद्विर्वचन (१, १, ५८)'—इत्यनेन जश्विधिं प्रति स्थानिवद्भावनिषेधात् 'झलां जश् झशि (८, ४, ५३)'—इति पकारस्य बकारः। उप समीपे भक्तानां गच्छति, उप आचार्यसमीपे गम्यते इति वा। यद्वा, उपपूर्वात् ददातेः (जु० उ०), द्यतेः (दि० प०), दयतेः (भ्० आ०) वा 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति बहुलवचनात् 'उपसर्गे घोः किः (३, ३, ९२)'—इति किप्रत्ययः कर्त्तरि भवति बकारश्चोपजनः। उपेत्य ददातीत्यभिलषितम्, प्रयोक्तृणां, खण्डयत्यज्ञानं तर्कादिसमये प्रतिवादिनां वा, रक्षति भक्तानिति वा उपब्दिः। "आयोपयन्तः पृथिवीमुपब्दिभिः (ऋ० सं० ८, ४, २१, ४)—उपब्दिरयत्तिसोमः (ऋ० सं० ७, ३, २४, ५)"—"शृण्व आयता मुपब्दिः (ऋ० सं० २, ४, ६, २)"—इति निगमा ॥

(२७) मायुः। 'डु मिञ् प्रक्षेपणे (क्र्या० उ०)'। कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् (उ० १, १)', 'मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च (६, १, ५०)'—इत्यात्वम्, 'आतो युक् चिण्कृतोः (७, ३, ३३)'—इति युक्। क्षिप्यते प्रेर्यते उच्चार्यते इति मायुः, प्रक्षिपति वृष्ट्युदकं भूमाविति वा। "मिमाति मायुं ध्वसनावधिश्रिता (ऋ० सं० २, ३, १६, ५)"—इति निगमः ॥

-(२८) काकुत्। 'कैगैरै शब्दे (भ्० प०)'। सम्पदादित्वात् (३, ३, ९४ वा०) क्विप्। कालं शब्दनं करोतीति का, मृगय्वादित्वात् कुः (उ० १, ३६) बाहुलकात् तकार उपजनः। यद्वा, 'कक वक लौल्ये (भ्० आ०)', 'मृगोरुतिन् (उ० १,

९१)'—इत्येष बाहुलकात् (३, ३, १) असात् भवति णिच काकुत्। ककते चञ्चला भवति एकस्मिन्नर्थे न प्रतितिष्ठती-त्यर्थः, तथाहि शब्दा अनेकार्था बहवः, एकार्थाश्चकाकादिनाऽभि-धीयमाना अनेकार्था भवन्ति। ककुदुच्चस्थानमस्यास्तीति काकुत्। मत्वर्थीयस्य लुक्, छान्दसो दीर्घः, सर्वथा पृषोदरादिरयं शब्दः। "या ते काकुत् सुकृता या वरिष्ठा (ऋ० सं० ४, ७, १३, २)" —इति निगमः।

(२९) जिह्वा। 'शेवयह्वजिह्वाग्रीवाप्वामीवा'—इतिनिपाताः। 'लिह आस्वादने (अदा० उ०)', वप्रत्यये, अस्यादेर्जकारो निपात्यते। लेढ्यास्वादयत्यनया ग्रन्थविषयावसारान्। यद्वा, आह्वयतेः (भू० उ०) जुहोतेः (जु० प०) वायं यङन्तस्य कः, सम्प्रसारणम् 'अभ्यस्तस्य च (६, १, ३३)'—इति, सम्प्रसारणे च 'न धातुलोप आर्द्धधातुके (१, १, ४)'—इति गुणनिषेधादुवङादेशे रूपम्। जोहुवाति पुनः पुनराह्वयति शब्दं करोति रसान् वादत्ते जुहोत्यस्यात्मनि, जोहुवा सति ओकारस्यै-कारादेशे उकारलोपे च जिह्वा। "पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् (ऋ० सं० ३, ७, २६, १)"—"अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वम् (ऋ० सं० २, ५, १२, १)"—इति च निगमौ॥

(३०) घोषः। 'घुष शब्दार्थः (भू० प०)', 'हलश्च (३, ३, १२१)'—इति घञ्। घुष्यते शब्द्यते घोषः। "उतो पितृभ्यां प्रविदानु घोषम् (ऋ० सं० ३, १, २, १)"—"इन्द्रे घोषा असृक्षत (ऋ० सं० ६, ४, ४३, १)"—इति च निगमौ॥

(३१) स्वरः । 'स्वृ शब्दोपतापयोः (भू० प०)', पुंसि सञ्ज्ञायां घः (३, ३, ११८) । स्वर्यते शब्द्यतेऽनेन देवता, उपतप्यतेऽनया मर्मस्पृक्प्रयुक्तयेति वा । स्वरतिरर्चतिकर्मा वा (निघ० ३, १) । स्वर्यते स्तूयते देवतात्वात् । 'गोचरसञ्चर (३, ३, ११९)'—इत्यत्र चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद् घः । यद्वा, स्वरति देवतामिन्द्रादिम्, पचाद्यच् (३, १, १३४) । "स्वरश्च मे श्लोकश्च मे (य० वा० सं० १८, १)"—इति निगमः ॥

(३२) शब्दः । शपत्याक्रोशे शशापेत्यां दाती । अस्य वृत्तिग्रन्थः—'शपते अनेनेति शब्दः संस्कृता वाक् । फलां तृतीये इति योगविभागात् अचतुर्थेऽपि तृतीयं भवति'—इति । 'शब्दनं शब्दः'—इति क्षीरस्वामी । सेऽन्तरिक्षे शब्दं करोतीति वा । "शब्दो रोगिणो मीमांसा च"—इति निगमः ॥

(३३) स्वनः । 'स्वन शब्दे (भू० प०)' 'स्वनहसोर्वा (३, ३, ६२)'—इत्यप् । स्वन्यत इति स्वनः । "सिन्धोरूर्मेरिव स्वनः (ऋ० सं० ७, १, ७, २)"—इति निगमः ॥

(३४) ऋक् । ऋच्यते (तु० प०) स्तूयतेऽनया । यद्वा, स्तूयते स्वयं देवतात्वात् । 'ऋच स्तुतौ (तु० प०)'—इत्यस्मात् सम्पदादित्वात् (३, ३, ९४ वा०) क्विप् । "ऋचा वने मानृचः (ऋ० सं० ८, ५, २७, ३)"—इति निगमः ॥

(३५) होत्रा । 'हु दानादानयोः (जु० प०)'—'हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् (उ० ४, १६९)' । हूयतेऽनया मन्त्ररूपया हविः, हूयतेऽस्यां प्राणः, हूयते वा प्राणः । तथाच—'वाचि हि प्राणं

ऋद्धुमः प्राणे वा वाचम्'—इत्युपनिषत् (ऐ०)। यद्वा, होत्रेति यज्ञनाम (निघ० ३, १७)' हूयतेऽस्मिन् हविरिति यज्ञश्च वागित्युच्यते तत्साध्यत्वात्। वाचं यच्छति वाग्वै यज्ञः'—इति ब्राह्मणम् (ऐ० ब्रा० ५, ४, ५, ४, ५)। ऋतुयाजप्रैषेषु दशमे प्रैषे—"वनेम तद्धोत्रया चितन्त्या (ऋ० सं० २, १, १७, २)"—इति निगमः' "वीतिहोत्रं त्वा कवे (ऋ० सं० ४, १, १६, ३)"—इति च निगमः॥

(३६) गीः। गृणातिरर्चतिकर्मा (निघ० ३, १४), औणादिकः क्विप्, 'ऋत इद्धातोः (७, १, १००)' 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः (८, २, ७६)'—इति दीर्घः, हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्' (६, १, ६८), रेफस्य विसर्जनीयः। गृणात्यनया गीः। "तमिद्वर्धन्तु नो गिरः (ऋ० सं० ६, १, १०, ३)"—इति निगमः॥

(३७) गाथा। 'गै शब्दे (भ्० प०)' अर्चतिकर्मा च (निघ० ३, १४), 'उषिकुषिगार्तिभ्यस्थन् (उं० २, ३)'। गायतीत्यसौ देवताः, गायन्ति तामिति वा गाथा। "तं गाथया पुराण्या (ऋ० सं० ७, ४, २५, ४)"—"युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथया (ऋ० सं० ६, ७, २, ३)"—इति निगमौ॥

(३८) गणः। गण 'गणने' चुरादिरदन्तः (प०)। 'अकर्त्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम् (३, ३, १९)'—इति घञ्। 'अतो लोपः (६, ४, ४८)। गण्यते या गणः, अतो लोपस्य स्थानिवद्भावात् वृद्धिर्न भवति। गणेति केचित् पठन्ति। निगमोऽन्वेषणीयः।

(३९) धेना। दधातेर्लटः शानचि व्यत्ययेन एत्वाभ्यासलोपौ दधाना स्वमभिधेयं वर्णप्रदानेन लौकिकाय वा। यद्वा, 'धेट् पाने (भू० प०)' 'धेट इच्च (उ० ३, १०)'—इति नप्रत्ययः इकारश्चान्तादेशः, गुणः, धयन्ति तामिति धेना। पानमत्र स्वीकारः। यद्वा, आस्वादः। धीयते पीयते आस्वाद्यते यानेन, धयन्ति प्राणमिति वा धेना। तथाच—'तं माता रे ह्रि स उ रेहि मातरम्'—इति श्रुतिः (ऋ० सं० ८, ६, १६, ४)। यद्वा, 'धिविः प्रीणनार्थः (भू० प०)' बाहुलकात् नप्रत्ययो नकारवकारयोर्लोपश्च, गुणः, धेना। प्रीणयति हि वाक् सुष्ठु प्रयुक्ता। 'धेना वाक् प्रीणनाद्धि वा'—इति माधवः। "धेना जिगाति दाशुषे (ऋ० सं० १, १, ३, ३)"—जनानां धेना अवचाकशद्वृषा (ऋ० सं० ७, ८, २५, १)"—इति च निगमौ॥

(४०) ग्नाः। गमेर्धातोः (भू० प०) 'धाप्वस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३, ६)'—इति बाहुलकात् नप्रत्ययो भवति टिलोपश्च। टाप् (४, १, ४)। गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः। जानन्ति काममिति ग्नाः। यद्वा, गच्छति, यशोप्यभूत्। 'अभि यज्ञं गृणीहि नो ग्नावः (१, १, २८, ३)' इत्यत्र 'छन्दांसि वै ग्नाः'—इति ब्राह्मणम् —इति माधवः। तस्मात् छन्दसां गायत्र्यादीनां वाग्रूपत्वात् ग्नाव्यपदेशः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४१) विपा। 'विप् प्रेरणे (चु० प०)'। सम्पदादित्वात् (३, ३, ६४ वा०) क्विप्। तृतीयैकवचनम्। प्रेर्यते मनसा विपा। 'मनसा वा इषिता वाग्वदति (ऐ० ब्रा० २, १५)'—इति

ब्राह्मणम् । "वरुणाय विपा गिरा (ऋ० सं० ५, ४, ६, १)"—इति निगमः । गिरेति पदं निरुक्त्या योजनीयम् ॥

(४२) *नना* । न गच्छति पितृकुलात् बाल्यात् अनावरणापि न गच्छति लज्जामिति वा । 'नग्निकाऽनागतार्तवा'—इत्यमरः (२, ६, ८)। नग्ना कन्या । ग्नाशब्दः पूर्वमेव निरुक्तः, इह नपूर्वः । नायं नञ्, किन्तु प्रतिषेधार्थोऽयं निपातः, अतः 'न लोपो नञः (६, ३, ७३)'—इति न भवति । "नना"—इति केचित् । नमतेर्नप्रत्ययो बाहुलकान्मकारलोपश्च । नमयत्यनयेति नना । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४३) *कशा* । *'काशृ दीप्तौ (भ्वा० आ०)'* । *अन्तर्णीतण्यर्थः* । पचाद्यच् (३, १, १३४)। आकारस्य ह्रस्वत्वं छान्दसम् । प्रकाशयत्यर्थान् । यद्वा, क्लेशया सती वर्णव्यत्ययादिना कशा, वाग्मिमुखात् काशते तत उपलब्धेः । यद्वा, 'कश शब्दे (भ्वा० प०)' । अत्र शब्दयते कशा । यद्वा, 'कश गतौ (भ्वा० प०)' अच् (३, १, १३४) । गच्छति गन्तव्यम् । "या वां कशा मधुमती (ऋ० सं० १, २, ४, ३)"—इति निगमः ॥

(४४) *धिषणा* । *धारयत्यर्थमिति धीः बुद्धिः* । धारयति कर्त्तारं फलप्रदानेनेति धीः कर्मबुद्धिः कर्म वा । सनोति सम्भजते इति सनोतेः (षणु त० उ०) पचाद्यचि (३, १, १३४), पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) पूर्वपदह्रस्वत्वे च धिषणा । यद्वा, 'ञि धृषा प्रागल्भ्ये (स्वा० प०)' । 'धृषेर्धिष् च सञ्ज्ञायाम् (उ० २, ८०)'—इति क्युप्रत्ययो धिषादेशश्च धिषणा ।

प्रगल्भसमर्था रक्षितुं जगद् वर्णप्रदानेनेत्यर्थः। यद्वा, 'दिधिषामि विद्मैः (ऋ० सं० २, ७, २३, १२)'—इत्यत्र स्कन्दस्वामिना पठितात् 'धिषि धारणे'—इत्यस्मात् 'धिष शब्दे (जु० प०)'—इति धातुपाठपठिताद्वा बाहुलकात् क्युप्रत्ययो धिषणा वाचि स्वाभिधेयं धारयति सम्बन्धस्य नित्यत्वात्। शब्दायते वा मेघे अधिश्रिता। 'मिमाति मायुं धिषणावधिश्रिता (ऋ० सं० २, ६, १६, ३)'—इति श्रुतिः। "आपश्च मित्रं धिषणा च साधन् (ऋ० सं० १, ७, ३, १)"—इति निगमः॥

(४५) नौः। 'नुद प्रेरणे (तु० उ०)' 'ग्लानुदिभ्यां डौ (उ० २, ६०)'—इति डौप्रत्ययः। नुद्यते प्रेर्यते मूलाधारादिस्थानेभ्यः प्राणेन। नमतेर्वा (भू० प०) बाहुलकात् (३, ३, १) डौ, नम्यते वा देवतात्वात्। "सुतर्माणमधिनावं रुहेमेति यज्ञो वै सुतर्मा नौः कृष्णाजिनं वै सुतर्मा नौर्वाग्वै सुतर्मा नौः (ऐ० ब्रा० १, ३, २)"—इति ब्राह्मणम्, "समितो नव्याहितम् (ऋ० सं० ८, ७, २३, ४)"—इति च निगमौ॥

(४६) अक्षरम्। 'अशू व्याप्तौ (स्वा० आ०)' 'अश भोजने (क्र्या० प०)'। 'अशेः सरन् (उ० ३, ६७)'—इति सरन्प्रत्ययः, व्रश्चादिना (८, २, ३६) षत्वम्, 'षढोः कः सि (८, २, ४१)'। अश्नुते श्रोतुं स्वाभिधेयम्, व्याप्नोति वा अश्नाति वा हविः। अञ्जेर्वा (रु० प०) बाहुलकात् सरन् नकारलोपश्च। 'खरि च (८, ४, ५५)'—इति चर्त्वम्। अनक्ति प्रक्षयति सेचयति वर्षेण भूमिम्। यद्वा, नञ्पूर्वात् क्षरतेः (भू० प०) पचाद्यच्

(३, १, ११३)। न क्षरति, सर्वदा सर्वैः प्रयुज्यमानापि न क्षीयत इत्यर्थः। 'वाग्वै समुद्रो न वै वाक् क्षीयते'—इति (ऐ० ब्रा० ५, ३, १) ब्राह्मणम्। "अक्षरेण प्रति मिम एताम् (ऋ० सं० ७, ६, १३, ३)"—इति निगमः। 'वाचा विरूपनित्यया'—इत्यर्थं माधवोऽवादीत्। "उपाक्षरा सहस्रिणी (ऋ० सं० ५, २, १६, ४)"—इति च निगमः॥

(४७) मही। व्युत्पादिता पृथिवीनामसु (१, १४)। मह्यते पूज्यतेऽनया देवता इति वा। "अमात्रं त्वा धिषणा तित्विषे मही (ऋ० सं० १, ७, १५, २)"—इत्यत्र वाङ्नामत्वमपि युज्यते॥

(४८) अदितिः। व्युत्पादिता पृथिवीनामसु (१, १४)। अदीना, सर्वदा सर्वैः प्रयुज्यमानापि न क्षीयत इत्यर्थः। "अनागसो अदितये स्याम (ऋ० सं० १, २, १५, ५)"—इति निगमः॥

(४९) शची। अत्र क्षीरस्वामी—'शच श्वच गतौ'। शचतीति तु धातुपाठे गत्यर्थो न दृष्टः। 'शच व्यक्तायां वाचि (भ्वा० आ०)' 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४ पा० ११४)। 'कृदिकारात् (४, १, ४५ वा०)'—इति ङीष्। शचते गच्छति यज्ञम्, शच्यते गम्यते ज्ञायतेऽनयाऽर्थः, शचते व्यक्तां वाचं करोतीति वा। "शचीमदन्त उत दक्षिणाभिर्नेञ्जिहायन्त्यो नरकं पताम (निरु० १, ११)"—इति निगमः॥

(५०) वाक्। निरुक्ता पूर्वमेव (पृ० ६३)। "यद्वाग् वदन्त्यविचेतनानि (ऋ० सं० ६, ७, ५, ४)"—इति निगमः॥

(५१) अनुष्टुप् । स्तोभतिर्वृद्ध्यर्थः (भू० आ०)। क्विप्। अनुपूर्वेण क्रमेण, पूर्वमकारात्मना ततः स्पर्शादिभिर्व्यज्यमाना वर्द्धते। तथाचोपनिषत्—'अकारो वै सर्वा वाक् सैव स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा 'परा' 'पश्यन्ती' 'मध्यमा' 'वैखरी' इति। तथाच 'विरूपं वक्ति वाक् तावकं वपुः'—इति संवित्प्रकाशे वामनदत्तः। 'ध्वनिः वर्णाः पदं वाक्यमित्याहुः पदचतुष्टयम्। यस्याः सूक्ष्मादिरूपेण वाग्देवीं तामुपास्महे'—इति श्रीभोजदेवः। अतिस्तुतिषु :'चत्वारि वाक्परिमितानि पदानि (निरु० १३, ६)'—इत्यत्र निरुक्तया एव वा वृद्धिः प्रतिपादिता। यद्वा, पूर्वं पञ्चाशदक्षरात्मना ततो गद्यपद्यादिरूपेण वर्द्धते। तथाहि—'परिमिता वर्णा अपरिमितां वाचो रतिमाप्नुवन्ति'—इति भगवानाश्वलायनः। यद्वा, स्तोभतिरर्चतिकर्मा (निघ० ३, १४)। आनुपूर्व्येण स्तौति देवताः। "अनुष्टुभमनु च चर्य्यमाणमिन्द्रम् (ऋ० सं० ८, ७, १०, ४)"—इति निगम॥

(५२) धेनुः। 'धेट् पाने (भू० प०)'। 'धेट इच (उ० ३, ३३)'—इति नुप्रत्ययः, इकारोऽन्तादेशः। धयति तामिति धेनुः, पीयते हि वा तन्मुखतवृष्ठिद्वारेण, धेनुवद्दोग्ध्री सर्वकामान् इति वा। 'अधेन्वाः चरति माययैष वाच' शुश्रुवाँ अफला-मपुष्पाम् (ऋ० सं० ८, २, २३, ५)'—इति श्रुतिः। "गौर्गौः कामदुघा, सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्य्यते बुधैः"—इति दण्डी। तथा-नागमः—'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुष्टु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च

कामधुग् भवति (शि० भा०)'—इति। "अभि सप्त धेनवः (ऋ० सं० ७, ३, १६, ५)"—"मेण्ड्रः सचन्त धेनवः (ऋ० सं० २, ५, २६, ५)"—इति च निगमौ॥

(५३) वल्गुः। 'वल संवरणे (भू० आ०)'। 'वलेर्गुक् च (उ० १, १६)'—इत्युप्रत्ययः। संवृणोत्याच्छादयति जगत् व्याप्नोतीति यावत्। यद्वा, वल्गतिः शब्दार्थः (भू० प०), बाहुलकादुप्रत्ययः। गर्जितादिलक्षणं शब्दं करोति वल्गुः। "अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे (ऋ० सं० ८, २, १, ४)"—इति निगमः॥

(५४) गल्दा। 'गल अदने' भौवादिः (प०)। गलनं पूरणं कामानां, गलः पूरणार्थः स्कन्दस्वामिनोक्त, तद्ददाति। 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)' गल्दा। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(५५) सरः। 'सृगतौ (भू० प०)' असुन्प्रत्ययः (उ० ४, १८४)। गत्यर्थाः बुद्ध्यर्थाः। सरति जानाति सर्वं देवतात्वात्, ज्ञायते वा विद्वद्भिः, सरति गच्छत्येव वाहूता। "सरो न पर्णमभितो वदन्तः (ऋ० सं० ५, ७, ४, ७)"—इति निगमाः। अत्र प्रकरणात् स्तोत्रशस्त्रात्मिका वागुच्यते एवं माधव ऐच्छत्॥

(५६) सुपर्णी। सुपर्णशब्दो रश्मिनामसु व्याख्यातः (१,५)। 'पाककर्णपर्णपुष्पफलमूल (४, १, ६४)'—इत्यादिना ङीप्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(५७) बेकुरा। 'भा दीप्तौ (अदा० प०)'—कान्तिं करोतीति किञ्चिद् विगृह्य करोतेरौणादिके कप्रत्यये कृते 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य

(७, १, १०२)'—'बहुलं छन्दसि (७, १, १०३)'—इति ऋकारस्यानोष्ठ्यपूर्वस्यापि उकारो मकारस्य वकारेण आकारस्य एकारेण च व्युत्पत्तिश्छान्दसत्वात् वेकुरा दीप्तिकारिणी प्रयोक्तुः। "वेकुरानामासि जुष्टा (ता० म० ब्रा० १, १, ३)"—इति निगमः। छन्दोगानां सामकल्पे पठितोऽयं मन्त्रः। 'व्यचेर्व्याप्तिकर्मणः वेकुरा'—इति भरतस्वामिभाष्यम्॥

इति सप्तपञ्चाशत् वाङ्नामानि॥ ११॥

अर्णः (१)। क्षोदः (२)। क्षद्म (३)। नभः (४)। अम्भः (५)। कबन्धम् (६)। सलिलम् (७)। वाः (८)। वनम् (९)। घृतम् (१०)। मधु (११)। पुरीषम् (१२)। पिप्पलम् (१३)। क्षीरम् (१४)। विषम् (१५)। रेतः (१६)। कशः (१७)। जन्म (१८)। बृबूकम् (१९)। बुसम् (२०)। तुग्र्या (२१)। बुर्बुरम् (२२)। सुक्षेम (२३। धरुणम् (२४)। सिरा (२५)। अररिन्दानि (२६)। ध्वस्मन्वत् (२७)। जामि (२८)। आयुधानि (२९)। क्षपः (३०)। अहिः (३१)। अक्षरम् (३२)।

स्रोतः (३३)। तृप्तिः (३४)। रसः (३५)।
उदकम् (३६)। पयः (३७)। सरः (३८)।
भेषजम् (३९)। सहः (४०)। शवः (४१)।
यहः (४२)। ओजः (४३)। सुखम् (४४)।
क्षत्रम् (४५)। आवयाः (४६)। शुभम् (४७)।
यादुः (४८)। भूतम् (४९)। भुवनम् (५०)।
भविष्यत् (५१)। महत् (५२)। आपः (५३)।
व्योम (५४)। यशः (५५)। महः (५६)। स्वर्णी-
कम् (५७)। स्वृतीकम् (५८)। सतीनम् (५९)।
गहनम् (६०)। गभीरम् (६१)। गम्भरम् (६२)।
ईम् (६३)। अन्नम् (६४)। हविः (६५)।
सद्म (६६)। सदनम् (६७)। ऋतम् (६८)।
योनिः (६९)। ऋतस्य योनिः (७०)।
सत्यम् (७१)। नीरम् (७२)। रयिः (७३)।
सत् (७४)। पूर्णम् (७५)। सर्वम् (७६)।
अक्षितम् (७७)। बर्हिः (७८)। नाम (७९)।

सर्पिः (८०)। अपः (८१)। पवित्रम् (८२)। अमृतम् (८३)। इन्दुः (८४)। हेम (८५)। स्वः (८६)। सर्गाः (८७)। शम्बरम् (८८)। अभ्वम् (८९)। वपुः (९०)। अम्बु (९१)। तोयम् (९२)। तूयम् (९३)। कृपीटम् (९४)। शुक्रम् (९५)। तेजः (९६)। स्वधा (९७)। वारि (९८)। जलम् (९९)। जलापम् (१००)। इदम् (१०१)। इत्येकशतमुदकनामानि ॥ १२ ॥

'उदकनामान्युत्तराण्येकशतम् (निरु० २, २४)'—

(१) अर्णः। 'ऋ गतौ (भू० प०)'। 'उदके नुट् च (उ० ४, १९२)'—इति अर्त्तेरसुन् प्रत्ययः। अर्य्यते तत् प्राणिभिरित्यर्थः। ऋच्छति निम्नं प्रदेशमिति वा अकारान्तोऽप्यस्ति। 'ऋ गतौ (भ्वा० प०)' पचाद्यच् (३, १, १३४)। ऋणाति गच्छति दिवो भूमिं घृष्यमाणम्। "सृजदर्णांस्यव यद्युधा (ऋ० सं० २, ४, १६, ४)"—"अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगासि (ऋ० सं० ३, १, २२, ३)"—इति निगमौ ॥

(२) क्षोदः। 'क्षुदिर् सम्प्रेषणे' भौवादिः स्वरितेत्। असुन् (उ० ४, १८९)। क्षुद्यते क्षोदः। क्षुण्णं हि जलं पर्वतादिभ्यः

शिलादिष्वधःपतनात्। "नावा न क्षोदः प्रदिशः पृथिव्याः (ऋ० सं० ८, ६, १८, ७)"—"याभी रसाङ्क्षोदसोद्गः पिपिन्वथुः (ऋ० सं० १, ७, ३५, २)"—इति च निगमौ॥

(३) क्षद्म। 'क्षद स्थैर्ये (सौ०)'—इति स्कन्दस्वामी। 'क्षद गतिहिंसनयोः (सौ०)'—इति सुबोधिनीकारः। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते (३, २, ७५)'—इति मनिन्। क्षदीति पिपासादनिवर्त्तने। स्वकार्य्ये स्थिरं भवति जलाशयं व्याप्य स्थिरं भवतीति वा। तथाच 'स्थावराद् गृह्णामि'—इति श्रुतिः, गतावर्ण सोरसमित्यर्थः। हिनस्ति पिपासामुष्णं वा अतीव्हिसं वा पुरुषम्। "क्षद्मेवार्थेषु वर्त्तरीथ उग्रा (ऋ० सं० ८, ६, २, २)"—इति निगमः॥

(४) नभः। 'णह बन्धने (दि० उ०)' 'नहेर्दिवि भश्च (उ० ४, २०५)'—इति विधीयमानोऽसुन् भकारादेशश्च बाहुलकादुदकेऽपि भवतः। नह्यते हि तन्मेघैर्दिवि भूमौ सेचादिभिः, नह्यति प्राणिनां मनांसीति वा। प्राणिनो हि यत्रोदकं विद्यते तत्रैव स्थातुं मनः कुर्वते। तथा—'समनसः खलु वै पशवोऽनावृतास्ते पशवो हि समनसः'—इति श्रुतिः। न न भातीति वा, एकस्य नञो लोपः इतरस्य नलोपाभावः। भातेरसुनि टिलोपश्च बाहुलकात्। भात्येव स्वया दीप्त्या देवतात्वात्। यद्वा, नभ इव नभः। तथाम्बरनिर्वचने 'अम्बुचद्राजते'—इत्यादिना ग्रन्थेन आकाशस्य जलसाम्यमुक्तम्, साम्यस्योभयनिष्ठत्वात् अत्र जलमप्याकाशवद्दृशमित्युच्यते। "मदच्युतमौशानं नभोजाम् (ऋ०,

सं० ७, ७, २५, ४)"—"नभोवसानः परियास्यध्वरम् (ऋ० सं० ७, ३, ८, ५)"—इति च निगमौ ॥

(५) अम्भः । 'आप्लृ व्याप्तौ (स्वा० प०)' । उदके नुम्भश्च (उ० ४, २०४), अत्रापो ह्रस्वोऽसुन्निति (उ० ४, २०२) च वर्तते । व्याप्नोति सर्वमम्भः । तथाचाथर्वणी श्रुतिः—'सर्वमिदमम्भः (अथ० ब्रा०)'—इति, 'आपो वा इदं सर्वम् (अथ० सं०)'—इत्यादिरनुवाकश्च । "अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् (ऋ० सं० ८, ७, १७, १)"—इति निगमः ॥

(६) कबन्धम् । 'बन्धिरनिभृतत्वे (निरु० १०, ४)' निभृतं चञ्चलमतोऽन्यदनिभृतमचञ्चलम् तदनिभृतं, कबन्धः कमर्नीयश्च तद्बन्धं चेत्यर्थः । कर्मेर्डप्रत्यये कः, बन्धेः पचाद्यचि बन्धः इति निर्वाहः । यद्वा, कं सुखं बध्नाति स्नानपानादिना । कर्मण्यन् । बवयोरविशेषात् वकारः, कवन्धम् । नीचीनबारं वरुणः कवन्धम् (ऋ० सं० ४, ४, ३०, ३)"—"अर्यमणो न मरुतः कवन्धिनः (ऋ० सं० ४, ३, १५, ३)"—इति च निगमौ ॥

(७) सलिलम् । 'सल गतौ (भू० प०)' । 'सलिकल्यनिमहिभडिभण्डिशण्डिपिण्डितुण्डिकुकिभूभ्य इलच् (उ० १, ५४) । सलति गच्छति निम्नं देशं, गम्यते प्राणिभिरिति वा । "गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षति (ऋ० सं० २, ३, २२, १)" —इति निगमः ॥

(८) वाः । 'वृञ् वरणे (स्वा० उ०)' । स्वार्थिकोऽण् छान्दसः, तदन्तात् क्विप्, अणि लोपः, हल्ङ्यादिलोपः, रेफस्य

विसर्जनीयः । । घृतं हि तदिन्द्रेण । तथा च श्रुतिः—'अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वा ह्विकम्'—इति । इन्द्रो दिवः शक्तिभिर्धः तस्मादर्णमवो हितमिति । "वार्ण पथा रथ्ये व खानीव (ऋ० सं० २, ५, २५, १)"—इति निगमः ॥

(९) घनम् । "घन पण सम्भक्तौ (त० आ०)" । 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण (३, ३, ११८)') । घन्यते सेव्यते घनम् । "यथा वातो यथा वनम् (ऋ० सं० ४, ४, २०)"—"सोमो विश्वान्यतसा घनानि (ऋ० सं० ८, ४, १४, ५)"—इति च निगमौ ।

(१०) घृतम् । 'गृ घृ सेचने (भू० प०)' । 'अञ्जिघृसिभ्यः क्तः (उ० ३, ८६)'—इति क्तप्रत्ययः । सेचयत्यनेन भूमिं वरुणः, सिञ्चत्यनेनेति वा । 'कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णाः (ऋ० सं० १, २२, ८, ४७)'—इत्यत्र 'घृतमित्युदकनाम (निघ० १, १२), जिघर्त्तेः सिञ्चतिकर्मणः (निरु० ७, २४)'—इति भाष्यम् । यद्वा, 'घृ क्षरणदीप्त्योः (जु० प०)' । गत्यर्थाकर्मकेत्यादिनाऽकर्मकत्वात् कर्त्तरि क्तः (३, ४, ७२) । जिघर्त्ति क्षरति मेघात् पर्वतादिभ्यो वा, दीप्यते वा स्वया दीप्त्या । "आदिद्घृतेन पृथिवी व्युद्यते (ऋ० सं० २, ३, २३, १)"—इति निगमः ।

(११) मधु । मेघोदरवर्त्ति सलिलं मध्वित्युच्यते । तत्र पुनर्वैद्युतात्मा दह्यमानं सरः स्वर्णेन तद्वर्तिनैव वायुना ध्मायमानं धमति (भू० प०) । धमतिर्गतिकर्मा (निघ० २, १४) वा अन्तर्णीतण्यर्थो निःकालने द्रष्टव्यः निर्धाम्यते निःफल्यते हि तन्मेघात् ।'

यद्वा, 'मद तृप्तौ (दि० प०)'। अस्माद्बाहुलकादुप्रत्ययो धान्तादेशश्च। माद्यन्ति हि तेन पीतेन प्राणिनः। यद्वा, मधुवत् स्वादुत्वात् मध्वित्युच्यते। इमानि स्कन्दस्वामिनिर्वचनानि। वैयाकरणपक्षे तु 'मन ज्ञाने (दि० आ०)'—इति, अस्मात् निदिति (उ० १, ६) वर्त्तमाने 'फलिपाटिनमिमनिजनां गुक्पटिनाकिधतश्च (उ० १, १८)'—इत्युप्रत्ययो धोऽन्तादेशश्च। मन्यते अतिशयेन जनैः इति मधु। 'मदनीयं मधु'—इति भट्टभास्करमिश्रः। "विद्वान् मध्व उज्जभारा दृशे कम् (ऋ० सं० ७, ५, ३३, ५)"—इति निगमः॥

(१२) पुरीषम्। 'पॄ पालनपूरणयोः (जु० प०)'। 'शॄपॄभ्यां किच्च (उ० ४, २७)'—इति ईषन्प्रत्ययः। 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७, १, १०२)'—इति उद्परत्वम्। पूरयति जगत् प्रलयकाले, पूर्य्यतेऽनेन तड़ागादि, पालकं वा जगतः शस्योत्पत्तिहेतुत्वात्। प्रीणातेर्वा (क्र्या० उ०) बाहुलकात् कीषन्प्रत्ययः, ईकारस्योकारादेशः स च पकारात् परो द्रष्टव्यः। प्रीणाति जगत् पुरीषम्। "उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात् (ऋ० सं० २, ३, ११, १)"—इति निगमः।

(१३) पिप्पलम्। 'पॄ पालनपूरणयोः (जु० प०)'। 'कल पॄतृपादिभ्यः'—इति कलप्रत्यये 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७, १, १०२)' —इति 'बहुलञ्छन्दसि (७, १, १०३)'—इति बहुलवचनात् उत्वाभावे, बाहुलकत्वात् द्वित्वे, अभ्यासस्य उरदत्वे, 'अर्तिपिपर्त्योश्च (७, ४, ७७)' 'बहुलञ्छन्दसि (७, ४, ७८)'—इतीत्वे, उत्तरस्य

पकारस्य द्वित्वमकारलोपश्चापि। पिपर्त्ति पिप्पलम्। पुरीषेण समानार्थम्। 'अपि प्लवते'—इति नैरुक्ताः'—इति क्षीरस्वामी। प्लवतेऽपि। 'प्लुङ्गतौ (भू० आ०)'। गच्छत्यपि। अपिशब्दात् तिष्ठतीति च गम्यते। तथाहि—जलं नदीषु प्रवाहवत्वात् गच्छति निम्नं प्रदेशं वा। 'जलाशयादिषु तीरादिनिरुद्धत्वान्न क्वचिद् गच्छति'—इति माधवः। अपि वा प्लवतेर्गत्यर्थाद् ऊर्णोतेर्डप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति, टिलोपाभावो बाहुलकादेव। पकारस्य द्वित्वमकारोपजनश्च। 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः (२, ४, ८२ भा०)'—इत्यपिशब्दस्याकारलोपः, पिप्पलम्, पृषोदरादिः। "तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे (ऋ० सं० २, ३, १८ २)"—इति निगमः।

(१४) क्षीरम्। 'घस्लृ अदने (भू० आ०)'। 'घसेश्चिच (उ० ४, ३३)'—इति ईरन् प्रत्ययः, चकारात् किच्चेति अनुवर्त्तते, कित्वात् 'गमहनजन (६, ४, ९८)'—इत्युपधालोपः, 'खरि च (८, ४, ५५)'—इति चर्त्वं घकारस्य ककारः, 'शासिवसिघसीनाञ्च (८, ३, ६०)'—इति षत्वम्। अदन्ति तदिति क्षीरम्। 'क्षर सञ्चलने (भू० प०)'—इत्यस्माद् बाहुलकात् डीरन्प्रत्ययः टिलोपश्च। क्षरति हि तत् मेघात्। "क्षीरेण स्नातः कुयवस्य योषे (ऋ० सं० १, ७, १८, ३)"—इति निगमः॥

(१५) विषम्। 'विषॢ व्याप्तौ (जु० उ०)'। 'विषेर्व्याप्तिकर्मणि'—इति कात्यायः। वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं विषम्। यद्वा, विपूर्वात् 'ष्णा शौचे (अदा० प०)'—इत्यस्मात् 'अन्येष्वपि दृश्यते

(३, २, १०, १)'—इति जनेर्विधीयमानो डप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति, णकारलोपोऽपि बाहुलकादेव। विशेषेण स्नात्यनेनेति विस्नम्, तद्धि प्रथमं शौचसाधनम्। विपूर्वात् स्नातेर्वा पूर्ववत् डप्रत्ययः। तद्धि स्नानपानावगाहनार्थिभिः सेव्यते। "जातं विष्णाचो अह्नतं विषेण (ऋ० सं० १, ८, १६, १)"—"केश्यऽग्निं केशी विषम् (ऋ० सं० ८, ७, २४, १)"—इति च निगमौ॥

(१६) रेतः। 'रि रीङ् स्रवणे' दैवादिकः (आ०)। स्रुरिभ्यां तुट् च (उ० ४, १६७)'—इत्यसुन्प्रत्ययो तुडागमश्च गुणः। रीयते स्रवति रेतः। यद्वा, वृष्टिलक्षणानामपां देवानां रेतस्त्वादेव उच्यते तथाचोपनिषत्—'देवानां रेतो वर्षम्'—इति। "अस्मे रेतः सिञ्चतं यन्मनुर्हितम् (ऋ० सं० ५, ३, १४, २)"—"सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतः (ऋ० सं० २, ३, २१, १)" —इति निगमौ॥

(१७) कशः। 'कश गतौ (भू० प०)' 'कश शब्दे (भू० प०)' उभयोरसुन् (उ० ४, १८४)। कशति गच्छति निम्नं प्रदेशम्, मेघेभ्यः पतत् शब्दं करोतीति वा कशः। "यामिर्महामतिथिग्वं कशो जुवम् (ऋ० सं० १, ७, ३५, ४)"—इति निगमः॥

(१८) जन्म। 'जनी प्रादुर्भावे (दि० आ०)'। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति मनिन्, औणादिको वा (उ० ४, १४०)। जायते सृष्टिकाले स्वकारणात्। 'आनेरापः (तै० उ०)'—इत्युपनिषत्। जायन्ते वास्मिन् जलचारिणो मत्स्यादयः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१९) वृबूकम्। ग्रधीतेः शब्दार्थात् (अदा० उ०), भ्रंशतेर्वाधःपतनार्थात् (भू० आ०), उभाभ्यां समुदिताभ्यां 'उलूकादयश्च (उ० ४, ४०)'—इति ऊकप्रत्यये निपातनाद्रूपसिद्धिः। 'ऊकप्रत्यये धातुद्वयस्य वृबूभावः,—इति श्रीनिवासः। क्रमेणार्थः—तद्धि विपतत् साध्याकारं शब्दं करोति, भ्रश्यति दिवोऽनावरणत्वात्, मेघेभ्यो भ्रश्यति शब्दवच्चेति "दुधा वृबूकं वहतः पुरीषम् (ऋ० सं० ७, ७, १६, ३,)"—इति निगमः॥

(२०) बुसम्। विपूर्वात् स्नातेः (अदा० प०) 'आतश्चोपसर्गे (३, ३, १०६)'—इति कप्रत्यये उपसर्गकारस्योकारो बाहुलकाद् भवति, धातोर्नकारलोपोऽपि बाहुलकादेव। विशेषेण स्नात्यनेनेति बुसम्। तद्धि प्रथमं शौचसाधनम्। भ्रंशतेर्वा पचाद्यचि (३, १, १३४), पृषोदरादित्वादूहनीयं रूपम्। पूर्ववदर्थः। यद्वा, 'बुस उत्सर्गे (दि० प०)'। गेहे कः (३, १, १४४)'—इति बाहुलकादस्मादपि भवति। बुस्यते उत्सृज्यते मेघैरिति बुसम्। "आविः स्वः कृणुते गूहते बुसम् (ऋ० सं० ७, ७, १६, ४)"—इति निगमः॥

(२१) तुग्र्या। तुजतिर्हिंसायाम् (भू० प०)। 'क्विप् च (३, २, ७६)'—इति क्विप्। तुजन्ति हिंसन्ति तम औष्ण्येन जनानिति वा तुजो रश्मयः। तद्वान् तुग्रः। रो मत्वर्थीयोऽतिशायने। तुग्र आदित्यः, तत्र भवा तुग्र्या। 'भवे छन्दसि (४, ४, ११०)'—इति यत्। 'आदित्याज्जायते वृष्टि-

ष्टिं प्रेरन्नं ततः प्रजाः'—इति मनुः (३ अ० ७६ श्लो०)। यद्वा, तुग्रशब्देन ग्रीष्म उच्यते, अतिशयेनादित्य किरणवान् हि ग्रीष्मकालः। 'तत्र साधुः (४, ४, ९८)'—इति यत्। तुग्र्या। 'अन्याकाशयज्ञवरिष्ठेषु तुग्रशब्दः'—इति वृत्तिकारः। तत्र भवे इत्यर्थे 'तुग्राद् घन् (४, ४, ११५)'—इति घन्प्रत्यये प्राप्ते व्यत्ययेन 'भवे छन्दसि (४, ४, ११०)'—इति यत्। 'तुग्र्या आपः'—'तुग्र्यमुदकम्' उभयमपि दृश्यते। 'अग्नेरापः (तै० उ०)'—इत्यपां कारणत्वेन अग्नेः श्रुतत्वात्, अग्नेर्वै धूमो जायते, धूमादभ्रम्, अभ्राद् वृष्टिः (मु० उ० २, ५)—इति क्रमेण वा आकाशे वृष्टिलक्षणेनापां विद्यमानत्वात्, यज्ञस्यापि 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिः'—इति (मनुः ३ अ० ७६ श्लो०) पारम्पर्य्येण वृष्टिहेतुत्वात्। सर्वैश्वर्य्यवत्तया वरिष्ठ इन्द्रो विवक्षितः, वृष्टिप्रदानाद्य, तस्मात् तत्र भव इत्येषोऽर्थः सर्वत्र यथाकथञ्चित् घटयितुं शक्यते। "आवः शमं वृषभं तुग्र्यासु (ऋ० सं० १, ३, ३, ५)"—"उत यस्तुग्र्ये सचा (ऋ० सं० ६, ३, ४, ५)"—इति च निगमौ॥

(२२) बुर्बुरम्। 'पॄ पालनपूरणयोः (जु० प०)'। 'गेहे कः (३, १, १४४)'—इति बाहुलकात् कः। 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७, १, १०२)'। पुरम्। वपुषः शरीरस्य पूरकं पालकं वा वपुः पुरं सत्। पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) वकाराकारलोपेन पकारद्वयस्य वकारादेशो विसर्जनीयस्य रेफादेशेन

बुर्बुरम्। बुर्बुरमस्मिन्नस्तीति वा मत्वर्थीयोऽकारः (५, २, १२७), बुर्बुरवत्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२३) सुक्षेम। 'क्षि निवासगत्योः (तु० प०)' 'क्षि क्षये (भू० प०)'—इत्यस्माद्वा 'अर्त्तिस्तु सुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन् (उ० १, १३७) बाहुलकादभिधानलक्षणाद्वा। 'क्षिणिकारस्येत्संज्ञा न भवति'—इति उणादिवृत्तिः। क्षियन्ति निवसन्त्यनेन प्राणिनः, गच्छन्त्यनेन पन्थानमिति वा, उपरिभागेन क्षीयते वा। यद्वा, पूर्वस्माद् धातुद्वयान्मनिनि रूपसिद्धिः। 'सुक्षोम'—इति माधवः पठति, निगमदर्शनान्निर्णयः। 'वृष्ट्यै त्वा क्षेमाय त्वा (य०)'—इत्यत्र क्षेमशब्द उदकनामापि भवितुमर्हति॥

(२४) धरुणम्। 'धृञ् धारणे (भू० उ०)'। 'हेतुमति च (३, १, २६)'—इति णिच्। धारेर्णिलुक् यउनप्रत्ययः। धारयति जगत् धरुणम्। "पर्या विसर्गे धरुणेषु तस्थौ (ऋ० सं० ७, ५, ३३, ६)"—"धीरा इच्छे कुर्वेरुणेष्वारभम् (ऋ० सं० ७, २, २१, ३)"—इति निगमौ॥

(२५) सिरा। 'सृ गतौ (भू० प०)'। 'पचाद्यचि (३, १, १३४) टाप् (४, १, ४)' सरा, अकारस्येकारो व्यत्ययेन (३, १, ८५)। "वृषभमाशयानं सिरासु (ऋ० सं० १, ८, २६, १)"—इति निगमः। 'सरणशीलास्वप्सु'—इति माधवभाष्यम्। 'सुरा'—इति केचित् पठन्ति। 'षुञ् अभिषवे (स्वा० उ०) 'अभिषवः क्लेदनम्'—इति तद्वृत्तिः। 'षू प्रसवे' भ्वादिर-

दादिश्च (प०)। सुसूधागृधिभ्यः क्रन् (उ० २, २३)'—इति क्रन्प्रत्ययः। सुनोति क्लेदयति भूमिमिति। प्रसौति अनुजानाति सस्याद्युत्पत्तिं स्वसत्तया, सूयते वा परेषां स्वामिना विनियोगाय। यद्वा, 'सुर ऐश्वर्ये' तुदादिः (प०)। सुरति ईश्वरं भवति जगत् कर्तुं समर्थो भवतीत्यर्थः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२६) अररिन्दानि। 'रा दाने (अदा० प०)'। 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च (३, २, १७१)'—इति किप्रत्ययः। लिड्वद्भावात् द्विर्वचनादिः। ररिर्दाता। ररिर्यस्य न विद्यते तदररि, अन्यैरदत्तमित्यर्थः। तद्ददाति 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)' अररिदम्। नकार उपजनः अररिन्दम्। अथवा 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ४, ११३)'—इति कर्मणि किर्भवति। ररिन्दत्तम्, न ररि अररि—अदत्तम् पृथिव्यादिभिः, किन्तत्? सुखम्। अररि ददातीति पूर्ववत्। उदकेन यद्दीयते सुखादिकं तचान्यैः पृथिव्यादिभिः दातुमशक्यत्वाददत्तमित्युच्यते। "अधास्यदररिन्दानि सुक्रतुः (ऋ० सं० २, २, ४, ५)"—इति निगमः। अत्र 'अदत्तदानमुदकैः' —इति माधवनिर्वचनानुक्रमणी॥

(२७) ध्वस्मन्वत्। 'ध्वंसु गतौ च (भ्० आ०)'। चकारादधःपतनेऽपि। औणादिको मनिन् भावे (उ० ४, १४०)। बाहुलकादुलोपः (१, ३, १)। ध्वस्म ध्वंसनं मेघेभ्यः, पर्वतादिभ्यो वा अधःपतनं निम्नप्रदेशगमनम्। जलार्थिकर्तृकं वा गमनमस्यास्तीति मतुप्, 'अनो नुट् च (८, २, १६)'—इति मतुपो-

नुडागमः, नुटोऽसिद्धत्वात् (८, २, १) तस्य च षत्वं भवति (८, २, ६)। 'ध्वस्मन्वत् स्यात् ध्वंसनवत्'—इति माधवनिर्वचनानुक्रमणी। "सं त्वा ध्वस्मन्वदभ्येतु पाथः (ऋ० सं० ४, ५, १६, २)—इति निगमः। माधवस्तु 'समभ्येतु त्वां मदीयं वर्द्धमानं ध्वंसनक्रियायुक्तमन्नं वचनं स्पृहणीयं सहस्रसङ्ख्याकम्' —इत्यभावयत्॥

(२८) जामि। जामेर्गतिकर्मणः (निघ० २, १४) 'वसिवपियजि (उ० ४, १२१)'—इत्यादिना विहित इञ् बाहुलकाद् भवति। जमति गच्छति निम्नं प्रदेशं, गम्यते वा जलार्थिभिः। यद्वा, 'जनी प्रादुर्भावे (दि० आ०)'। अस्मात् 'जनिघसिभ्यामिण् (उ० १२६)'—इति इणप्रत्ययो बाहुलकान्मकारादेशश्च दीर्घः (३, ३, १)। जायतेऽस्मात् पृथिव्यादि, जायते वा स्वकारणात् 'अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवीति (तै० उ०)' श्रुतेः। "जामिवत्"—इत्यन्ये पठन्ति। निगमदर्शनान्निर्णयः॥

(२९) आयुधानि। 'युध सम्प्रहारे (दि० आ०)। 'घञर्थे कविधानम् (३, ३, ५८ वा०)'—इति कः। आयुध्यत्यनेनेत्यायुधम्। यद्वा, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (३, १, १३५)'—इति कर्त्तरि कः। आयुध्यते सम्प्रहरति रक्षांसि। जसि आयुधानि। "इन्द्रे सन्तिष्ठ जनयायुधानि (ऋ० सं० ७, ४, ८, २)"—"जामि ब्रुवाण आयुधानि वेति (ऋ० सं० ७, ६, ४, २)"—इति च निगमौ॥

(३०) क्षपः। 'क्षप प्रेरणे (चु० प०)'। कथादिष्वपठितोऽपि 'बहुलमेतन्निदर्शनम् (चु० ग० सू०)'—इत्यस्योदाहरण-

त्वेन धातुवृत्तौ पठ्यते। असुनि णिलोपः। क्षिपयति प्रेरयति नाशयति पिपासाम्। "क्षपो जिन्वन्तः पृषतीभिर्ऋष्टिभिः (ऋ० सं० १, ५, ७, ३)"—इति निगमः॥

(३१) अहिः। मेघनामसु निरुक्तम् (१, १०) गच्छन्ति निम्नं प्रदेशम्, आभिमुख्येन हन्ति तापम्, अहिंसकं वा प्राणिनाम्। "पृथिव्या निशशा अहिम् (ऋ० सं० १, ५, २६, १)"—इत्यत्र 'शश प्लुतगतौ (भू० प०), अन्तर्णीतण्यर्थः, निर्गमभूमौ पातन-मुच्यते, अहिम् मेघं वृत्रमित्यर्थः'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्। उदकं भवितुमर्हति। अन्वेषणीयो निगमः॥

(३२) अक्षरम्। निरुक्तं वाङ्नामसु (१, ११) व्याप्नोति जगत्, अश्यते भुज्यते वा प्राणिभिः, अनक्ति सेचयति भूमिं वा, न क्षरति क्षीयते कदाचिदपीति वा। "ततः क्षरत्यक्षरम् (ऋ० सं० २, ३, २२, २)"—इति निगमः॥

(३३) स्रोतः। 'स्रु गतौ (भू० प०)'। 'स्रुरीभ्यां तुट् च (उ० ४, १६७)'—इत्यसुन्। स्रवति निम्नं देशम्। "धन्वन् स्रोतः कृणुते गातु-मूर्मिम् (ऋ० सं० १, ७, २, ५)—इति निगमः॥

(३४) तृप्तिः। 'तृप् प्रेरणे (दि० प०)'। क्तिन्। यद्वा, 'क्तिच्क्तौ च सञ्ज्ञायाम् (३, ३, १७४)'—इति क्तिच्। तृप्यन्ति हि देवतास्तेन तर्पिताः, तृप्यन्ति तेन पीतेन प्राणिन इति वा। तथाच श्रुतिः—'मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः (अथ० सं० ३, १३, ६)'। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(३५) रसः। रसतिः शब्दार्थः (भू० प०)। पचाद्यच् (३,

१, १३४)। रसति हि तन्मेघपर्वतादिभ्यः पतत्। यद्वा, 'रस आस्वादने (चु० प० अ०)'। 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः (३, ३, ११८)' रस्यते आस्वाद्यते जिह्वया लिह्यते इति रसः। यद्वा, रसोऽपां गुणः, गुणगुणिनोरभेदोपचारेणाख्यायते, मत्वर्थीयस्य लुग् वा रसवान् रसः। यद्वा, रसतिरर्चतिकर्मा (३, १४), पचाद्यच् (३, १, १३४), अर्च्यते देवतात्वात्, अर्च्यतेऽनेन देवता इति वा। *"आ त्वा विशन्त्विन्दवः (ऋ० सं० ६, ६, १६, २)"*—इति निगमः॥

(३६) उदकम्। 'उदकञ्च (उ० २, ३६)'—इत्युणादिसूत्रेण उदकशब्दो निपात्यते। क्वुन्प्रत्यये खनतेरुत्पूर्वस्यधातुलोपः। उत्खायते तद् वायुना विभज्यमानं कर्म, उत्खनति वा भूमिं स्वेन वेगेन कर्त्ता। उत्पूर्वस्य वाञ्चतेर्लोपः उदकमिति, उदञ्चतीत्युदकम्। "उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते (अथ० सं० ३, १३, ४)"—इति, "समानमेतदुदकम् (ऋ० सं० २, ३, २३, ५)"—इति, "मण्डूका इवोदकात् (ऋ० सं० ८, ८, २४, ५)"—इति, "मण्डूका उदकादिव (ऋ० सं० ८, ८, २४ ५)"—इति च निगमः॥

(३७) प्रयः। 'प्रीञ् तर्पणे (क्र्या० प०)'। असुन् (उ० ४, १८४)। तृप्यन्तेऽनेन देवताः। यद्वा, प्रपूर्वात् यमतेः (भ्वा० प०) असुनि टिलोपो बाहुलकात्। प्रकर्षेण गच्छन्ति प्रयः। "आपो न द्वीपं दधति प्रयांसि (ऋ० सं० २, ४, ८, ३)"—इति निगमः॥

(३८) सरः। 'सृ गतौ (भू० प०)'। असुन् (उ० ४, १८४)। सरति स्रियते वा सरः। "साकं सरांसि त्रिंशतम् (ऋ० सं० ६, ५, २६, ४)"—इति निगमः॥

(३९) भेषजम्। 'भिषज् चिकित्सायाम्' कण्ड्वादिः (प०)। पुंसि संज्ञायां घः (३, ३, ११८)। भिषज्यन्त्यनेन भेषजम्, 'अनन्तावसथेतिह भेषजात्'—इति निर्देशात् साधु। "आप इद्वा उ भेषजीरापो (ऋ० सं० ८, ७, २५, ६)"—इति श्रुतिः। 'भेषं रोगं जयति'—इति दुर्गः। यद्वा, भेषजमस्मिन्नस्तीति भेषजम्। अर्श आदित्वादच् (५, २, १२७)। तथा "अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा (ऋ० सं० १, २, ११, ५)"—इति श्रुतिः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४०) सहः। सहिरभिभवार्थः (दि० प०), अभिभवते उष्णमग्निं वा। यद्वा, सहो बलं (निघ० २, ६), तदस्यास्तीति मत्वर्थीयस्य लुक् (१, ४, ११ वा०)। बलवत् हि बलम्। "महद्दातुं पुरुहूत क्षियन्ते (ऋ० सं० २, २, ३, २)"—इति निगमः। सकारलोपश्छान्दसः॥

(४१) शवः। 'टुओश्वि गतिवृद्ध्योः (भू० प०)'। 'श्वेः सम्प्रसारणञ्च (उ० ४, १८८)'—इत्यसुन्। श्वयति गच्छति वर्द्धते वा वर्षाकाले। शवतेर्वा गतिकर्मणः (निघ० २, १४) असुन्। शवति गच्छति शवः। निगमोऽन्वेषणीयः। माधवेन स्वीये नामनिघण्टौ 'शवः'—इत्येतत्पाठि, 'शिपम्'—'शापम्' इत्येते पठिते। द्वितीयमाशतायिचासु मातृषु प्रतीपं

शपन्तयो वदन्ति। शिवमिति सनिगमं दृष्टमपि भाषायामपि जलपर्य्यायत्वात् अत्र तत्पर्य्यायेण तस्य पाठे प्रयोजनं मन्दम्, शापमित्येतत्त्वत्यन्ताप्रसिद्धम् प्रायः पूर्वाचार्य्यैः समाम्नाये अपठितम्। अस्य च उदकनामत्वेनाप्रसिद्धत्वात्, शवस्य ओजः सहः इत्याभ्यां सह प्रसिद्धपाठेऽत्र दृष्टत्वात्, प्रायोऽक्षरसाम्याच्च लेखकैः प्रायेण शव इति लिखितमिति। शपन्त्यनेनेति शापम्। 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् (३, ३, १९)'—इति घञ्। हस्ते ह्युदकमादाय शपन्ति मुनय इति श्रूयते॥

(४२) यहः। यातं प्राप्तं पिपासितैः, हुतं च यज्ञे देवतात्वात्। असुनि यातेर्ह्वयतेश्च द्विधातुजं रूपम्, पृषोदरादिः (६, ३, १०९)। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४३) ओजः। 'उब्ज आर्जवे (तु० प०)'। 'उब्जेर्बलोपश्च (उ० ४, १८७)'—इत्यसुन्, बाहुलकादुदकेऽपि भवति। उब्जतेरुक्तपक्षे न्यग्भावार्थश्च। उब्जतेर्वा नैरुक्तधातोर्वृद्धिकर्मणोऽसुन्प्रत्ययः। उब्जत्यनेनेत्युक्। न्यग्भावयति वा स्ववेगेनाततप्रदेशं, वर्द्धते वा वर्षासु यत्नवद्वा। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४४) सुखम्। सुखावहत्वात् सुखम्। 'सुखं कस्मात्? सुहितं खेभ्यः (नि० ३, १३)'—इति भाष्ये स्कन्दस्वामी। सुष्ठु हितं खेभ्यः। नेयं हितयोगलक्षणा चतुर्थी (१, ४, ४४ वा०), इन्द्रियाणामचेतन्यात् सुखादिभिरसम्बन्धात्, अत इयं हेतौ पञ्चमी (२, ३, २५), इन्द्रियविषयसन्निकर्षस्य सुखहेतुत्वात् उपपद्यते इन्द्रियाणां हेत्वर्थकयथाश्रुतसम्बन्धानुपपत्तेश्च

सबन्धयोगपदार्थान्तराध्याहारः। अतिशयेन हितं पुरुषस्य, खेभ्यः खहेतुकमित्यर्थः। हितं वा पुरुषे आत्मधर्मत्वात् सुखादीनां धर्माधिकरणत्वाच्च धर्मिणाम्। अथवा खेभ्य इति चतुर्थ्येव, खशब्देन च आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणेति सम्बन्धिसम्बन्धात् पुरुष एवोच्यते इति यथाश्रुतसम्बन्धः। तथाचोपनिषत्—'पर्यः स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः'। क्षुराधाने अव्यवहितं स्यादित्युपलक्ष्य प्राणान्ते च प्राणानां भवतीति प्राणादिशब्दैस्तस्योहसिद्धं दर्शयति—'खं पुनः खनतेः (निरु० ३, ११)' उत्पूर्वस्य उत्खनति विनाशयति, किम्? परत्रप्राप्तिसुखम्, कथम्? कायसुखप्रवृत्तेरधोगमनात् इति सुखम्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४५) क्षत्रम्। 'क्षदिः सौत्रः'। 'क्षद स्थैर्ये' इति स्कन्दस्वामी। माधवपक्षे क्षदिः शकलीकरणार्थो हिंसार्थश्च। क्षद गतिहिंसनयोः'—इति सुबोधिनीकारः। गुधृवीपचिवचियमि [मनि] सदिक्षदिभ्यस्त्रः (उ० ४, १६२)'। वर्षाव्यतिरिक्तेषु ऋतुषु सूर्यरश्मिभिराहता ह्यापो मेघेषु घनीभूताः पाषाणवत् स्थिरा भवन्ति, जलाशयं प्राप्य वा, अश्यते भुज्यते वा, अतिपीतं श्लेष्मादि जनयित्वा प्राणिनो हिनस्ति वा, गच्छति निम्नं गम्यते वा तदर्थिभिः। यद्वा, क्षत्रशब्दो बलनाम। अर्श आद्यच् (५, २, १२७)। बलवदि जलम्। धननाम वा (निघ० २, १०), तद्धेतुत्वात्ताच्छब्द्यम्। क्षतादत्रवृष्टिरन्कुशात् त्रायन्ते इति वा क्षतशब्दात् त्रायतेश्च क्षत्रम्, पृषोदरादिः (६, ३, १०९)। "युवं

नो येषु वरुण क्षत्रम् (ऋ० सं० ४, ४, २, ६)"।
वृहच्च बलमन्नं वेति माधवभाष्यम्। "उत द्यावापृथिवी क्षत्रमुरु ऋ० सं० ४, ८, ८, ३)"—इत्यत्र च क्षत्रं धनमिति इष्टम्। उभयमप्युदकं भवितुमर्हति ॥

(४६) आवयाः। आङ्पूर्वात् 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु (अदा० प०)'—इत्यस्मात् 'इणश्चासिः (उ० ४, २१६)'—इति बाहुलकादासिप्रत्ययः। उपसर्गश्च धात्वर्थानुवर्त्तकः आभिमुख्यार्थो वा, अस्यते वीयते आभिमुख्येन गम्यते इति वा आवयाः। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४७) शुभम्। 'शुभ दीप्तौ (भ्वा० आ०)'। क्विप्प्रत्ययः। शोभते दीप्यते स्वेन तेजसा देवतात्वात्। द्वितीयैकवचनस्य प्रयोगो यथादृष्टम्। "शुभं पृक्षमिषमूर्जं वहन्त (ऋ० सं० ५, १, १, ४)"—"इषं जनाय वहथः शुभस्पतीः (ऋ० सं० ७, ८, १८, ४)"—"द्रवत्पाणी शुभस्पती (ऋ० सं० १, १, ५, १)"—इति च निगमाः ॥

(४८) यादुः। 'या प्रापणे (अदा० प०)'। 'भृमृशीतॄचरित्सरितनिधनिमस्जिभ्य उः (उ० १, ७)'—इति बाहुलकादुप्रत्ययो दुड़ागमश्च। याति निम्नं प्रदेशं यादुः। 'यादुः स्याद् गमनक्रियम्'—इति माधवः। तदानीमुप्रत्ययो बाहुलकात्। "ददाति मह्यं यादुरी (ऋ० सं० २, १, ११, ६)" इत्यत्रस्कन्दस्वामी—'यादुरित्युदकनाम, रो मत्वर्थीयः'—इति ॥

(४९) भूतम्। 'भू सत्तायाम् (भ्वा० प०)' निष्ठातकारः कर्त्तरि। पूर्वमेव सत् भूतम् प्रथमदृष्टत्वात्। 'अपएव सस-

जादौ तासु बीजमवासृजत् (१ अ० ८ श्लो०)'—इति मनुः। अथवा 'भू प्राप्तौ (चा आ०)'—इति धातुः। प्राप्यं पिपासितैः। यद्वा, पञ्चसु पृथिव्यादिषु महाभूतेष्वन्तर्भावात् भूतमित्युच्यते। 'भातान्तरिक्षं निर्मीयन्ते अस्मिन् भूतानि (२, ८)'—इति निरुक्त एवोदाहरणम्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(५०) भुवनम्। 'भू सत्तायाम् (भू० प०)'। 'भूसूधूभ्रस्जिभ्यश्छन्दसि (उ० २, ७५)'—इति क्युन्प्रत्ययः, उवङादेशः। भवन्त्यनेन सर्वे पदार्था इति भुवनम्। "य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत् (ऋ० सं० ८, ३, १६, १)"—"इमा च विश्वा भुवनान्यस्य (ऋ० सं० ३, ३, ३१, ४)"—इति च निगमौ॥

(५१) भविष्यत्। भवतेरेव। 'लृट् शेषे च (३, ३, १३)'—इति लृट्, 'लृटः सद्वा (३, ३, १४)', 'स्यतासी लृलुटोः (३, १, ३३)' इडागमः (७, २, ३५)। जलं हि आगामिन्यपि काले विद्यते, प्रलयेऽपि जलत्वस्य नाशाभावात्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(५२) महत्। 'मह पूजायाम्' भ्वादिः (प०)' कथादिश्च (चु० अ०)। अस्मात् 'वर्त्तमाने पृषन्महद्बृहज्जगच्छतृवच्च (उ० २, ७८)'—इति निपातनम्। महति महयति वा देवता मनेन पुरुषस्येति महत्, महते वा देवतात्वात्। यद्वा, मानेन स्वगतेन परिमाणेन अन्यान् स्वस्मादूनप्रमाणान् पदार्थान् जहाति अतिक्रामति 'दशोत्तराण्यावरणानि सप्त'—इत्यत्र विष्णुपुराणे सर्वमहत्वं जलतत्त्वस्योक्तम्। मानशब्दाज्जहातेश्च पृषोदरादि-

त्वाद्रूपसिद्धिः। "महत्त उल्वं स्थविरं तदासीत् (ऋ० सं० ८, १, १०, १)"—इति निगमः।

(५३) आपः। एतदुक्तसमानार्थम्। एतत्तु ताभिर्हि व्याप्तम्, आप्नोतेः सङ्ग्रहकर्मकत्वात्। तथाचाथर्वणिका श्रुतिः—आपो अग्रे विश्वमावन् (अथ० सं० ४, २, ६)'—इति। यद्वा, कर्मणि क्विप्, इन्द्रेण आप्ता आपः, तदाप्नोतीन्द्रो वा। 'तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु ष्ठन (अथ० सं० ३, १३, २)'—इति श्रुतिः। "आपो हि ष्ठा मयोभुवः (ऋ० सं० ७, ४, ५, १)"—इति निगमः॥

(५४) व्योम। निरुक्तमन्तरिक्षनामसु। (२) व्ययति प्राणिनः संवृणोति भूमिमिति वा। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(५५) यशः। 'अशू व्याप्तौ (स्वा० आ०)'—अश भोजने (क्र्या० प०)। 'अशेर्देवने युट् च (उ० ४, १८६)'—इत्येतस्माद् बाहुलकादुदकेऽपि भवति। 'अशेर्युट् च'—इत्येव श्रीभोजदेवः। अश्नुते व्याप्नोति जगत्, अश्यते वा प्राणिभिः। "तिर्यग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। अत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः (अथ० सं० १०, २६, ६)"—इति निगमः॥

(५६) महः। महदित्यनेन समानम्। अत्रासुन्प्रत्ययः (उ० ४, १८४)। "मह्ना जिनोषि महिनि (ऋ० सं० ४, ७, २६,१)"—इति निगमः। 'महो अर्णः (ऋ० सं० १, १, ६, ३—निरु० ११, २७)'—इत्यत्र 'मह उदकनाम'—इति स्कन्दस्वामी। "महोभ्यः स्वाहा"—इति च॥

(५७) सर्णीकम्। 'सृ गतौ (भ्वा० प०)'। 'सर्त्तेर्नुम् च (उ० ४, २३)'—इतीकन्प्रत्ययः। अधिकृतं किस्वन्तु बाहुलकान्न भवति, गुणः, धावति सर्णीकम्। "सलिलाय त्वा सर्णीकाय त्वा सतीकाय त्वा"—इति निगमः॥

(५८) स्यूतीकम्। स्वृ शब्दोपतापयोः (भ्वा० प०)' स्वरतिर्गत्यर्थः (निघ० २, १४), अर्चतिकर्मा च (निघ० ३, १४)। 'अलीकादयश्च (उ० ४, २५)'—इतीकन्प्रत्ययान्तेषु द्रष्टव्यः, निपातना त्तुगागमः। शब्दं करोति, गच्छति, पूज्यन्तेऽनेन देवताः, पूज्यते वा स्वयं देवतात्वात् इति स्यूतीकम्। निगमोऽन्वेषणीयः॥ "सतीकम्"—इति केचित् पठन्ति। 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु (भ्वा० तु० प०)'—पूर्ववदीकन् (उ० ४, २५), दकारस्य तकारः। गच्छति अवसीदति कुड्यानि अनेनेति वा। "सतीकाय त्वा" —इति पूर्वमुक्तो निगमः। अत्र सशब्देऽवग्रहकरणं पदकाराणामभिप्रायस्य वैचित्र्यात्॥

(५९) सतीनम्। पूर्ववत् सर्वम्, दकारस्य तकारोऽपि निपातनात्। यद्वा, सती शोभना असौ, सामर्थ्यान्माध्यमिका वाक्, सा ईना ईश्वरा अस्य तत् सतीनम्, 'संज्ञापूरण्योश्च (६, ३, ३८)' —इति पुंवद्भावनिषेधः। "अथो सतीन कङ्कतः (ऋ० सं० २, ५, १४, १)"—इति निगमः। "सतीन सत्वाहव्यो भरेषु (ऋ० सं० १, ६, ८, १)"—इति च॥

(६०) गहनम्। 'गाहू विलोडने (भ्वा० आ०)'। 'युच् बहुलम् (उ० २, ७४)'—इति युच्प्रत्ययः, बहुलवचनाद्ध्रस्वत्वम्।

अवगाह्यते प्राणिभिः गहनम्। "अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् (ऋ० सं० ८, ७, १७, १)"—इति निगमः। अत्राम्भः गभीरमित्येते निरुक्तस्य योजनीये ॥

(६१) गभीरम्। गमेर्धातोः 'गभीरगम्भीरौ (उ० ४, ३४)'—इति नुगागमः ईरन्प्रत्ययो मकारलोपश्च निपात्यते। गच्छति यज्ञेष्वाहूतं वसतीवर्य्यादिरूपेण। "पवि दीने गभीर आँ (ऋ० सं० ६, ४, ५३, १)"—"न तं हन्ति स्रवतो गभीराः (ऋ० सं० ८, ६, ५, ४)"—इति च निगमौ ॥

(६२) गम्भरम्। 'कृदरादयश्च (उ० ५, ४२)'—इत्यरप्रत्ययान्तेषु द्रष्टव्यः। निपातनाद् गमेरन् भडागमश्च। पूर्ववदर्थः। यद्वा, 'ग्रह उपादाने (क्या० उ०)' पूर्ववदरन्, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (सि० कौ० वै० ३ अ०)। रेफस्य मकारो बाहुलकात् स चाकारात् परः। गृह्यते वसतीवर्य्यादित्वेन। "गम्भरेषु प्रतिष्ठाम् (ऋ० सं० ८, ६, २, ४)"—इति निगमः ॥

(६३) ईम्। अव्ययमिदम्। "वि यदञ्जाँ अजथनाव ईं यथा (ऋ० सं० ४, ३, १४, ४)"—इति निगमः। बहुषु पाठेषु "कम्"—इति दृश्यते, तल्लिपिभ्रमतः। अतः ईमित्येव पठितव्यम् ॥

(६४) अन्नम्। 'अन प्राणने (अदा० प०)'। 'कॄवृजॄसिद्रुपन्यमिस्वपिभ्यो नित् (उ० ३, १)'—इति नप्रत्ययः। अन्यते प्राण्यते प्रजाभिः, न हि कदाचिदपि जलेन विना जीवन्ति प्राणिनः 'अस्य शोषादयो दोषा भवन्ति यदलाभतः। न हि तोयाद् विना तृप्तिः स्वस्थस्याप्यातुरस्य च"—इति वाग्भटः। अत्तेर्वा निपात-

कारः, अत्रान इति निर्देशात् आध्यादेशाभावः, अद्यते स। अन्न-हेतुत्वाद्वा अन्नमित्युच्यते। "हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै (ऋ० सं० २, ७, २३, ५)"—इति निगमः॥

(६५) हविः। 'हु दानादनयोः (जु० प०)'। 'अर्चिशुचि-हुसृपिच्छादिच्छर्दिभ्य इसिः (उ० २, १०९)'—इति इसिप्रत्ययः। दीयते पिपासितेभ्यः, आदीयते वा जनैरुपभोगाय। अथवा हूयते देवतोद्देशेन, प्रक्षिप्यते वैश्वानरे हविरिदं जुहोमीत्यादिमन्त्रैः। "हविषाजारो अपां पिपर्त्ति (ऋ० सं० १, ३, २३, ४)"—"विश्व-कर्मन् हविषा वावृधानः (ऋ० सं ८, ३, १६, ६)"—इति च निगमः॥

(६६) सद्म। (६७) सदनम्। 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु (भू० तु० प०)'। पूर्वत्र, 'मनिन् (उ० ४, १४०)'—इति मनिन्-प्रत्ययः। उत्तरत्र, 'युच् बहुलम् (उ० २, ७४)'—इति युच्। विशीर्य्यते शिलादिषु पातात्, विशीर्य्यन्तेऽनेन कुड्यादय इति वा, गच्छति वागच्छति निम्नं, गम्यते वा प्राणिभिः, अवसादयति पिपासायुक्तं वा। 'हविर्हविष्मो महि सद्म दैव्यम् (ऋ० सं० ७, ३, ८, ५)"—इति निगमः॥

(६८) ऋतम्॥

(६९) योनिः। 'यु मिश्रणे (अदा० प०)'। 'वहिश्रियुद्रु-ग्लाहात्वरिभ्यो निः (उ० ४, ५१)'—इति निप्रत्ययः। युतं मितं सम्पृक्तं सर्वपदार्थैः। यद्वा, वेतेर्वकारस्य उकारः, स च ईकारात्परः यणादेशः, स एव प्रत्ययः। परिवीतं हि जलं वायुना

तीरेण वा। यद्वा, योनिः कारणमन्नस्य। 'वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः (मनुः ३, ७६)'—इति हि स्मृतिः। "चरत् प्रियस्य योनिषु प्रियः सन् (ऋ० सं० ८, ७, ७, ५)"—"त्वचं पृञ्चन्त्युपरस्य योनौ (ऋ० सं० १, ५, २७, ३)"—इति च निगमौ॥

(७०) ऋतस्य योनिः। यज्ञस्य योनिः नह्युदकेन विना कश्चिदपि यज्ञः कर्त्तुं शक्यते, ऋतस्य आगामिनो वर्षजलस्य योनिर्वा,—आदित्यो भौमं रसं रश्मिनादत्ते पुनर्वर्षाकाले वर्षति, तथा—'सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः'—इत्युक्तम्। 'अस्य योनिर्भवति'—इति माधवः। "ऋतस्य योनि मा सदः (ऋ० सं० ४, १, १३, ४)"—"ऋतस्य योनागर्भे सुजातम् (ऋ० सं० १, ५, ६, २)"—इति निगमौ॥

(७१) सत्यम्। सत्सुभवम् 'भवेच्छन्दसि (४, ४, ११०)'—इति यत्। यद्वा,सत्सु साधुः 'तत्र साधुः (४, ४, ९८)'—इति यत्। सतोऽर्हमिति वा 'छन्दसि च (५, १, ६७)'—इति यः। "विद्युदसिविद्यामयाद्ध्यानभृतात्सत्यमुपैति"—"ऋतात् सत्यमुपागात्"—इति च निगमौ॥

(७२) नीरम्। 'णीञ् प्रापणे (भ्वा० उ०)'। स्फायितञ्चिवञ्चिशकि (उ० २, १२)'—इत्यादिना रन्प्रत्ययः। नयति प्रापयति शुद्धिं नीयते वा पुरुषेण स्वाभिमतकार्यसम्पादनाय। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(७३) रयिः। 'रीङ् गतौ। 'अच इः (उ० ४, १३४)'—इति इप्रत्ययः, गुणः। रीयते गच्छति रयिः। यद्वा, रातेः (अदा०

प०) इत्यत्यये बाहुलकात् युगागमो धातोर्ह्रस्वश्च । दीयते पिपासितेभ्यः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(७४) सत् । 'अस भुवि (अदा० प०)' । लटः शतरि 'श्नसोरल्लोपः (६, ४, १११)' सत् । सर्वदा विद्यमानं प्रलयेऽपि नाशाभावात् 'सदसि भूयाः'—इति निगमः ॥

(७५) पूर्णम् । पॄ पालनपूरणयोः (जु० क्र्या० प०)' । निष्ठातकारः । 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७, १, १०२)', 'हलि च (८,२, ७७)', 'रदाभ्याम् (८, २, ४२)'—इति निष्ठानत्वम्, 'रषाभ्यां नो णः (८, ४, १)'—इति णत्वम्, पूर्णम् । रक्षितं सेत्वादिना, तदर्थिभिः पूर्तिर्वा कर्षाहादिषु । यद्वा, 'पूरी आप्यायने, दिवादिश्चुरादिश्च । 'वादान्तशान्तपूर्णदस्त (७, २, २७)'—इत्यादिना निपातितम् उपभोगक्षीणं आप्यायितम् । "पूर्णं पूर्णेन सिच्यते (अथ० सं० १०, ८, २९)"—इति निगमः ॥

(७६) सर्वम् । 'सृ गतौ (उ० प०)' । सर्वनिघृष्वरिष्वलष्वशिवपद्वप्रह्वेष्वो अतन्त्रे (उ० १, १५१)'—इति निपातितम् । अतन्त्रे अकर्तरीत्यर्थः । सृतमनेन । यद्वा, बाहुलकात् कर्तरि भवति, सर्वम् । उभयत्रापि पचाद्यच् (३, १, १३४) । हिनस्ति पिपासामुष्णं वा । 'सर्वमसि सर्वं मे भूयाः'—इति निगमः ॥

(७७) अक्षितम् । 'क्षि क्षये (भ्वा० प०)' । भावे निष्ठातकारः । क्षितं क्षयः, स यस्य न विद्यते, तदक्षितम् । सर्वदा सर्वैरुपभुज्यमानमपि समदृत्तया उपर्युपरि वर्धनाद्वा क्षयरहितमित्यर्थः । क्षियः 'निष्ठायामण्यदर्थे । वाक्रोशदैन्ययोः (६, ४, ६०—६१)'

इति विहितो दीर्घः, अत्र च भावो पचदर्थः तस्मात् स न भवति, दीर्घाभावात् 'क्षियोऽदीर्घात् (८, २, ४६)'—इति निष्ठानत्वमपि न भवति। "उत्समक्षितं व्यचन्ति (अथ० सं० ४, २७, २)"—"समानमर्थमक्षितम् (ऋ० सं० २, १, १८, ५)"—"अक्षितमत्यै जुहोमि स्वाहा"—इति च निगमाः॥

(७८) बर्हिः। निगमोऽन्वेष्यः। बृंहेर्नलोपश्च (उ० २, १०२)'—इत्यादिना पूर्ववत् साध्यम्॥

(७९) नाम। नमतेः (भू० प०), 'मनिन् (उ० ४, १४०)'—इति मनिन्प्रत्यये धातोर्मलोपो दीर्घश्च निपात्यते। नम्यते पुरुषैर्देवत्वात्। णिजन्ते वा निपातनम्। नमयति नदीतीरनिकटवर्तिनो वेतसादीन्। अथवा 'अम गत्यादिषु' भ्वादिः 'अम रोगे' चुरादिः, नञ्पूर्वः, अस्मान्निपातनं पूर्ववत्। न अमन्ति गच्छन्त्यनेन। न हि स्नानपानोपयोगिजले विद्यमाने प्राणिनोऽन्यत्र गच्छन्ति। तथाहि—श्रोत्रियसजलनदीप्रभृतिषु विद्यमानेष्वेव वासो विधेय इति स्मृतिः। न आमयत्यनेन रोगी न भवत्यनेनेत्यर्थः। 'आपो अमीवचातनीः (ऋ० सं० ८, ७, २५, ६)'—इति श्रुतिः। "नामानि यह्वो अधि येषु वर्धते (ऋ० सं० ७, २, २३, १)"—"दधाना नाम यज्ञि यम् (ऋ० सं० १, १, ११,४)"—इति च निगमौ॥

(८०) सर्पिः। सृप् गतौ (भू० प०)'। 'अर्चिशुचिहुसृपिच्छादिच्छर्दिभ्य इसिः (उ० २, १०१)'—इति इसिप्रत्ययः। सर्पति द्रवद्रव्यत्वात्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(८१) अपः। 'आप्लृ व्याप्तौ'(स्वा० उ०)'। 'आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा (उ० ४, २०२)'—इत्यसुनप्रत्ययो बाहुलकात् जलेऽपि भवति, अपः। आप इत्यनेन समानार्थम्। "यह्वीनां गर्भो अपसामुपस्थात् (ऋ० सं० १, ७, १, ४)"— "जामीनामग्निरपसि स्वसॄणाम् (ऋ० सं० २, ८, १४, १)"— इति च निगमौ ॥

(८२) पवित्रम्। 'पूञ् पवने (क्र्या० उ०)'। 'पुवः संज्ञायाम् (३, २, १८५)'—इति करणे इत्रप्रत्ययः। पुनात्यनेनात्मानं स्नातः। अथवा 'कर्त्तरि चर्षिदेवतयोः (३, २, १८६)'—इत्यपां देवतात्वात् कर्त्तरि इत्रप्रत्ययः। पुनाति पापकृतः। तथाच मनुः— 'ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम्। वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम् (५ अ० १०५ श्लो०)'—इति। "शतपवित्राः स्वधया मदन्तीः (ऋ० सं० ५, ४, १४, ३)"—इति निगमः ॥

(८३) अमृतम्। नञ्पूर्वात् म्रियतेर्धातोः 'तनिमृङ्भ्यां किच्च (उ०, ३, ८५)'—इति तन्प्रत्ययः। न म्रियन्ते हि प्राणिनोऽनेन पीतेन। अथवाऽत्यन्तस्वादुरसत्वादमृतमित्युच्यते, तथा 'अमृतो ह्यापः'—इति श्रुतिः। "यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम् (ऋ० सं० २, ३, १८, १)"—इति निगमः ॥

(८४) इन्दुः। 'ञि इन्धी दीप्तौ (रु० आ०)'। अस्मात् 'उन्देरिच्चादेः (उ० १, १२)'—इति विधीयमान उप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति, धकारस्य दकारश्च। इन्धे दीप्यते स्वेन तेजसा देवतात्वात्। यद्वा, 'उन्दी क्लेदने (रु० प०)'। 'उन्देः

रिचादेः ॰ (उ० १, १२)'—इत्युप्रत्ययः आदेरिदादेशश्च उनत्ति भूमिमिन्दुः। यद्वा, 'इदि परमैश्वर्य्ये (भू० प०)'। अस्मादु-प्रत्ययः। परमेश्वरं हि जलं देवतात्वात्, प्राणिनां प्राणनस्य जीवनस्य च तदायत्तत्वाच्च। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(८५) हेम। हिरण्यनामसु व्याख्यातम्। (२) हिनोति गच्छति निम्नं प्रदेशं, गम्यते वा तदर्थिभिः, वर्द्धते वा वर्षासु। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(८६) स्वः। सुपूर्वादर्त्तेरन्तर्भावितण्यर्थात् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति विच्, गुणः 'स्वरादिनिपातमव्ययम् (१, १, ३७),' सुपो लुक्, रेफस्य विसर्जनीयः। अनावृष्ट्यादिजनितं क्लेशं सुष्ठु शोभनं गमयति नाशयति, स्वः। यद्वा, केवलादेव स्वार्थे णिच् 'अपिशब्दः सर्वोपाधिव्यभिचारार्थः'—इत्युक्तेरिष्टार्थसिद्धिः। अरणं गमनं दोषरहितत्वेन शोभनं यस्य, सुष्ठु गच्छति निम्नं प्रदेशमिति वा, सुष्ठु प्राणिभिर्गम्यते इति वा, स्वः। अकारान्तमप्यस्ति। सुपूर्वादमतेश्च बाहुलकाद् भवति। "आविः स्वः कृणुते गूहते बुसं (ऋ० सं० ७, ७, १६, ४)"—"स्व १: सिषासन्नुथिरो गविष्टिषु (ऋ० सं० ७, ३, १, २)"—इति च रेफान्तस्य निगमौ। "आसु स्वासु वंसगः (ऋ० सं० ८, ८, २, ३)"—इत्यकारान्तस्य। समाम्नायपाठः उभयत्र समानः॥

(८७) सर्गाः। 'सृज विसर्गे (तु० प०)'। कर्मणि घञ्। सृज्यते मेघैर्विसृज्यत इति सर्गः, जसि सर्गाः। यद्वा, सर्गो वेगः

'अर्शआदिभ्यादच् (५, २, १२७)'। वेगवन्ति हि जलानि। "सर्गासो वतांइव (ऋ० सं० ७, ७, ११, ४)"—इति निगमः॥

(८८) शम्बरम्। सम्पूर्वाद् वृणोतेः 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च (३, ३, ५८)'—इत्यप्। संव्रियते मेघैः। यद्वा, पचाद्यच् (३, १, १३४), वृणोति हि भूमिं संवरम्। पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) शम्बरम्। यद्वा, शम्बो वज्रः निरुक्तो मेघनामसु (१०)। तद्वानपीन्द्रः शम्बः, मत्वर्थीयस्य लुक्। 'रा दाने (अदा प०)' शम्बेनेन्द्रेण दीयते शम्बरः। 'घञर्थे कविधानम् (३, ३, ५८ वा०)'—इत्यस्योपलक्षणार्थत्वात् कः। यद्वा, शञ्च तद्वरञ्च शम्बरः। शमनं च रोगाणामुत्कृष्टञ्च सर्वपदार्थेषु इत्यर्थः। 'शम्बरं सम्बरं जलम्'—इति माधवः। "अतिथिग्वाय शम्बरं गिरेरुग्रो अवाभरत् (ऋ० सं० २, १, १६, २)"—इति निगमः॥

(८९) अम्भम्। आङ्पूर्वात् भवतेः क इत्येव बाहुलकाद् भवति, उपसर्गह्रस्वत्वञ्च। 'छन्दस्युभयथा (६, ४, ८६)'—इति सुपि भूसुधियोर्विधीयमानो यणादेशो व्यत्ययेन कप्रत्ययेऽपि भवति। आ समन्ताद् भवति विद्यते अम्भम्। 'अम्भमा भवति'—इति माधवः। "सनेम्यम्भं मरुतो जुनन्ति (ऋ० सं० २, ४, ८, ३)"—इति निगमः॥

(९०) वपुः। 'टुवप बीजसन्तानसन्ताने (भ्वा० उ०)'। 'अर्त्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित् (उ० २, ११०)'—इत्युसिप्रत्ययः। उप्यतेऽनेन बीजम्, बीजवपने हि जलं साधकतमं

भवति। "चरिष्णव १ विर्वपुरामिदेकम् (ऋ० सं० ३, ५, ७, ४)" —इति निगमः॥

(६१) अम्बु। अन्तरिक्षनाम्नोऽम्बरशब्दस्य निर्वचने विस्तरेणोक्तम्। (३) निगमोऽन्वेषणीयः॥

(६२) तोयम्। तवतेर्वृद्धिकर्मणः (निरु० ६, २५) 'अघ्न्यादयश्च (उ० ४, १०८)'—इति यत्प्रत्ययो निपातितो द्रष्टव्यः। वर्द्धते वर्षासु। 'तुदति तोयम्'—इति क्षीरस्वामी। तुदतेः पूर्ववत् यत्प्रत्यये निपातनाद् दकारलोपो गुणः। यद्वा, तुदिः सौत्र आवरणार्थः। "तोयेन जीवदुभ्यः ससर्ज भूम्याम्"—इति निगमः॥

(६३) तूयम्। पूर्ववन्निपातनाद्रूपसिद्धिः। उकारस्य दीर्घः (६, ३, १३३)। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(६४) कृपीटम्। 'कृपू सामर्थ्ये (भू० आ०)'। 'कृतॄकृपिभ्यः कीटन् (उ० ४, १८०)'—इति कीटन्प्रत्ययः। 'कृपो रो लः (८, २, १८)'—इत्यत्र, काशिकावृत्तिः—'कृपणकृपीटकर्पूरादयोऽपि कृपेरेव द्रष्टव्याः'। 'उणादयो बहुलम् (३, ३, १)'—इति च कृपेरेव बाहुलकाल्लत्वाभावः। भाष्ये तु—'कृपणादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः (८, २, १८ भा०)'—इति लत्वाभावः। कल्पने तापनिवारणाय। "यथा कृपीटमनु वहन्ति (ऋ० सं० ७, ७, २१, २)"—इति निगमः॥

(६५) शुक्रम्। 'शुच दीप्तौ (निरु० १, १७)'। अस्मात् 'ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र (उ० २, २७)'—इत्यादिना ककारान्ता-

देशे रमत्वयो गुणाभावश्च निपात्यते। —शोचते शुक्रः। यद्वा, शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः (निघ० १, १७) सम्पदादित्वात् (३, ३, ९५ वा०) क्विप्। शुचि, तदस्य, रो मत्वर्थीयः। दीप्तिमित्यर्थः। शुक्रं तेजःशब्दो वा, रेतःपर्य्यायत्वात्, 'देवानां वै रेतो वर्णम्'— इति श्रुतेः उदकनामत्वमपि बोद्धव्यम्। "शुक्रासु ते शुक्रमायुनाम्" —इति निगमः॥

(६६) तेजः। 'तेज् पालने' भ्वादिः परस्मैपदी। असुन् (उ० ४, १८४)। तेजयति पालयति प्राणिनः पिपासादिनि-वारणात्। यद्वा, 'तिज निशाने (भ्रू० आ०)' असुन्। अग्निजत्वादपां कार्य्यकारणयोरभेदोपचारात् तेज इत्युक्तिः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(६७) स्वधा। स्वशब्द उपपदे 'डु धाञ् दानधारणयोः (जु० उ०)'—इत्यस्मात् 'आतोऽनुपर्गे कः (३, २, ३)'। स्वमात्मानं सर्वान्तर्यामिणं भगवन्तं नारायणं धारयति 'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः। (मनुः १ अ० १० श्लो०)'—इति। स्वं धनं ददातीति वा, शस्योत्पत्तिहेतुत्वात्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(६८) वारि। ऊर्णोतेः इण्प्रत्ययः। वार्य्यते तत् सेत्वादिभिः पुरुषैः। वाजसनेये सौत्रामणीप्रैषे—"देवं बर्हिर्वारितीनाम् (य० वा० सं० २१, ५७)"—इति निगमः। अत्र भाष्यकृदुवटः— 'वारितीनामुदकवतीनां वारिप्रभवानां वा ओषधीनां सम्बन्धिनि अध्वरे स्तीर्णम्'—इत्यादि॥

(९९) जलम्। 'जल घातने (भू० प०)'। 'घातनं तैक्ष्ण्यम्'—इति वृत्तिः। जलति शीतं भवति। यद्वा, जायत इति जः। 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डो निरुपपदादपि जनेर्भवति। जैः जातैः प्राणिभिः लायते आदीयते इति जलम्। 'ला आदाने (अदा० प०)'। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१००) जलापम्। जैः जातैः लप्यते वाञ्छ्यते (भू० उ०) इति जलापम्। जशब्द उपपदे लपेः कर्मणि घञ्। 'जलापं जलपितं जातैः'—इति माधवः। यद्वा, जलापमिति सुखनाम, सुखहेतुत्वादयं तद्धेतौ ताच्छब्द्यम्। "रुद्र जलाषभेषजम् (ऋ० सं० १, ३, २६, ४)"—इति निगमः। 'जलापमुदकनाम वा'—इति माधवोऽभाषत॥

(१०१) इदम्। 'इदि परमैश्वर्ये (भू० प०)' इदिरयमनुम्। 'इन्देः कमिर्नलोपश्च (उ० ४, १५२)'—इति कमिप्रत्ययः। देवत्वादयं परमैश्वर्यं विद्यते। 'इणो दमुक्'—इति श्रीभोजदेवः, ईयते निम्नं प्रदेशं गम्यते वा। यद्वा, इन्धेः कमिन् बाहुलकान्नलोपो धकारस्य दकारश्च। इन्धे दीप्यते इदम्। "सखायो या इदं ययुः (ऋ० सं० २, ५, २६, ५)"—"ता जिह्वया सदमेदं सुमेधाः (ऋ० सं० ५, १, १०, ३)"—"रूपामिमानो अरुणोदिदन्तः (ऋ० सं० ४, २, १६, ३)"—इति च निगमाः॥

इत्येकशतमुदकनामानि (१०१)॥ १२॥

अवनयः (१)। यव्युः (२)। खाः (३)। सीराः (४)। स्रोत्याः (५)। एन्यः (६)। धुनयः (७)। रुजानाः (८)। वक्षणाः (९)। खादो अर्णाः (१०)। रोधचक्राः (११)। हरितः (१२)। सरितः (१३)। अग्रुवः (१४)। नभन्वः (१५)। वध्वः (१६)। हिरण्यवर्णाः (१७)। रोहितः (१८)। सस्रुतः (१९)। अर्णाः (२०)। सिन्धवः (२१)। कुल्याः (२२)। वर्य्यः (२३)। उर्व्यः (२४)। इरावत्यः (२५)। पार्वत्यः (२६)। स्रवन्त्यः (२७)। ऊर्जस्वत्यः (२८)। पयस्वत्यः (२९)। सरस्वत्यः (३०)। तरस्वत्यः (३१)। हरस्वत्यः (३२)। रोधस्वत्यः (३३)। भास्वन्त्यः (३४)। अजिराः (३५)। मातरः (३६)। नद्यः (३७)। इति सप्तत्रिंशन्नदीनामानि ॥१३॥

(१) अवनयः। पृथ्वीनामसु व्याख्यातः। (१) अवन्ति जगत् स्रोदपेन, अव्यन्ते प्राणिभिस्तीरादिनिर्माणेन। "आसिञ्चन्ती-

ध्वनयः समुद्रम् (ऋ० सं० ४, ४, ३१, १)"—"गा न व्राणा अवनीरमुञ्चत् (ऋ० सं० १, ४, २६, ५)"—इति च निगमौ। निगमेषु बहुवचनान्तत्वेन प्रायशः श्रवणात् सर्वत्र बहुवचनान्तत्वम् ॥

(२) यह्वयः। 'या प्रापणे (अदा० प०)'। 'शेवयह्वजिह्वाग्रीवाप्वामीवा (उ० १, १५२)'—इति निपातनात् अप्रत्ययो धातोर्ह्रस्वत्वं हुगागमश्च। बाहुलकाद्दापः स्थाने ङीप् पिप्पल्यादित्वाद् द्रष्टव्यम्। याति तांस्तान् प्रदेशान् प्राप्यन्ते वा प्राणिभिः। यद्वा, 'यह्वः'—इति महन्नाम (निघ० ३, ३), पूर्ववत् ङीप्। यह्वयः महत्यो नद्यः। द्विधातुजं वा इदं नाम,—यातेर्ह्वेञः, पृषोदरादिः (६, ३, १०९)। याताश्च प्राणिभिः हूताश्च यह्वोऽर्थ्विर्यर्थः।
"स्वयमत्कैः परिदीयन्ति यह्वीः (ऋ० सं० २, ७, २४, ४)"—
"अवर्द्धयन्त्सुभगं सप्त यह्वीः (ऋ० सं० २, ८, १३, ४)"—इति च निगमौ ॥

केषुचित् कोशेषु "यव्याः"—इतीदं नाम दृष्टम्। 'यु मिश्रणे (अदा० प०)' पृथग्भावोऽप्यस्यार्थः—इति नैगमकाण्डे 'वियुते (निरु० ४, २५)' इत्यस्य निर्वचने स्कन्दस्वामिना प्रतिपादितः। 'यु मिश्रणे'—इति, अयं पठ्यते, प्रयुज्यते च—'जनयत्यै त्वा संयौमि'—इति, तथापि पृथग्भावेऽपि वर्त्तते। न चायं वैदपसर्गस्यार्थः, केवलस्यापि दर्शनात्—'युतं धनमस्य' 'युतं भोजनमस्य' 'युतोऽयम्'—इति पृथग्भूत इति गम्यते'—इति। अस्मात् 'धारुयुवपिरपिलपित्रपिचमश्च (३, १, १२६)'—इति ण्यति प्राप्ते 'हस्वन्यतो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति 'अचो यत् (३, १, ९७)'

गुणे, 'वान्तो यि प्रत्यये (६, १, ७९)' वर्षासु मेघैरुदकेन मिश्रणीयाः अन्येषु सूर्यरश्मिभिराकृष्टेन पृथग्भवन्तो वा। अथवा 'युञ् बन्धने (क्र्या० उ०)' अस्मात् अघ्न्यादित्वात् (उ० ४, १०८) यक् द्रष्टव्यः। बध्यते आसु सेतुरिति, यव्याः। यद्वा, यवेभ्यो धान्यविशेषेभ्यो हिताः 'खलयवमाषतिलवृषब्रह्मणश्च (५, १, ७)' —इति यत्। नदीजलेनापि यवादयो वर्धन्ते यव्याः। "धार्ण त्वा यव्याभिः (ऋ० सं० ६, ७, २, २)"—इति निगमः। 'हृदमिव कुल्याभिः'—इति माधवभाष्यम्। अनयोर्युक्तं गृह्णन्तु सूरयः॥

(२) खाः। 'खन अवदारणे (भ्वा० उ०)' 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इत्यत्र 'अपिशब्दः सर्वोपाधिव्यभिचारार्थः (३, २, १०१ भा०)'—इत्युक्तेर्निरुपपदादपि जनिव्यतिरिक्तादपि खनेर्डः प्रत्ययः, टाप्। वृत्रहननादिन्द्रेण खाताः। तथा च श्रुतिः— 'अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार (ऋ० सं० १, २, ३८, १)'—इति, 'इन्द्रो अस्मा अरदद् वज्रबाहुः (ऋ० सं० ३, २, १३, १)'—इति च नदीवाक्यम्। यद्वा, खनन्ति भूमिं वेगेन वहन्त्यः। अथवा, 'खै दाने'। 'घञर्थे कविधानम् (३, ३, ५८)'—इत्यस्योपलक्षणार्थत्वात् कः, टाप्। 'खै स्थैर्ये हिंसायाञ्च (भ्वा० प०)'—इति वा। खायन्ति स्थिरा भवन्ति वृत्रेण रुद्धाः, हिंस्यन्ते वा तेन, खाः। "सरायस्खामुप सृजा गृणानः (ऋ० सं० ४, ७, ८, ४)"—"ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य (ऋ० सं० २, ७, ६, ५)"—इति च निगमौ॥

(४) सीराः। 'षिञ् बन्धने' औवादिकः क्रैयादिकश्च। 'शुसिचिमीनां दीर्घश्च (उ० २, २४)'—इति रन्प्रत्ययः। सीयन्ते बध्यन्ते आसु सेत्वादितः शिलादिभिरवतारा वा। 'सरणात् सीराः'—इति सर्त्तेर्धातोः 'कृशॄपॄकटिपटिशौटिभ्य ईरन् (उ० ४, २६)'—इति बाहुलकाद् भवति टिलोपश्च। 'सीराशब्दो नदीवचनान्तोदात्तः, हलवचन आद्युदात्तः'—इति माधवः। "द्रवित्न्वः पृथिव्यां सीरा अधि (ऋ० सं० ८, १, ८, ४)"—"सीरा इन्द्रः स्रवितवे पृथिव्या (ऋ० सं० ३, ६, २, ३)"—इति च निगमः॥ "सीरा युञ्जन्ति कवयः (ऋ० सं० ८, ५, १८, ४)"—इति हलवचनः॥

(५) स्रोत्याः। स्रोतसि भवाः। 'स्रोतसो विभाषाड्यड्यौ (४, ४, ११३)'—इतिड्यप्रत्ययः। स्रोतोऽनुसरणाद्धि नद्यो भवन्ति। "नवति स्रोत्या नव स्रवन्ती (ऋ० सं० ८, ५, २५, ३)"—इति निगमः॥

(६) एन्यः। 'इण गतौ (अदा० प०)'। 'वीज्याज्वरिभ्यो निः (उ० ४, ४८)'—इति बाहुलकान्निप्रत्ययः। 'कृदिकारात् (४, १, ४५ वा०)'—इति ङीप्। यन्ति एन्यः गमनस्वभावा हि नद्यः गम्यन्ते वा प्राणिभिः। "वि यद् वर्त्तन्त एन्यः (ऋ० सं० ४, ३, १२, २)"—इति निगमः। एनीशब्दो नदीवचनोऽन्तोदात्तः अन्यत्राद्युदात्तः इति माधवः। "एनी त मते बृहती अभिश्रिया (ऋ० सं० २, २, १३, ६)"—इति अस्योदाहरणम्॥

(७) धुनयः। 'धूञ् कम्पने' भौवादिः। बहुलानुवृत्तेः 'घृणिपृश्निपार्ष्णिचूर्णिभूर्णि (उ० ४, ५२)'—इत्युक्तेर्निप्रत्ययः

किच। धुन्वन्ति कम्पयन्ति तीरवृक्षादीनि, कम्पन्ते वा स्वयं गमनशीलत्वात्। "दिवेदिवे धुनयो यन्त्यर्थम् (ऋ० सं० २, ७, १२, २)"—इति निगमः ॥

(८) रुजानाः। 'रुजो भङ्गे' तुदादिः परस्मैपदी। व्यत्ययेन शानच्, अत्र च प्रथमासमानाधिकरणे शानच् भवति, मुगागमस्तु न क्रियते आगमानित्यत्वेन व्यत्ययेन वा। रुजन्ति कूलानि। "सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः (ऋ० सं० १, २, २७, १)"—इति निगमः ॥

(९) वक्षणाः। 'वक्ष रोषे (भू० प०)'। 'क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च'—इति युच्। वक्षन्ति क्रुध्यन्तीव हि ताः वर्षासमये वेगेन गच्छन्त्यः। चित्स्वरं बाधित्वा व्यत्ययेन प्रत्ययस्वरः। यद्वा, 'वह प्रापणे (भू० उ०)'। अस्माद् 'युच् बहुलम् (उ० २, ७४)'—इति युचि पुगागमो बाहुलकाद् भवति। स्वयं प्रवहन्ति हि ताः। 'वक्षतिः प्रातिकर्मणः स्यात्'—इति माधवः। युच्। प्राप्यन्ते हि ताः प्राणिभिः प्राप्नुवन्ति वा समुद्रं निम्नं वा। "प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् (ऋ० सं० १, २, ३६, १)"— "महि ज्योतिर्निहितं वक्षणासु (ऋ० सं० ३, २, ३, ४)"—इति निगमौ ॥

(१०) स्वादोअर्णाः। 'स्वाद भक्षणे (भू० आ०)'। कर्त्तव्ये-सुन् (उ० ४, १८४) अर्णशब्दोऽकारान्तोऽपि निरुक्तः उदकनामसु (१२)। स्वादः, भक्ष्यमाणः। भक्षणेन चात्र बाधनं लक्ष्यते, तेन कूलं बाधमानोऽर्णो जलं यासामिति स्वादोअर्णाः, वेगवज्जला

इत्यर्थः । 'प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे (६, १, ११५)' । तथा च माधवः—"धन्वर्णसो नद्यः स्वादोअर्णाः (ऋ० सं० ४, २, २६, २)"—इत्यत्र 'धन्वर्णसस्तद्वज्जलाः । स्वादोअर्णा जलान्विताः । स्वादो वेगवज्जलं यासां तास्तथोक्ताः 'भक्षितकूलोदकाः'—इति । "धन्वर्णसः (ऋ० सं० ४, २, २६, २)"—इत्ययं निगमः । अप्रार्णशशब्दो विशेषणम्, अन्यो वा निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(११) रोधचक्राः । 'रुधिर् आवरणे (रु० प०)' 'भावे (३, ३, १८)' घञ् । 'डुकृञ् करणे (तना० उ०)' 'घञर्थे कविधानम् (३, ३, ५८ वा०)—इति कः । 'कृञादीनां के द्वे भवतः'—इति द्वित्वम् । चक्रम् करणम्, रोधः, रोधस्य निरोधस्य चक्रं करणं कृतिरासां विद्यते इति रोधचक्राः । नद्यो वृष्ट्या प्राणिनां स्वैर-सञ्चरणनिरोधकारिणः । यद्वा, रोधः तीरं, तस्य करणं निर्माण-मासां विद्यते तीरवत्यो हि नद्यः । सकाररलोपश्छान्दसः । यद्वा, रुधेः करणे घञि (३, ३, १९) रुध्यतेऽनेन जलप्रवाह इति रोधः शब्दः करणं निर्माणमासां विद्यते । "समुद्रं न स्रवतो रोधचक्राः (ऋ० सं० २, ५, १३, २)"—इति निगमः ।

(१२) हरितः । 'हृञ् हरणे' भ्वादिः (उ०), 'हृ प्रसह्यकरणे' जुहोत्यादिः । 'हृसृरुहियुषिभ्य इतिः (उ० १, ९४)' । हरन्ति वृक्षगुल्मादीनि वेगेन, प्रसह्य हरन्ति वा । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१३) सरितः । 'सृ गतौ (भ्वा० प०)' । पूर्वेण सूत्रेण (उ० १, ९४) इतिप्रत्ययः । पन्य इत्यनेन समानार्थः । "सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना (ऋ० सं० ३, ८, ११, १)"—"यो वां

समुद्रान्तश्चरितः पिपर्त्ति (ऋ० सं० ५, ५, १७, २)"—इति निगमौ ॥

(१४) अग्रुवः । 'अग्नि गतौ (भू० आ०)' । 'जग्रुवादयश्च (उ० ४, १००)'—इति रुप्रत्ययान्तेषु निपातितेषु द्रष्टव्योऽयं शब्दः, निपातनान्नलोपः, 'तन्वादीनां छन्दसि बहुलम् (६, ४, ८६ पा०)'—इत्युवङ् । गच्छन्ति तांस्तान् प्रदेशान् । 'अग्रुवो गमनात् नद्यः'—इति माधवः । "समग्रुवो समनेष्वञ्जन् (ऋ० सं० ५, २ १, ५)"—इति निगमः ॥

(१५) नमन्वः । 'रण नुम हिंसायाम्' भ्वादिरात्मनेपदी, दिवादिः क्र्यादिश्च परस्मैपदी । 'दामाभ्यां नुः (उ० ३, ३१)' —इति बाहुलकात् नुप्रत्यये नकार उपजनः । नमन्ते, नम्यन्ति, नम्नन्ति इति नमन्वः । 'जसादिषु छन्दसि वा वचनं प्राङ् णौ चङ्युपधायाः'—इति विकल्पितत्वात् 'जसि च (७, ३, १०९)' —इति गुणाभावः । नद्यो हि याधिकाः कूलादीनाम् । "प्राग्रुवो नभन्वो ३ नवकाः (ऋ० सं० ३, ६, २, २)"—इति स्त्रीलिङ्गे निगमः । "प्र पर्वतस्य नभनूँरचुच्यवुः (ऋ० सं० ४, ३, २४, ७)" —इति पुल्लिङ्गे । अत्र 'सिन्धवः स्युर्नभन्वः'—इति माधवनिर्वचनानुक्रमणी ॥

(१६) घस्वः । 'वह प्रापणे (भू० उ०) । 'वहो धश्च (उ० १, ८०)'—इति उप्रत्ययः । वहन्ति उह्यन्ते वा भूम्याम् । यद्वा, समुद्रस्य भार्यात्वात् वध्व इत्युच्यते । सरित्पतिर्हि समुद्रः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१७) हिरण्यवर्णाः। हिरण्यशब्दो निरुक्ते (२।२।१) 'ह्रर्यतेः कान्तम् हिरण्य'—इत्यादिना। 'वृञ्वरणे (स्वा० उ०)'। 'अर्ज्ये-न्द्राग्रवज्र (उ० २, २७)'—इत्यादिना नप्रत्ययान्तो निपातितः। वृणोति व्रियते वाऽसाविति वर्णः श्वेतादिः। हिरण्यः कान्त इष्टो वर्णो यासां ताः। यद्वा, हिता घर्मादौ रमणीया मनः-प्रह्लादजनयित्र्यः, वारिकाश्च तापादेर्मूम्या वा इति। "हिरण्यवर्णाः परियन्ति यहीः (ऋ० सं० २, ७, २३, ४)"—इति निगमः॥

(१८) रोहितः। 'रुह बीजजन्मनि (भू० प०)'। 'हरुरुहि-युषिभ्य इतिः (उ० १, ६४)'। रोहन्त्याभिर्वीजानि, तज्जलेन हि बीजानि प्ररोहन्ति। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१९) सस्रुतः। सम्पूर्वात् 'स्रु गतौ (भू० प०)'—इत्यस्मात् 'क्विप् च (३, २, ७६)'—इति क्विप्प्रत्ययः। सङ्गताः सस्रुतः। समोऽन्तलोपश्छान्दसः क्षुद्रनद्यो महानद्यश्च परस्परं सङ्गता भवन्ति ततः सस्रुत इत्युच्यन्ते। सस्रुतः सङ्गता इति माधवः। यद्वा, स्रवतेः सम्पदादित्वात् (३, ३, ६४ वा०) क्विप्। स्रवणं स्रुतजलप्रवाहः स्रोत इत्यर्थः, तथा सह वर्तन्ते इति सस्रुतः। 'सहस्य सः सञ्ज्ञायाम् (६, ३, ७८)'—इति सः, सस्रुतः। 'सस्रुतः स्रोतसा युक्ताः'—इति च माधवः। "अतएव धेना अधनन्त सस्रुतः (ऋ० सं० २, २, ८, १)"—इति निगमः॥

(२०) अर्णाः। 'ऋण गतौ' तनादिः (प०)। 'धयायच (३, १, १३४)' अर्णन्ति गच्छन्त्यर्णाः। यद्वा, अर्ण इत्यकारान्तम्-प्युदकनामेत्युक्तम्। (१५१ पृ०) अर्श आदित्वादच् (५, २, १२७)'

जलवत्यो हि नद्यः। 'अर्त्तेरर्णांस्युपगाः'—इति माधवः। तत्र पक्षे 'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३, ६)'—इति नप्रत्ययः। यद्वा, पचाद्यचि (३, १, १३४), अर्त्तेः 'उदके नुट् च (उ० ४, १९२)'—इत्यसुनि विहितो नुडागमो बाहुलकाद् भवति। "ऋणोरपो अनवद्यार्णाः (ऋ० सं० २, ४, १६, २)"—इति निगमः॥

(२१) सिन्धवः। 'स्यन्दूप्रस्रवणे (भू० आ०)'। 'स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च (उ०१,११)'—इत्युप्रत्ययः। स्यन्दन्ते इत्यर्थः। "अधो अक्षाः सिन्धवः स्रोत्याभिः (ऋ० सं० ३, २, १३, २)" —"यस्य ते सप्त सिन्धवः (ऋ० सं० ६, ५, ७, २)"—इति च निगमौ॥

(२२) कुल्याः। 'कुल संस्त्याने (भू० प०)'। कोलन्ति संस्त्यायन्त्यस्मिन् शिलादय इति कुलं पर्वतः। कुले प्रधानभूते पर्वते भवाः कुल्याः। 'भवे छन्दसि (४, ४, ११०)'—इतियत्। कुलिशनिर्वचने 'कुलशातनः (निरु० ६, १७)'—मेघस्य पर्वतस्य वा समुच्छ्रिताः प्रदेशाः, कुलाः, तेषां च शातनः इत्युक्तेः। मेघस्य पर्वतस्य वा समुच्छ्रिते प्रदेशे कुले भवन्तीति कुल्याः। क्षीरस्वामी तु 'कुलानि पर्वतानि श्यति पक्षच्छेदनेन तनूकरोति, कुलिशः'—इत्युक्तवान्। यद्वा, 'कुल्याऽल्पा कृत्रिमा सरित् (अम० १, १०, ३४)—इत्यत्र क्षीरस्वामिनो व्याख्या—'कृत्रिमा अल्पा च क्षेत्रसेकार्या कुल्या'। कुले साधुः 'तत्र साधुः (४, ४, ९८)'—इति यत्। यदाहुः—'कुल्यादानं जलं विद्यात् कुल्यो मान्ये व्यवस्थितः। दाम्पत्यं कुलमित्यन्ये हलं वा कुलमुच्यते'—इति। "स्यन्दन्तां

कुल्या विषिताः पुरस्तात् (ऋ० सं० ४, ४, २८, ३)"—"हृदं कुल्या इवाऽऽशत (ऋ० सं० ३, ३, ६, ३)"—इति च निगमौ ॥

(२३) वर्य्यः। 'वृञ् वरणे (स्वा० उ०)'—'वृङ् सम्भक्तौ (क्र्या० आ०)'। 'अच इः (उ० ४, १३४)'—इति इप्रत्ययः, 'कृदिकारात् (४, १, ४५ वा०)'—इति ङीप्। वरणीयाः सम्भजनीया वा वर्य्यः। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

इदं नाम माधवः "ऋतावर्य्यः"—इत्यपठत्। 'ऋतमित्युदकनाम (निघ० २, ५२)' "छन्दसीवनिपौ च (५, २, १२२ वा०)" —इति मत्वर्थीयो वनिप्, 'वनो र च (४, १, ७)'—इति ङीब्रफौ, 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः, ऋतावर्य्यः। "ऋतावरीरुप मुहूर्त्तमेवैः (ऋ० सं० ३, २, १२, ५)"—इति निगमः ॥ अत्र स्कन्दस्वामिना 'नदीनाम'—इति नोक्तम्, युक्तं गृह्णन्तु सूरयः॥

(२४) उर्व्यः। उर्णुञ् आच्छादने (अदा० उ०)'—इत्यस्माद् वृणोतेश्च। उर्वी इति पृथिवीनामसु व्याख्यातम् (१, १, १०)। महत्यो नद्यः, छादयित्र्यो वा भूमेः स्वेनोदकेन ॥

एतदादीनामुत्तरेषां नाम्नां निगमा अन्वेऽप्वणीयाः प्रायेण ॥

(२५) इरावत्यः। 'इण गतौ (अदा० प०)'। 'ऋजेन्द्राग्रवज्रविप्र (उ० २, २९)'—इत्यादिना रप्रत्ययो गुणाभावो निपात्यते। इरा चव, तदासामस्ति मतुप्, वत्वं, ङीप् ॥

(२६) पार्वत्यः। पर्वतशब्दो निरुक्तो मेघपर्वतानां नामत्वेन (११, १०, ६)। 'तस्यापत्यम् (४, १, ९२)'—इत्यण्, ङीप् (४, १, १५)॥

(२७) स्रवन्त्यः। स्रु गतौ (भ्वा० प०)। लट्; शतृतो ङीप्। सर्वदा गमनस्वभावाः। "नवति स्रोत्या नव च स्रवन्तीः (ऋ० सं० ८, ५, २५, ३)"—इति निगमः। अत्र स्रोत्या इति विशेषणम्॥

अस्य स्थाने "रेवत्यः"—इति केषुचित् कोशेषु दृश्यते। तदा, 'रयिः'—इत्युदकनाम (१२, ७३)। रयिरासामस्तीति मतुप्, 'रयेर्मतौ बहुलम् (६, १, ३४ वा०)'—इति सम्प्रसारणम्। "पतिः सिन्धूनामसि रेवतीनाम् (ऋ० सं० ८, ८, ३८, १)"—इति निगमः। सिन्धुशब्दो विशेषणम्।

(२८) ऊर्जस्वत्यः। 'ऊर्ज बलप्राणनयोः' चुरादिः (प०)। असुन् (उ० ४, १८४)। ऊर्जयतीत्यूर्जो बलं तेन तद्वत्यः। 'अस्मायामेधास्रजो विनिः (५, २, १२१)'—'बहुलञ्छन्दसि (५, २, १२२)'—इत्युक्तेर्मतुप्, 'तसौ मत्वर्थे (१, ४, १९)'—इति भसञ्ज्ञा। बलवत्यो हि नद्यः यतः स्ववेगेन स्थिरानपि वृक्षादीन् हरन्ति। 'ओजसा वा एता वहन्तीरिवोद्धतीरिव आकुर्वन्तीरिव धावन्तीरिव'—इति श्रुतिः।

(२९) पयस्वत्यः। 'पा पाने (भ्वा० प०)'। पिबतेरी चासुन् (६, ४, ६६। उ० ४, १८४)। पीयत इति पयः। प्यायतेर्वा (भ्वा० आ०) असुनि बाहुलकात्, 'प्यायः पी (६, १, २८)'—इति निष्ठायां विहितः पीभावो भवति। वर्द्धतेऽनेन पीतेन प्राणिन इति पयः। उदकं तद्वत्यः॥

(३०) सरस्वत्यः। सर इत्युदकनाम्नि निरुक्तम् (१२, ३८), तद्वत्यः सरस्वत्यः॥

(३१) तरस्वत्यः। तॄ प्लवनतरणयोः (भू० प०)'। असुन् (उ० ४, १८४)। तरन्त्यनेनापदमिति तरो बलं, तद्वत्यः॥

(३२) हरस्वत्यः। 'हृञ् हरणे (भू० उ०)'। असुन् (उ० ४, १८४)। 'उदकं हर उच्यते'—इति निरुक्तम् (४, १९)' तद्धि यद्वो हरन्ति, सर्वं ह्रियते वा प्राणिभिरुपभोगाय, तद्वत्यः॥

(३३) रोधस्वत्यः। रोधसा तीरेण, तद्वत्यः। "चित्रा रोधस्वतीरनु (ऋ० सं० १, ३, १७, १)" इति निगमः॥

(३४) भास्वत्यः। 'भा दीप्तौ (अदा० प०)'। असुन् (उ० ४, १८४)। भा दीप्तिः, तद्वत्यः, दीप्तिमत्यो हि नद्यः॥

(३५) अजिराः। 'अज गतिक्षेपणयोः (भू० प०)'। 'अजिरशिशिरशिथिलस्थिरस्फिरस्थविरखदिराः (उ० १, ५३)'—इति किरच्प्रत्ययो वीभावाभावश्च निपात्यते। अजन्ति गच्छन्ति क्षिप्यन्ते प्रेर्यन्ते आसु नाव इति। यद्वा, 'अजिरम्'—इति क्षिप्रनाम (निघ० २, १५), अजिराः शीघ्रगाः॥

(३६) मातरः। 'माङ् माने (अदा० आ०)'। तृन्तृचौ, 'शंसिक्षदादिभ्यः सञ्ज्ञायां तृन्तृचौ (उ० २, ८०)'—इति वचनात्। 'न षट्स्वस्रादिभ्यः (४, १, १०)'—इति ङीप् प्रतिषेधः। निर्मीयते प्रजापतिना, मान्ति आसु आप इति वा, मातृवल्लोकस्य रक्षिका इति वा, नदीमातृक इति हि देशस्य व्यपदेशः। "जज्ञानं सप्तमातरः (ऋ० सं० ७, ५, ४, ४)"—"द्वितीयमा सप्तशिवासु मातृषु (ऋ० सं० २, २, ८, २)"—इति च निगमौ॥

(३७) नद्यः। 'णद अव्यक्ते शब्दे (भू० प०)'। पचाद्यच् (३, १, १३४)। तत्र च 'नदट्'—इति टिदयं पठ्यते (४, १, १५ मा०), ततो ङीप्। नदन्ति नद्यः। "सो अर्णवो न नद्यः समुद्रियः (ऋ० सं० १, ४, ११, २)"—"प्रतीपं शापं नद्यो वहन्ति (ऋ० सं० ७, ७, २०, ४)"—इति च निगमौ॥

इति सप्तत्रिंशन्नदीनामानि॥ १३॥

अत्यः (१)। हयः (२)। अर्वा (३)। वाजी (४)। सप्तिः (५)। वह्निः (६)। दधिक्राः (७)। दधिक्रावा (८)। एतग्वा (९)। एतशः (१०)। पैद्वः (११)। दौर्गहः (१२)। औच्चैःश्रवसः (१३)। तार्क्ष्यः (१४)। आशुः (१५)। ब्रध्नः (१६)। अरुषः (१७)। मांश्चत्वः (१८)। अव्यथयः (१९)। श्येनासः (२०)। सुपर्णाः (२१)। पतङ्गाः (२२)। नरः (२३)। ह्वार्याणाम् (२४)। हंसासः (२५)। अश्वाः (२६)।

इति षड्विंशतिरश्वनामानि॥१४॥

(१) अत्यः। 'अत सातत्यगमने (भू० प०)'। 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति कर्त्तरि यत्। अथवा 'अघ्न्यादयश्च

'(उ० ४, १०८)'—इति यत्प्रत्ययो द्रष्टव्यः। अतति सततं गच्छति, गच्छत्यनेनाश्वारोह इति वा। "वामत्या अपि कर्णे वहन्तु (ऋ० सं० ४, १, ३०, ४)"—इति निगमः॥

(२) हयः। 'हय गतिविक्रान्ते (भू० प०)'। पचाद्यच् (३, १, १३४)। हयति गच्छत्यध्वानं, विक्रमते वा। 'अश्वादीनां गतिविशेषो विक्रमणम्'—इति वृत्तिः। "हयो न विद्वाँ अयुजि स्वयं धुरि (ऋ० सं० ४, २, २८, १)"—"हयोऽसि (ता० ब्रा० १, १, ७)"—इति च निगमौ॥

(४) अर्वा। 'ऋ गतिप्रापणयोः (भू० प०)'। स्नामदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो वनिप् (उ० ४, १०६)'—इति वनिप् प्रत्ययः। गच्छत्यध्वानं प्रापयत्यध्वनः पारमिति वा। 'अर्वैरणवान् (निरु० १०, ३१)'—इति भाष्ये स्कन्दस्वामी। भाष्ये तु अर्वैरणवान् इत्यर्थप्रासवचनं द्रष्टव्यम्। अर्त्तेरन्तर्णीतण्यर्थाद्वा 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति वनिनि रूपम्। प्रेर्यते कशादिना प्रतिक्षणं पार्ष्ण्यादिनेति वा। यद्वा, अन्यमाश्रितः अस्वतन्त्र इत्यर्थः अश्वो ह्यारोहिपरतन्त्रः। "द्रुवो धन्वन् कृत्वा नार्वा (ऋ० सं० ४, ५, १४, ४)"—इति निगमः॥

(४) वाजी। 'वज गतौ (भू० प०)'। घञ्। वाजो वेगः। 'रंहस्तरणिः प्रसभो वेगो रयो जवो वाजः'—इति निघण्टुः। 'अजिव्रज्योश्च (७, ३, ६०)'—इत्यत्र न्यासः—'चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद् वजेरपि कुत्वप्रतिषेधसिद्धे भवति' वाजः

वाज्यम्'—इति। वाजोऽस्यास्ति 'अत इनिठनौ (५, २, ११५)' वाजी। वेगवान् ह्यश्वः। यद्वा, वाजोऽन्नं, देवतात्वे हविर्लक्षणेन, अश्वजातीयत्वे तज्जात्युचितमुद्गाद्यन्नेन तद्वान्। 'वाजाः पक्षाः अभूवन्नस्येति वाजी'—इति क्षीरस्वामी। वेजनवान् वा। वेजनं कम्पनं कम्पिनः स्वयं, कम्पयिता वा परेषामित्यर्थः। अत्र 'ओ विजी भयचलनयोः (तु० प०)'—इत्यस्माद् वाजशब्दः पृषोदरादित्वात् सिद्धः। "विमोचनं वाजिनो रासभस्य (ऋ० सं० ३, ३, १६, ५)"—इति निगमः॥

स्तिमितचक्षुः, कर्णशुक्तिकाकारो भवति'—इति। सर्वत्र दधच्छब्दः पूर्वपदं तस्य पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०६) तकारलोप इकारान्तादेशश्च। क्रामतेः क्रन्दतेराङ्पूर्वात् करोतेर्वोत्तरपदं, तत्र, क्रामतेः 'जनसनखनक्रमगमो विट् (३, २, ६७)'—इति विट्, 'विड्वनोरनुनासिकस्यात् (६, ४, ४१)'—इत्यात्वम्। क्रन्देः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति विच्, व्यत्ययेनानुनासिकस्यात्वं, दकारलोपश्च पृषोदरादित्वेन करोतेः क्विप् तुक् चानुवर्तते। आङ् च धातोः परो यणादेशः, दधिक्राः। "कर्तुं दधिक्रा अनुमन्तवी त्वत् (ऋ० सं० ३, ७, १४, ४)"—इति निगमः॥

(८) दधिक्रावा। अत्र 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति वनिप्। अन्यत्सर्वं पूर्वेण समानम् अर्थश्च। "दधिक्रावेवमूर्जं स्वर्जनत् (ऋ० सं० ३, ७, १४, २)"—इति निगमः॥

(९) एतग्वा। 'इण् गतौ (अदा० प०)'। 'हसिमृग्रिण्वामिदमिलूपूधुर्विभ्यस्तन् (उ० ३, ८६)'—इति तन्प्रत्ययः कर्मणि। 'भूतेऽपि दृश्यन्ते (३, ३, २)'—इत्युक्तेः भूतेऽपि भवन्ति। एतं प्राप्तम्। 'गम्लृ गतौ (भ्वा० प०)' 'इण्शीभ्यां वन् (उ० १, १५०)'—इति बाहुलकाद् वन्प्रत्ययः टिलोपश्च। गम्यत इति ग्वः गन्तव्यो देशः। एतः प्राप्तो गन्तव्यो येन स एतग्वः। अश्वस्तु शैघ्र्यातिशयेन गमनारम्भ पश्चाविलम्बितं गन्तव्यदेशं प्राप्नोतीति एत उच्यते। 'एतग्वाः प्राप्तगन्तव्याः'—इति माधवः। यद्वा, एतशब्दः शुक्लपर्य्यायः, गमेः क्विप्, 'गमः

कौ (६, ४, ४०)'—इत्यनुनासिकलोपः, 'ऊङ्च गमादीनाम् (६, ४, ४० वा०)'—इत्युकारोऽन्तादेशः। आगमनमागूः। धातूपसर्गयोः स्थानविपर्य्ययः प्राप्तः। एतस्य शुक्लवर्णस्यागमनमस्यास्ति मत्वर्थीयस्य लुक्। एतग्वाः शुक्लवर्णा अश्वाः। यद्वा, एतः शुक्लवर्णोऽस्यास्तीति 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम् (५, २, १०९)'—अन्येभ्योऽपि दृश्यते (५, २, १०९ वा०)'—इति वप्रत्ययः, गकार उपजनः। 'एतस्य श्वेतवर्णस्य ग्वो मत्वर्थीयो भवति'—इति माधवः। सर्वेषामश्वानां यत्र क्वापि शौक्ल्यमस्ति रूपेण वा। एतग्वाशब्दोऽश्वे वर्त्तते। तथाच 'विशाखाषाढौ मन्थदण्डयोः' —इत्यत्र पदमञ्जरी—'विशाखाषाढशब्दौ रूढिरूपेण मन्थदण्डयोर्वर्त्तेते, तेन यथाकथञ्चित् साधुत्वानुशासनार्थं व्युत्पत्तिः क्रियते, —इति। तेनामत्वर्थेऽपि न दोषः। 'एतावा'—इत्याकारान्तपाठो यथादृष्टम्। "एतग्वा चिद्य सुयुजा युजानः (ऋ० सं० ५, ५, १७, २)"—"एतग्वा चिद्य एतशा युयोजते (ऋ० सं० ६, ५, ६, २)"—इतिव निगमार्थे 'सुपां सुलुक् (७, १, ३९)'—इति विभक्तेराकारः॥

(१०) एतशाः। 'इण् गतौ (अदा० प०)'। 'इणस्तशन्तशसुनौ (उ० ३, १४५)'—इति तशन्प्रत्ययः। एतशः गमनकुशलः। यद्वा, एतशब्दात् लोमादित्वात् (५, २, १०) शत्। एतद्वा एतच्छरीर एतशः, पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) सर्वसिद्धिः। "एतशो वहति धूर्षु युक्तः (ऋ० सं० ५, ५, ५, २)"—"यदेतशेभिः पतरै रथर्यसि (ऋ० सं० ७, ८, १२, ३)"—इति च निगमौ॥

(११) पैद्वः। 'पद गतौ (दि० आ०)'। 'कृगृशृद्रुभ्यो वः (उ० १, १५३)' इति वप्रत्ययो बाहुलकात्, अकारस्यैकारः पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९)। पद्यते गच्छति पचतेऽनेनेति वा। 'पदेः पैद्वो गतिक्रियायाम्'—इति माधवः। "पैद्वो न हि त्व महि नाम्नां हन्ता (ऋ० सं० ७, ३, २४, ४)"—इति निगमः॥

(१२) दौर्गहः। दुरशब्दे उपपदे गृह्णातेः (क्र्या० उ०), गाहे वा (भ्वा० आ०) 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' (३, ३, १२६), रेफलोपः, पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) गृह्णातेः, गाहेर्ह्रस्वत्वम्। अश्वहृदयानभिज्ञैर्गृहीतुमशक्यत्वात् दुर्गह इत्युच्यते। दुर्गह एव दौर्गहः, प्रज्ञादित्वादण् (५, ४, ३८)। यद्वा, 'दुःखेन गहितव्यत्वात् दुर्गाहं जलमुच्यते'—इति माधवः, तत्र भवो दौर्गहः, 'तत्र भवः (४, ३, ५३)'—इत्यण्, 'अप्सु योनिर्वा अश्वः (शत० ब्रा० ५, ४, ४, ४)'—इति श्रुतिः। "सतस्त्रपयो दौर्गहे बध्यमाने (ऋ० सं० ३, ७, १८, ३)"—इति निगमः॥

(१३) औच्चैःश्रवसः। अमृतमन्थने जातोऽश्व उच्चैःश्रवाः। उच्चैर्महच्छ्रवः कीर्त्तिरस्येति, 'तस्यापत्यम् (४, १, ९२)'—इत्यण्। तत्कुलीना ह्यश्वाः सर्वे। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१४) तार्क्ष्यः। तूर्णमश्नुते गन्तव्यं, तीर्णे अन्तरिक्षे क्षियतीति तार्क्ष्यः। तूर्णशब्दात् तीर्णशब्दाद्वा पूर्वपदम्, अश्नोतेः क्षीयतेर्वोत्तरपदम्, पृषोदरादिः (६, ३, १०९)। अश्वो हि वेगवशादाकाशे गच्छन्निव हि दृश्यते प्रेक्षकैः। यद्वा, वेगेन

तार्क्ष्यसादृश्यात् तार्क्ष्य इत्युच्यते। 'तुरङ्गगरुडौ तार्क्ष्यौ (अम० को० ३, ३, १४५)'—इत्यत्र तृक्षस्यापत्यं तार्क्ष्यः, गर्गादित्वात्, —इति क्षीरस्वामी। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१५) आशुः। 'अशू व्याप्तौ (स्वा० आ०)'। कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् (उ० १, १)'। अश्नुतेऽध्वानम्। अश्नातेर्वा बाहुलकादुण् (३, ३, १)। अश्नाति महाशनो भवति। आशुरिति क्षिप्रनाम (निघ० २, १५), शीघ्रो वा। "द्रवचक्रेष्वाशुषु (ऋ० सं० ६, ३, १३, ८)"—इति निगमः॥

(१६) ब्रध्नः। अत्र भास्करमिश्रेण—'ब्रध्नम् परिवृढम्, अरुषमारोचनम्'—इति व्याख्यातम्। वाजसनेये तु,—"युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषञ्चरन्तम् (ऋ० सं० १, १, ११, १)"—इत्यत्र, उवटः —'अश्वं युञ्जन्ति ब्रध्नमिति, अश्वोऽस्मादित्, स्तूयत इति वा॥

(१७) अरुषः। 'ऋ गतिप्रापणयोः (क्र्या० प०)'। ऋणाति अस्यामुखं गच्छति, अर्य्यते वा तदर्थिभिः। यद्वा, अरुषमिति रूपनाम (निघ० ६, ७), मत्वर्थीयोऽकारः, प्रशस्तरूप इत्यर्थः। "हरिं मृजन्त्यरुषो न युज्यते (ऋ० सं० ७, २, २७, १)"—इति निगमः॥

(१८) मांश्चत्वः। 'मन ज्ञाने (दि० आ०)'। पदस्य नलोपाभावः पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०६)। "महीमे अस्य वृषनाम शूषे मांश्चत्वे वा पृशने वा वधत्रे (ऋ० सं० ७, ८, २१, ४)"—इत्यत्र, माधवस्य प्रथममाष्यम्—'मही महती, इमे, अस्य सोमस्य, शूषे सुखकरे भवतः। ये च कर्मणी

मांश्चत्वे। अश्वनामैतत्। मक्षु चरतीति। अश्वैः क्रियमाणे युद्धे बाहुयुद्धे, पवत्रे शत्रूणां हिंसनशीले भवतः। सोऽयं—अस्वापञ्छत्रून्तत्रे हयश्च। स्रोहतं प्रद्रावणम्। अथ प्रत्यक्षकृतः'—इत्यादि। अत्र मांश्चत्वस्य। समाम्नायपाठेषु मंश्चत्व इति दृश्यते। 'ग्रध्नं मांश्चतोर्वरुणस्य बभ्रुम् (ऋ० सं० ५, ४, ११, ३)'—इत्यत्र माधवः—'मंश्चतुरित्यश्वनाम। इह तु वरुणविशेषणम्, मंश्चतोर्वरुणस्य महान्तं वभ्रम्'—इत्यभाषयत्, निरूपणीयम्॥

(१९) अव्यथयः। 'एवामष्टावुत्तराणि बहुवदित्युक्तम् (निरु० २, २४७)' असन्देहार्थमेतदादीनि बहुवचनान्तानि नामानि। 'व्यथ भयचलनयोः (भू० आ०)'। 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'—इतीन्प्रत्ययः, नञ्समासः। न व्यथन्त्यभिसङ्ग्रामेषु अव्यथयः द्रष्टे भयेऽप्यव्यथः स्यादिति भावः। यद्वा, व्यथिरिति क्रोधनाम (निघ० २, १३), आरोहणताडनबन्धनादिभिर्न कुध्यन्तीत्यर्थः। "पतत्रिभिरश्रमैरव्यथिभिः (ऋ० सं० ५, ५, १६, ७)"—इति निगमः॥

(२०) श्येनासः। 'श्येनः शंसनीयं गच्छति (निरु० ४, २४)'—इति भाष्ये। जसि 'आज्जसेरसुक् (७, १, ५०)'। "श्येनासो न दुवसनासो अर्थम् (ऋ० सं० ३, ५, ५, ५)"—इति निगमः॥

(२१) सुपर्णाः। 'पॄ पालनपूरणयोः (जु० प०)'। 'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३, ६)'—इति नप्रत्ययः। सुपालयन्ते

यवसादिप्रदानेन, पूरयन्ति वा नभः हेषारवादिना सङ्ख्या-मसाधनत्वात्। पततेर्वा बाहुलकात् नप्रत्ययस्तकारस्य रेफः, शोभनगमना इत्यर्थः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२२) पतङ्गाः। 'पत्लृ गतौ (भू० प०)'। 'पतेरङ्गच् (उ० १, ११७)'। यद्वा, खच्प्रकरणे 'गमेस्तु खच्युपसंख्यानम् (३, २, ६८ वा०)'—इति खच्, स्य डित्वं वक्तव्यः (३, २, ६८ वा०), 'खित्यनव्ययस्य (६, ३, ६६)'—इति मुम् पतङ्गा इति। 'अश्वाः पूर्वं पक्षिणोऽभूवन्'—इति श्रूयते। "रथे युक्तास आशवः पतङ्गाः (ऋ० सं० १, ८, १८, ४)"—इति निगमः। आशुशब्दो विशेषणम्॥

(२३) नरः। 'णीञ् प्रापणे (भू० उ०)'। 'नयतेर्डिच्च (उ० ३, ६३)'—इति ऋन्प्रत्ययः। जसि नरः। नयन्ति आरोहिणम्, कर्मणां नेतारो वा नरः। "त्वं सूरो हरितो रामयो नॄन् (ऋ० सं० १, ८, २६, ३)"—इति निगमः। 'नॄन् अश्वान्'—इति माधवः॥

(२४) ह्वार्य्याणाम्। 'ह्वृ कौटिल्ये (भू० प०)'। 'ऋहलो-र्ण्यत् (३, १, १२४)'। खलीनाद्याकर्षणे मुखादिष्वङ्गेषु कुटिलीक्रियन्ते ह्वार्य्याः। यद्वा, ह्वरतिरत्तिकर्मा (निघ० २, ८), 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति ण्यत्। ह्वरत्यर्थम् अस्याः ह्वार्य्याः। 'हरि गतौ'—इति माधवः। "ह्वार्य्याणाम्" —इति यथादृष्टपाठः। "पुत्रो न ह्वार्य्याणाम् (ऋ० सं० ४, १, १, ४)"—इति निगमः॥

(२५) हंसासः। 'हन हिंसागत्योः (अदा० प०)'। 'वृतॄवदिहनिकमिकषि (पुष्यचि) भ्यः सः (उ० ३, ६२)'—इति सप्रत्ययः। घ्नन्ति गच्छन्त्यध्वानं, गच्छन्तः पद्भिरध्वानं हिंसन्ति वा (ऐ० ब्रा० ५, १, १)। "हंसासो ये वां मधुमन्तो अस्रिधः (ऋ० सं० ३, ७, २१, ४)"—इति निगमः॥

(२६) अश्वाः। 'अशू व्याप्तौ (स्वा० आ०)'। 'अशुप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन् (उ० १, १५१)'—इति क्वन्प्रत्ययः। अश्नातेर्वा बाहुलकात्। अश्नुवतेऽध्वानं महाशना भवन्तीति च। "यदाश्विनु दिव्यमज्ममश्वाः (ऋ० सं० २, ३, १२, ५)"—इति निगमः॥

इति षड्विंशतिरश्वनामानि॥ १४॥

'दशोत्तराण्यादिष्टोपयोजनानीत्याचक्षते साहचर्यज्ञानाय (नि० २, २८)'—इतिहासपक्षेऽपि पूर्वपक्षापरपक्षावहोरात्रे वा॥

हरी इन्द्रस्य (१)। रोहितोऽग्नेः (२)। हरित आदित्यस्य (३)। रासभावश्विनोः (४)। अजाः पूष्णः (५)। पृषत्यो मरुताम् (६)। अरुण्यो गाव उषसः (७)। श्यावाः सवितुः (८)। विश्वरूपा बृहस्पतेः (९)। नियुतो वायोः (१०)। इति दशाऽऽदिष्टोपयोजनानि॥ १५॥

"(१) हरी इन्द्रस्य। सोमपानादिक्रियाया साधनत्वात् ॥

(२) रोहितोऽग्नेः। नित्यपक्षे ज्वाला अथवा व्याप्तिमत्यः ॥

(३) हरित आदित्यस्य। हरितवर्णा रश्मयः प्रातरादित्यस्य ॥

(४) रासभावश्विनोः। अश्विभोगकाले रासभवर्णौ, तत्कालोचितेन श्यामत्वेन वर्णेनायं व्यपदेशः ॥

(५) अजाः पूष्णः। अजा अजनात्। पूष्णः काले रश्मयो गच्छन्ति ॥

(६) पृषत्यो मरुताम्। प्रावृषि सर्वतः पृषत्यो विचित्रा मेघमाला मरुताम् ॥

(७) अरुण्यो गाव उषसः। उषसः काले तमोऽभिभवे अरुणिमायामागन्त्र्यः ॥

(८) श्यावाः सवितुः। सवितुः काले श्यामवर्णा भवन्ति ॥

(९) विश्वरूपा बृहस्पतेः। 'छन्दांसि वै विश्वरूपाणि (शत० ब्रा० ८, ४)'—इति श्रुतेः ॥

(१०) नियुतो वायोः। "अप्रवृत्तौ तृणपर्णानामवादेः सञ्चरणान्मिश्रणान्नियुतः ॥"—इति स्कन्दस्वामिग्रन्थाः ॥

शब्दव्युत्पत्तिस्तावत् प्रदर्श्यते—

(१) हरी। 'हृञ् हरणे (भ्वा० उ०)'। 'हृपिषिरुहिवृतिविदिछिदिकीर्तिभ्यश्च (उ० ४, ११५)'—इतीन्प्रत्ययः। हरतो रथम्। अत्र ताण्ड्यकम्—'पूर्वपक्षापरपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी, ताभ्यां हीदं सर्वं हरति (६, १, १)—इति, अस्मिन् पक्षे करणे इन्। 'ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी'—इत्यैतरेयब्राह्मणम् (२, ३,

६)। 'ऋक्सामे वै हरी'—इति यजुर्ब्राह्मणम् (४, ४, ३६)। "इन्द्रो हरी युयुजे अश्विना रथम् (ऋ० सं० २, ३, ५, १)"—इति निगमः ॥

(२) रोहितः। 'हृसृरुहियुषिभ्य इतिः (उ० १, ६४)'—इति इतिप्रत्ययः। रोहन्ति आरोहन्ति रथं वहन्त्यादित्यमिति रोहितः। "रोहिदश्व शुचिव्रत (ऋ० सं० ६, ३, ३२, १)"—इति निगमः ॥

(३) हरितः। पूर्ववत् इतिः (उ० १, ६४)। हरन्ति रथं तमो वा स्वभासा। यद्वा, हरिच्छब्दः पीतवर्णवचनो हरिद्वर्णो वा। "यदेदयुक्ताहरितः सधस्थात् (ऋ० सं० १, ८, ७, ४)"—इति निगमः ॥

(४) रासभौ। 'रासृ शब्दे (भू० आ०)'। रासिवल्लिभ्याञ्च (उ० ३, १२१)'—इत्यभच्प्रत्ययः। रासते शब्दं करोतीति रासभः, तौ रासभौ। 'गर्दभरथेनाश्विना उदजयताम्'—इति ब्राह्मणम् (ऐ० ब्रा० ४, २, ३)। "युञ्जाथां रासभं रथे (ऋ० सं० ६, ६, ८, २)"—"तद्रासभो नासत्या सहस्रभाजा (ऋ० सं० १, ८, ८, २)"—इति च निगमौ ॥

(५) अजाः। 'अज गतिक्षेपणयोः (भू० प०)'। पचाद्यच् (३, १, १३४)। वीभावाभावो व्यत्ययेन। अजन्ति गच्छन्ति सर्वतः क्षिपन्ति वा तमः। "अहेळमानो ररिवाँ अजाश्व श्रवस्यतामजाश्व (ऋ० सं० २, २, २, ४)"—इति निगमः ॥

(६) पृषत्यः। 'पृषु वृषु सेचने (भू० प०)'। 'वर्त्तमाने पृषन्महत् (६, ४, ३० वा०)'—इत्यादिना सिद्धम्। 'पृषत्यः सह

सङ्गताः'—इति माधवः। तदा 'पुंयोगादाख्यायाम् (४, १, ४८)' —इति ङीष्। "उपो रथेषु पृषतीरयुग्ध्वम् (ऋ० सं० १, ३, १६, १)"—इति निगमः॥

(७) गावः। व्याख्याता रश्मिनामसु (१, ५, ३)। गन्त्र्यः। "युङ्क्ते गवा मरुणानामनीकम् (ऋ० सं० २, १, ६, १)"—इति निगमः॥

(८) श्यावाः। 'श्यैङ् गतौ (भ्वा० आ०)'। 'कृगशॄदृभ्यो वः (उ० १, १५३)'—इति बाहुलकाद् वप्रत्ययः। श्यावो धूसरारुणो वर्णः, तद्वन्तोऽपि श्यावाः, 'गुणवचनेभ्यो मतुपो लुग्वक्तव्यः' (१, ४, १६ वा०)'। "वि जनाञ्छ्यावाः शितिपादो अख्यन् (ऋ० सं० १, ३, ६, ५)"—इति निगमः।

(६) विश्वरूपाः। नानावर्णाश्वाः। "बृहस्पतिश्च सविता च विश्वरूपैरिहागतम्"—"बृहस्पतिर्विश्वरूपामुपाजत (ऋ० सं० २, ३, ५, १)"—इति च निगमौ॥

(१०) नियुतः। निपूर्वात् 'यु मिश्रणे (अदा० प०)'—इत्यस्मात् क्विप्। नियुवन्ति मिश्रयन्ति तृणपर्णादीनि, आत्मानं रथेन वा। यद्वा, निपूर्वात् 'यमु उपरमे (भ्वा० प०)'—इत्यस्मात् 'मृग्रो रुतिः (उ० १, ११)'—इति बाहुलकात् उतिप्रत्ययष्टिलोपश्च। नियम्यन्ते सारथिना नियुतः। "नियुद्भिर्वा यविष्ठ्ये दुरोणे (ऋ० सं० ५, ६, १४, ३)"—इति निगमः॥

इति दशादिष्टोपयोजनानि ॥ १५ ॥

भ्राजते (१)। भ्राशते (२)। भ्राश्यति (३)। दीदयति (४)। शोचति (५)। मन्दते (६)। भन्दते (७)। रोचते (८)। द्योतते (९)। ज्योतते (१०)। द्युमत् (११)। इत्येकादशज्वलतिकर्माणः ॥१६॥

(१) भ्राजते। 'टु भ्राजृ दीप्तौ' भ्वादिरात्मनेपदी। "भ्राजते श्रेणिदन् (ऋ० सं० ७, ७, २, ३)"—इति निगमः॥

(२), (३) भ्राशते। भ्राश्यति। 'टु भ्राश्रृ म्लाशृ दीप्तौ' भ्वादी आत्मनेपदिनौ। 'वा भ्राशम्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः (३, १, ७०)'—इति पक्षे श्यन्, परस्मैपदित्वं छान्दसम्। "नि तिग्मानि भ्राशयन् भ्राश्यानि (ऋ० सं० ८, ६, २०, ५)"—इति निगमः। 'भ्राश्यति शिलाजितादीनि'—इति माधवः। म्लाश्यतीति पाठान्तरम्। भ्राश्यतीतिवत् प्रक्रिया॥

(४) दीदयति। नैरुक्तो धातुः (निरु० १०, ११)। यद्वा, 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः (अदा० आ०)'—इत्यस्य धकारस्य दकारो व्यत्ययेन, 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७३)'—इति शपो लुगभावः, परस्मैपदित्वं छान्दसम्। "यो अग्निर्मो दीदयद् स्वन्त १: (ऋ० सं० ७, ७, २४, ४)"—इति निगमः॥

(५) शोचति। 'शुच शोके' भ्वादिः परस्मैपदी, दीप्त्यर्थत्वं त्वनेकार्थत्वाद्धातूनाम्। "अजस्रेण शोचिषा शोशुचानः (ऋ० सं० ५, २, ७, ४)"—इति निगमः॥

(६) मन्दते। 'मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' अत्र दीप्त्यर्थः। भ्वादिरात्मनेपदी। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(७) भन्दते। 'भदि कल्याणे सुखे च' भ्वादिरात्मनेपदी दीप्त्यर्थत्वं पूर्ववत्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(८) रोचते। 'रुच दीप्तौ' चुरादिरात्मनेपदी। कथादिश्च "वि यत् सूर्यो न रोचते बृहद्भाः (ऋ० सं० ५, २, ११, ४)"—इति निगमः॥

(९) द्योतते। 'द्युत दीप्तौ' भ्वादिरात्मनेपदी। "अद्युतत् (ऋ० सं० ४, ५, १३, ४)"—इति निगमः॥

(१०) ज्योतते। 'द्युतज्वल दीप्तौ' भ्वादिरात्मनेपदी। यकारश्छान्दसः। यद्वा, द्युतेर्विगृहीतः। 'द्युतेरिसिन्नादेश्च जः (उ० २, १०३)'—इति इसिनप्रत्यये विहितो जो बाहुलकादत्रापि भवति। निगमोऽन्वेषणीयः॥

केचिदस्य स्थाने "छन्दते"—इति पठन्ति। 'छदि संवरणे' —इति चुरादिः परस्मैपदी, व्यत्ययेनात्मनेपदं णिलोपः, 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—इत्यार्धधातुकत्वाद्वा णिलोपः। निगमदर्शनान्निर्णयः॥

(११) द्युमत्। द्योतते द्युत्, सम्पदादित्वात् (३, ३, ९४ वा०) क्विप्। द्युरस्तीति मतुप्, पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९)

तकारलोपः। यद्वा, 'दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिकान्तिगतिषु (दि० प०)'—इत्यस्मात् दीप्त्यर्थात् दिवे-र्द्योतीति क्विपि प्रत्यये द्योतनं दिव्, ततो मतुपि 'दिव उत् (६, १, १३१)'—इत्युत्वं दीप्तिमदित्यर्थः। समाम्नाये यस्य पदार्थस्य यद् वाचकमाख्यातं नाम च तत्सहैवान्यत्रापि पठ्यते। तथाहि—कान्तिकर्मसु (निघ० २,६) उशिगादि, व्याप्तिकर्मसु (निघ० २, १८) आप्नुवान इत्यादि, महन्नामसु (निघ० ३, ३) पवक्षिथ विवक्षसे, पश्यतिकर्मसु (निघ० ३, ११) चिचर्षणि-रित्यादि, एवमिहापि द्युमदिति नामपदस्य धातुमध्ये पाठः किञ्चित् द्योततेर्विकृतत्वाद्दिवेश्चानेकार्थत्वात् ज्वलनार्थत्वख्यापनार्थम्। "द्युमदमीवचातनं रक्षोहा (ऋ० सं० ५, २, १२, ६)" —इति निगमः॥

इत्येकादश ज्वलतिकर्माणो धातवः॥ १६॥

जमत् (१)। कल्मलीकिनम् (२)। जञ्जणाभवन् (३)। मल्मलाभवन् (४)। अर्चिः (५)। शोचिः (६)। तपः (७)। तेजः (८)। हरः (९)। घृणिः (१०)। शृङ्गाणिः (११)। शृङ्गाणि (१२)। इत्येकादश ज्वलतो नामधेयानि नामधेयानि ॥१७॥

गौर्हेमाऽम्वरं स्वा १ः खेदय आता श्यावी विभावरी वस्तो रद्रिः श्लोकोऽर्णोऽवनयोऽत्यो हरी इन्द्रस्य भ्राजते जमदिति सप्तदश ॥

इति निघण्टौ प्रथमाध्यायः समाप्तः ॥१॥

(१) जमत्। अत्र स्कन्दस्वामी—'तावन्त्येवोत्तराणि जमदित्यादीनि ज्वलतो दीप्तिमतः सत्त्वस्य नामधेयानि'—इति। 'जसु अदने (भू० प०)'। "गृणाना जमदग्निना (३, ४, ११, १८)"—इत्यादिषु जमच्छब्द उदाहरणम् ॥

(२) कल्मलीकिनम्। 'कल्मलीकं भवेत्'—इति माधवः। पृषोदरादिः, उत्तरे च। "नमस्या कल्मलीकिनं नमोभिः (ऋ० सं० २, ७, १७, ३)"—इति निगमः ॥

(३) जञ्जणाभवन्। "अर्चिषा जञ्जणाभवन् (ऋ० सं० २, ३, ३०, ४)"—इति निगमः ॥

(४) मल्मलाभवन्। "मल्मलाभवन्तीत्यासादयामि"—इति निगमः ॥

(५) अर्चिः। 'अर्च पूजायाम् (भू० प०)'। 'अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः (उ० २, १०१)'—इतीसिप्रत्ययः। अर्च्यन्ते देवतायर्चनसाधनत्वाद्वा अर्चिरग्न्यादिज्वालादिः। "अयो दंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानान् (ऋ० सं ८, ४, ५, २)"—इति निगमः ॥

(६) शोचिः। शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः (निघ० २, १६) पूर्वसूत्रेण इसिः (उ० २, १०१)। शोचति शोचिः। "यद्स्य

यातो अनुयाति शोचिः (ऋ० सं० ३, ५, ७, ५)"—इति निगमः ॥

(७) तपः। 'तप सन्तापे (भू० प०)'। 'तप दाहे (भू० प०)' वा। असुन् (उ० ४, १८४)। तपतीति शरीरादि। "परा शृणीहि तपसा यातुधानान् (ऋ० सं० ८, ४, ७, ४)"—"अग्ने यत्ते तपस्तेन तं प्रति तपा (अथ० सं० २, १६, १)"—इति च निगमौ ॥

(८) तेजः। 'तिज निशाने (भू० आ०)'। असुन् (उ० ४, १८४)। निश्यति तनूकरोति तमः पापं वा। यद्वा, 'तेज पालने (भू० प०)'। असुन्। तेजति पालयति प्राणिनां प्रकाशदानेन। "अग्ने यत्ते तेजस्तेन (अथ० सं० २, १६, ५)" —इति निगमः ॥

(९) हरः। 'हृञ् हरणे (भू० उ०)'। असुन्। हरति तमः। "अग्ने यत्ते हरस्तेन (अथ० सं० २, १६, २)"—"रक्षो हरसा शृणीहि (ऋ० सं० ८, ४, ७, ४)"—इति च निगमौ ॥

(१०) घृणिः। 'घृणिपृश्निपार्ष्णिचूर्णिभूर्णि'—इति। 'घृ क्षरणदीप्त्योः (भू० प०)'—इत्यस्मान्निप्रत्यये गुणाभावो निपात्यते। जिघर्त्ति दीप्यते। यद्वा, 'घृणु दीप्तौ (तना० उ०)'। 'इगुपधात् कित् (उ० ४, ११६)'—इति इप्रत्ययः। दीप्यते घृणिः। "उप छायामिव घृणेः (ऋ० सं० ४, ५, २८, ३)"—इति निगमः। "आ घृणे सं सचावहै (ऋ० सं० ४, ८, २१, १)" —इति च ॥

"घृणिः"—इति केषुचित् कोशेषु दृश्यते, तदयुक्तम्, नैगमकाण्डे "आ घृणिः (निरु० ५, ६)"—इत्यत्र, 'ज्वलन्नामसु क्रोधनामसु (निघ० २, १३) च पाठादनेकार्थत्वम्'—इति स्कन्दस्वामिवचनात् ॥

(११) शृङ्गाणि। 'शृगि शब्दे'। अत्र शृङ्गस्थानीयत्वाद् दीप्तय उच्यन्ते। 'श्रिञ् सेवायां (भू० उ०)'—शॄ हिंसायाम् (क्र्या० प०)'। शृणातेर्ह्रस्वश्च (उ० १, १२५), गन् (१२१), कित् (१२२), नुट् (१२४) च इति अधिक्रियते, श्रियतेर्बाहुलकात् सम्प्रसारणादि च भवति। श्रितं हि तदाश्रितं मण्डले हिनस्ति तत् ग्रीष्मेण प्राणिनः। 'शृङ्गं श्रयतेः (निरु० २, ७)'—इत्यत्र 'स्नातेर्वा'—इति निर्वचनस्य पाठः श्रीनिवासीये व्याख्याने दृष्टः। 'शमु हिंसायाम्' क्र्यादिः। अस्मात् गः, अकारस्य ऋकारः। पूर्ववदर्थः। यद्वा, द्विधातुजं, शरणाय हिंसायै गतं मस्तकादेरुद्गतम् ऊर्ध्वगतमित्यर्थः। 'शृणातेर्ह्रस्वश्च (उ० १, १२५)'—इति गन्प्रत्यये नुमि च रूपम्। अथवा शरणं रक्षणं तदर्थमुद्गतं रक्षति तत्, प्राणिनस्तस्य निष्पत्त्यादिना शिरसो निर्गतमिति वा शिरःशब्दान्निर्गमेश्च शृङ्गं, शिरस आदित्यान्निर्गतमित्यर्थः, 'असावादित्यः शिरः प्रजानाम्'—इति श्रवणात् (शत० ब्रा० ७, ४, १, २०) शिर उपपदे गमेर्डे शिरसः शृभावे मकारे चोपजने रूपम्। पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) सर्वत्र रूपसिद्धिः, शृङ्गम्। तेजांसि शृङ्गाणि। "यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः (ऋ० सं० २, २, २४, ६)"—

"वि शृङ्गिणामभिनच्छुष्णमिन्द्रः (ऋ० सं० १, ३, ३, २)"—इति च निगमौ ॥

'अध्यायपरिसमाप्तिसूचनं द्विर्वचनं, श्रुतौ तथा दर्शनात्'—इति अत्र स्कन्दस्वामी। अन्यत्रापि स एव सर्वत्र। यद्वा, द्विरुक्तपदस्य शब्दशास्त्रे 'तस्य परमाम्रेडितम् (८, १, २)'—इति महासञ्ज्ञाकरणस्य प्रयोजनं वर्णितम् 'अन्वर्थसञ्ज्ञानम्, आम्रेड्यते अधिकमुच्यते (८, १, २ भा०)'—इति, तेनैवञ्जातीयकद्विर्वचना जायन्ते इति शब्दविदो विदाञ्चक्रुः। यथा—'आहोदर्शनीयाहोदर्शनीय (महा० भा०)'—इति ॥

इति अत्रिगोत्रस्य देवराजयज्वनः कृते नैघण्टुककाण्डनिर्वचने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।



"कर्मनामान्युत्तराणि (निरु० ३, १)"—इति भाष्ये स्कन्दस्वामी 'उपलक्षणकर्मसम्बन्धादाह कर्मनामान्युत्तराण्येव षड्विंशतिः अपः अप्नः' इत्यादीनि। क्रियते इति कर्म। अनाश्रितविशेषाणां कर्मणां नामधेयानि, सति साधारण्येऽसाधारणानि च निर्णेतव्यानि, वाक्यार्थवशात्"—इति॥

अपः (१)। अप्नः (२)। दंसः (३)। वेपः (४)। वेषः (५)। विष्ट्वी (६)। व्रतम् (७)। कर्वरम् (८)। शक्म (९)। क्रतुः (१०) करुणम् (११)। करणानि (१२)। करांसि (१३)। करन्ती (१४)। करिक्रत् (१५)। चक्रत् (१६)। कर्त्वम् (१७)। कर्त्तोः (१८)। कर्त्तवै (१९)। कृत्वी (२०)। धीः (२१)। शची (२२)। शमी (२३)। शिमी (२४)।

शक्तिः (२५)। शिल्पम्।(२६) इति षड्विंशतिः कर्मनामानि॥१॥

(१) अपः। (२) अप्नः। 'आप्लृ व्याप्तौ (स्वा० प०)'। 'आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा (उ० ४, २०२)'—इत्यसुन्, विकल्पेन नुडागमश्च। आप्नुवन्ति हि तत्कर्त्तारम् आप्नोति वा तान् फलरूपेण। "इन्द्रं सोमैरिरस्त्वपो यो अस्तु (ऋ० सं० २, ६, १४, ५)"—"ते सौभगं वीरवद्गोमदप्नः (ऋ० सं० ७, ८, ११, ३)"—इति च निगमौ॥

(३) दंसः। 'दसि दंसनदर्शनयोः' चुरादिरात्मनेपदी, असुन् (उ० ४, १८४)। दर्शयति हि तत्तत्कारणेन, दृश्यते दृष्टिभिरिति वा। अथवा, 'दसि मोक्षणे' चुरादिः परस्मैपदी, असुन् (उ० ४, १८४)। दंसयति मोक्षयति पाप्मनः पुरुषं संसारादापदो वा। यद्वा, 'दसु उपक्षये दसु च (दि० प०)' अत्रान्तर्णीतण्यर्थः। कर्मण्यसुनि बाहुलकान्नुम्। उपक्षिपयितव्यं हि तदन्तर्नीतण्यमित्यर्थः। "दसस्य चारुतममस्ति दंसः (ऋ० सं० १, ५, २, २)"—इति निगमः॥

(४) वेपः। 'विष्लृ व्याप्तौ (जु० उ०)' पचाद्यच् (३, १, १३४)। वेवेष्टि व्याप्नोति कर्त्तारं, व्याप्तं विस्तृतं वा। यद्वा, 'वेवेष्टि'—इत्यत्तिकर्मसु (निघ० २, ८,) पठ्यते। परिवेवेष्टि भोजयति सफलं कर्त्तारं। "कर्मणे वां वेपाय (य० वा० सं० १, ६)"—इति निगमः॥

(५) वेपः। 'विपि प्रेरणार्थः'—इति माधवः। असुन् (उ० ४, १८४)। प्रेर्य्यन्तेऽस्मिन् कर्मकराः। यद्वा, 'वेपृ कम्पने (भू० आ०)' असुन् (उ० ४, १८४), वेपः। "त्वं वेपसा तुविजात स्तवानः (ऋ० सं० ३, ५, ११, २)"—इति निगमः॥

(६) विप्रृची। 'विप्लृ व्याप्तौ (जु० उ०)'। 'जुगुस्तृजागृभ्यः क्विन् (उ० ४, ५४)'—इति बाहुलकात् क्विन् तुडागमश्च। वेप-समानार्थम्। यथादृष्टं पाठः। "विप्रृची शमीभिः सुकृतः सुकृत्यया (ऋ० सं० ३, ४, ७, ३)"—"विप्रृची शमी तरणित्वेन वाघतः (ऋ० सं० १, ७, २०, ४)"—इति च निगमौ। उभयत्रापि शमीति विशेषणम्॥

(७) व्रतम्। अत्र भाष्यम् (निरु० २, १३)—'व्रतमिति कर्मनाम—वृणोतीति सतः'—इत्यादि। अत्र स्कन्दस्वामी—'व्रतमिति' कर्मनामेति। कर्त्तरि सत इति कृतव्याख्यानम्। तद् द्विविधम्। शुभमशुभं च। वृणोति निबध्नाति कर्त्तारम्। तथा च श्रुतिः—'तं विद्याकर्मणी सम न्वारभते पूर्वप्रज्ञा च'—इति। 'इदमपीतरद् व्रतम्' गुड़लवणस्त्र्यादिविषयनिवृत्तरूपं कर्म। 'एतस्मादेव' रूपसामान्यात् प्रसक्तं व्रतं निरुच्यते 'वारयतीति सतः'। 'निवृत्तिरूपो हि सङ्कल्पः, तदतिक्रम्य प्रमादात् प्रवर्त्तमानं पुरुषं वारयति'—इति। पाठोऽर्थश्च—'व्रतमिति कर्मनाम निवृत्तिकर्म वारयतीति सतः (निरु० २, १३)'—इति। वृतं कर्मोच्यते। कस्मात्? वारयते तद्धि सङ्कल्पपूर्वकं प्रवृत्तिरूप-मग्निहोत्रादिकर्मप्रत्यवायं वारयतीति पुरुषः प्रवर्त्तमानो निवर्त्तमा-

नश्च व्रतेनाभिसम्बन्धस्तेनाव्रतेन निवार्य्यत इति व्रतस्यैव प्राधान्यात् हेतुकर्तृत्वेन विवक्ष्यते। भोजनमपि व्रतं क्षुधादि-निवारणात्। वृणोतेर्धातोः (स्वा० उ०) 'पृषिरञ्जिभ्यां कित् (उ० ३, १०८)'—इति विधीयमानोऽतच्प्रत्ययो बाहुलकाद् भवति कित्त्वाद् गुणाभावः, यणादेशः। 'वारयतेर्वा तत्'—इत्यत्र लुगिति लुगपि बाहुलकात्। 'व्रते'—इति श्रीभोजदेवः—इति क्षीरस्वामी। व्रत्यते वर्ज्यते सर्वभोगोऽत्रेति सुबोधिनीकारः। व्रतेर्धातोः 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण (३, ३, ११८)'—इति घप्रत्ययः। व्रतिश्च वर्जनार्थः। "अथा वयमादित्यव्रते तव (ऋ० सं० १, २, १५, ५)"—"ब्राह्मणा व्रतचारिणः (ऋ० सं० ५, ७, ३, १)"—इति च निगमौ। "अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि (य० वा० सं० १, ५)"—इत्यादौ व्रतशब्दे निवृत्तिकर्मता॥

(८) कर्वरम्। कर्वतेर्धातोः (भ्वा० प०) 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण (३, ३, ११८)'—इति घप्रत्ययः, कर्वरम्। 'कॄ विक्षेपे (तुदा० प०)' 'कॄञ् हिंसायाम् (स्वा० उ०)'। 'कॄगॄशॄ-वृञ्चतिभ्यः ष्वरच् (उ० २, ११४)'। किरति फलं, कीर्य्यतेऽस्मिन् पात्रादीति वा, हिनस्ति तत् शुभं पुरुषभावमशुभं पुण्यम्। "अत इनोषि कर्वरा पुरूणि (ऋ० सं० ८, ७, २, २)"—इति निगमः॥

(९) शचम। 'शक्लृ शक्तौ (दि० उ०)'। 'अशिशकिभ्यां छन्दसि (उ० ४, १४२)'—इति मनिन्प्रत्ययः। शक्यते अनेना-भिमतं प्राप्तुं, शक्नोतीष्टं साधयितुं वा, शक्यते कर्तुमिति वा।

"मध्याकर्त्तोर्न्यधाज्जभ धीरः (ऋ० सं० २, ८, २, ४)"—इति निगमः ॥

(१०) क्रतुः। करोतेः (भू० उ०) 'कृञः कतुः (उ० १, ७४)—इति कतुप्रत्ययः। क्रियते द्विजातिभिः। "क्रतुं दधिक्रा अनु सन्तवीत्वत् (ऋ० सं० ३, ७, १४, ४)"—"शतक्रतो मादयस्वा सुतेषु (ऋ० सं० ४, ७, १३, ५)"—इति च निगमौ ॥

(११) करुणम्। 'कृ विक्षेपे (तुदा० प०)' 'कृञ् हिंसायाम् (स्वा० उ०)'। 'कृवृदारिभ्य उनन् (उ० ३, ५०)'। कवरेण समानार्थम्। "स विश्वस्य करुणस्येश एकः (ऋ० सं० १, ७, ६, २)"—इति निगमः ॥

(१२) करणानि। करोतेः 'युच् बहुलम् (उ० २, ७४)'—इति युच् क्रियते ल्युट् वा। करणं साधनमिति प्राप्ते जसि पाठो यथादृष्टम्। 'कर्मवाचि करणमाद्युदात्तम्'—इति माधवः। "प्र ते पूर्वाणि करणानि वोचम् (ऋ० सं० ४, १, ३०, १)"—"प्र ते पूर्वाणि करणानि विप्र (ऋ० सं० ३, ६, २, ५)"—इति च निगमौ ॥

(१३) करांसि। करोतेरसुन् (उ० ४, १८४)। 'भूतेऽपि दृश्यन्ते (३, ३, २)'—इति भूते वा भविष्यति वा। अर्थः पूर्ववत्। 'करांसीति कृतानि स्युः क्रियमाणानि केचन'—इति माधवः। "आविद्वाँ आह विदुषे करांसि (ऋ० सं० ३, ६, २, ५)"—इति निगमः ॥

(१४) करन्ती। 'कृञ् करणे' भ्वादिः (उ०)। शतरि ङीप्। करणमभिमतं कर्त्तुः। यथादृष्टं पाठः। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१५) करिक्रत् । 'दाधर्त्ति दर्धर्त्ति दर्धर्षि (७, ४, ६५)'—इत्यादि सूत्रेण छन्दोविषयेण करोतेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि नुमृत्वाभावोऽस्याभ्यासस्य रिगागमोऽपि निपात्यते । अत्र न्यासः—'यणादेशे कृते अनृकारान्तत्वादङ्गस्याभ्यासस्य रिगागमो न प्राप्नोतीति सोऽपि निपात्यत इति । पुनः पुनः करोतीष्प्राप्तिमतिवाच्य । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१६) चक्रत् । 'डुकृञ् करणे' भूवादिः (उ०) । शतृ । 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२, ४,७५)'—वहुलञ्छन्दसि (२, ४, ७६)'—इति शपः श्लुर्द्विर्वचनादिः यणादेशः । करोत्यभीष्टम् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥ केषुचित् कोशेषु चक्रतुरिति दृष्टम्, निगमदर्शनान्निर्णयः । अस्य स्थाने चर्कृत्यमिति माधवीये दृष्टम् । "चर्कृत्यानि कृण्वतः (ऋ० सं० ३, ६, ७, १३)"—इत्यत्र 'कर्माणि चर्कृत्यानि'—इति भाष्यञ्च ॥

(१७) कर्त्वम् । करोतेः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३,२, ७५)'—इति वन्प्रत्ययः क्रियते । यद्वा, 'कृत्यार्थे तवैकेकेन्यत्वनः (३, ४, १४)'—इति त्वन्प्रत्ययः, कृत्यार्थत्वं भावकर्म । "तद्देवानां देवतमाय कर्त्वम् (ऋ० सं० २, ७, १, ३)"—इति निगमः । अत्र स्कन्दस्वामिभाष्यम्—'कर्त्वमिति कर्मनाम' —इति ॥

(१८) कर्त्तोः । करोतेः 'सितनिगमिमसिसच्यविधाञ्क्रुशिभ्यस्तुन् (उ० १, ६७)'—इति वाहुलकात् तुन्प्रत्ययः । अर्थः पूर्ववत् । षष्ठ्येकवचनस्य पाठो यथादृष्टम् । "मध्याकर्त्तोर्विततं

सञ्जभार (ऋ० सं० १, ८, ७, ४)"—"मध्याकर्त्तोर्न्यधाच्छ्क्म धीरः (ऋ० सं० २, ८, २, ४)"—इति च निगमौ ॥

(१६) कर्त्तवे। करोतेः 'कृत्यार्थे तवैकेकेन्यत्वनः (३, ४, १४)'—इति तवैप्रत्ययः। 'कृन्मेजन्तः (१, १, ३९)'—इत्यव्ययत्वम्। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२०) कृत्वी। करोतेः 'पः किच (उ० १, ६८)'—इति विधीयमानक्तुप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति। क्रियते क्तु। 'शिल्पापत्ये क्तुर्यकम्'—इत्यत्र माधवेनापि कर्मनामसु पठितः। 'सुपां सुलुक् (७, १, ३९)'—इत्यत्र 'इयाडियाजीकाराणामुपसङ्ख्यानम् (७, १, ३९ वा०)'—इति विभक्तेरीकारादेशः। "त्वं रथ मेतशं कृत्व्ये धने (ऋ० सं० १, ४, १८, १)"—इति निगमः। अत्र स्कन्दस्वामिभाष्यम्—'कृत्वीति कर्मनाम, कर्मणि धने निमित्ते धनार्थं यत् कर्मेत्यर्थः। कर्मात्र संग्रामः संग्रामार्थमाजिः स्यात्'—इति। "कृत्वी क्षवर्णामदद्विवस्वते (ऋ० सं० ७, ६, २३, २)"—इत्यत्र तु त्वान्तं तथा स्कन्दस्वामिना व्याख्यातत्वात् ॥

(२१) धीः। 'धृञ् आधारे' दिवादिः (उ०)। धारयति कर्त्तारं फलप्रदानेन। यद्वा, दधातेः क्विपि 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि (६, ४, ६६)'—इतीत्वे रूपम्। ईत्वञ्च क्विब्लोपेऽपि। धारयति कर्त्तारमिति पूर्ववद् ददाति वा फलं धीः कर्म। 'दधातेर्निहितं द्रव्येषु तत्'—इति माधवः। यद्वा, ध्यायतेः सम्प्रसारणत्वे क्विपि रूपम्। ध्यायते चिन्त्यते

कर्तृभिरेवं कर्त्तव्यमिति। "धियं धियं सीषधाति प्र पूषा (ऋ० सं० ४, ८, ६, ३)"—इति निगमः॥

(२२) शाची। 'शच व्यक्तायां वाचि' भ्वादिरात्मनेपदी। 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'। 'कृदिकारात् (४, १, ४ वा०)'—इति ङीष्। शचन्ते व्यक्ता वाचः कुर्वन्त्यस्यामिति शची। क्षीरस्वामी तु 'शचति शची, शच श्वच गतौ'—इति व्याख्यत्। गत्यर्थः शचिर्धातुपाठे न दृष्टः। "यद्व देवयन्त मवथः शचीभिः (ऋ० सं० ५, ५, १६, ४)"—इति निगमः॥

(२३) शमी। 'शम उपशमे (दि० प०)' अस्मात् इन्, ङीष् च पूर्ववत्। शम्यत्यनयाऽनिष्टानि। णिजन्ताद्वा पूर्ववत् इन्-ङीषौ। शमयत्यनिष्टव्याध्यादीनि। "शमीमदुर्मखस्य वा (ऋ० सं० ६, ५, २६, ४)"—इति निगमः॥

(२४) शिमी। शमतेः पूर्ववन्निर्वाहोऽर्थश्च। बाहुलकाद्-कारस्येकारः। शक्नोतेर्वा ककारस्य मकारः, अकारस्येकारश्च शकमेत्यनेन समानार्थः। "धुनिः शमीवाञ्छरुमाँ ऋजीषी (ऋ० सं० ८, ४, १४, ५)"—इति निगमः॥

(२५) शक्तिः। शक्नोतेः 'स्त्रियां क्तिन् (३, ३, ९४)'। शक्यते कर्तुं शक्यते वानया परलोकं जेतुम्। "अजीजनच्छक्तिभीरो-दसिप्राम् (ऋ० सं० ८, ४, ११, ५)"—इति निगमः॥

(२६) शिल्पम्। 'शील उपधारणे' चुरादिः (प०), 'शील समाधौ' भ्वादिः (प०)। अनयोः 'खष्पशिल्पशष्पवाष्परूप-सर्पतल्पाः (उ० ३, २६)'—इति पप्रत्यये णिलोपे (६, ४, ५१) च

उपधाया ह्रस्वत्वं निपात्यते। शीलयति शीलतीति वा शिल्पम्। 'यत् कुम्भकारादि कर्म'—इत्युणादिवृत्तिः। शीलयन्ति पुनः पुनरभ्यस्यन्ति तदिति शिल्पम्। यद्वा, शिनोति कर्त्तारं तनूकरोति दुष्करत्वेनातिक्लेशकरत्वादिति निपातनाद्रूपसिद्धिः। 'शिञ् निशाने (स्वा० उ०)' 'निशानं तनूकरणम्'—इति सुबोधिनीकारः। "यत्ते शिल्पं कश्यप रोचनावत् (अथ० सं० १३, ३, १०)"— "दिवः शिल्पमवन्तम्"—इति च निगमौ॥

इति षड्विंशतिः कर्मनामानि॥ १॥

तुक् (१)। तोकम् (२)। तनयः (३)। तोक्म (४)। तक्म (५)। शेपः (६)। अप्नः (७)। गयः (८)। जाः (९)। अपत्यम् (१०)। यहुः (११)। सूनुः (१२)। नपात् (१३)। प्रजा (१४)। बीजम् (१५)। इति पञ्चदशापत्यनामानि ॥२॥

(१) तुक्। 'तुज हिंसायाम् (भ्वा० प०)'—क्विप् तोजति हिनस्ति मातापितरौ गर्भवासादिना। तथाच मन्त्रः—'यदा पिपेष मातरं पितरं पुत्रः'—इत्यादिः। 'तुजिर्गत्यर्थः प्रेरणार्थश्च'—इति माधवः। क्विप्। गच्छत्यनेन पितृलोकं पिता, गच्छत्यनेनानृण्यं पितृभ्य इति वा, प्रेर्यते प्रसवकाले वायुनापि

वा। यद्वा, 'ष्टुच प्रसादे (भ्रू० आ०)' क्विप्, पृषोदरादित्वात् सकारलोपः। प्रसाद्यन्तेऽनेन पिता वा। "तुचे तु नो भवन्तु वरिवोविदः (ऋ० सं० ६, २, ३३, ४)"—"तुचे तनाय तत्सु नो (ऋ० सं० ६, १, २८, ३)"—इति च निगमौ। उभयत्र चतुर्थी।

(२) तोकम्। 'तुद व्यथने (तुदा० प०)' पुंसि सञ्ज्ञायां घः (३, ३, ११८)' 'पृषोदरादित्वात्' दकारस्य ककारः। तुद्यतेऽनेन माता गर्भवासकाले, तुद्यते व्याध्यादिभिरिति वा। यद्वा, 'ष्टुच स्तुतौ (भ्रू० आ०)' 'इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन् (उ० ३, ४३)' —इति बाहुलकात् कप्रत्ययः, सलोपश्च स्तूयते तोकम्। तथाच हरिश्चन्द्रोपाख्याने "ऋणमस्मिन्त्संनयत्यमृतत्वं च गच्छति (ऐ० ब्रा० ७, ३, १)"—इत्यादिभिर्गाथाभिः प्रशस्यते पुत्रः। यद्वा, 'तु'—इति सौत्रो धातुर्वृद्ध्यर्थः, कप्रत्ययः पूर्ववत्। वर्द्धते हि तत्, वर्द्ध्यते वा मातापितृभ्याम्। यद्वा, सर्वेभ्य एव धातुभ्यो घञि रूपम्, अर्थश्च स एव। तुदेस्तु ककारो बाहुलकात् ष्टुचेः सकारलोपश्च। "मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिषः (ऋ० सं० ५, ४, १३, ३)"—इति निगमः॥

(३) तनयः। 'तनु विस्तारे (तना० प०)' 'वलिमलितनिभ्यः कयन् (उ० ४, ९७),—इति कयन्प्रत्ययः। कुलं तनोति विस्तारयति। "मा नस्तोके तनये मा न आयौ (ऋ० सं० १, ८, ६, ३)" —इति निगमः॥

(४) तोक्म । तुजेः, स्तुचेः, तनतेः, तुचतेर्वा मनिनि (उ० ४, १४०) ककारोऽन्तादेशः, तवतेः कुगागमः पृषोदरादित्वात् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(५) तक्म । तकतेर्गतिकर्मणः (निघ० २, १४) मनिन् (उ० ४, १४०), तुचेर्गत्यर्थाद्वा मनिन् (उ० ४, १४०), अस्य-मुकारस्य (६, ३, १०६)। पूर्वेण तुचा समानार्थः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(६) शेपः । 'शिष सर्वोपयोगे' चुरादिर्भ्वादिश्च (धा०), असुन् (उ० ४, १८४)। म्रियमाणे पितरि कुलसन्तानार्थं परिशेषयति, परिशिष्यते वा पित्रादिभिः सह न म्रियते स्वयमवतिष्ठते, इत्यर्थः । यद्वा, 'शिष्लृ विशेषणे' रुधादिः परस्मैपदी, असुन् (उ० ४, १८४)। विशिष्यते पित्रायात्मनोऽतिशयितं करोति हि पित्रादिभिः । 'पुनातु पित्रा प्रजा मे यतच्छेयसीमात्मनः कुरुते'—इति ब्राह्मणम् । तथा 'पुत्रमेवैकमिच्छन्त्यात्मनो गुणवत्तरम्'—इति महाभारतम् । यद्वा, 'शिष हिंसार्थः' भ्वादिः परस्मैपदी, शेषति हिनस्ति मातापितरौ । 'यदा पिपेष'—इति मन्त्रः पूर्वमेव दर्शितः । "न शेषो अग्ने अन्यजातमस्ति (ऋ० सं० ५, २, ६, २)'—२)"—"मा शेपसा मा तनसा (ऋ० सं० ४, ४, ८, ४)"—इति च निगमौ ॥

(७) अप्नः । कर्मनामसु व्याख्यातम् (२, १) बाहुलकादपत्येऽपि भवति । 'आप्नोतेर्ह्रस्वश्च नुट् वा'—इति भोजराजेन

कर्माख्याग्रहणं न कृतम्। आप्नोत्यनेन सर्वान्, कामान् पिता, आप्यते वा महता पुण्येन "यच्चित्रमप्न उषसो वहन्ति (ऋ० सं० १, ८, ४, ५)"। 'आप्यम् धनम्'—इति माधवः, अपत्यं भवितुमर्हति॥

(८) गयः। गमेः अघ्न्यादयश्च (उ० ४, १०८)'—इति यक्प्रत्ययान्तो निपात्यते, निपातनान्मकारलोपः। 'गाङ् गतौ (भ्वा० आ०)' अस्माद्वा यक्प्रत्यये हस्वत्वम्। गतावर्थः पूर्वमुक्तः। गीयते स्तूयते देवभट्टारकेत्येवमादिभिः। "इन्द्रो वसुभिः परि पातु नो गयम् (ऋ० सं० ८, २, १२, ३)"—इति निगमः॥ "गयस्फानः प्रतरणासु वीरः (ऋ० सं० १, ६, २२, ४)"—इति च। 'गृहापत्ययोर्नाम'—इति हरदत्तः, 'गृहम्'—इति तु माधवः॥

(९) जाः। 'जनी प्रादुर्भावे (दि० आ०)' 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इत्यत्र अपिशब्दस्य सर्वोपाधिव्यभिचारार्थत्वात् केवलाज्जनेर्डः, टाप्, जस्। जायते मातापितृभ्यां सकाशात्। "सोमः परि क्रतुना पश्यते जाः (ऋ० सं० ७, २, २६, ४)"—"अनमीवो रुद्र जासु नो भव (ऋ० सं० ५, ४, १३, २)"—इति च निगमौ॥

(१०) अपत्यम्। अपपूर्वात् तनोतेः नञ्पूर्वात् पतेर्वा 'अघ्न्यादयश्च (उ०४, १०८)'—इति यक्प्रत्ययान्तो निपात्यते, तनोतेष्टिलोपः। "कवेरपत्यमा दुहे (ऋ० सं० ६, ७, ३५, ३)" —इति निगमः॥

(११) यहुः। यातेर्ह्वयतेश्चौणादिके मृगय्वादित्वात् (उ० १, ३६) कुप्रत्यये निपातनाद्रूपसिद्धिः। यातः प्रातः पुण्यवशेन स्वनाम्ना हूयते च। 'यहुर्यातश्चाहूतश्च'—इति माधवः। "ईशानः सहसो यहो (ऋ० सं० १, ५, २७, ४)"—इति निगमः।

(१२) सूनुः। 'षूञ् प्राणिप्रसवे (अदा० आ०)'—सुवः कित् (उ० ३, ३४)'—इति नुप्रत्ययः। सूयते मात्रा। "अग्निं सूनुं सनश्रुतं सहसो जातवेदसम् (ऋ० सं० ३, १, ६, ४)"—इति निगमः॥

(१३) नपात्। नङ्पूर्वात् पतेर्ण्यन्तात् 'बहुलमन्यत्रापि सम्ज्ञाच्छन्दसोः (६, ४, ५१ वा०)'—इति णिलोपः। 'न भ्राण्नपात् (६, ३, ७५)'—इत्यादि सूत्रेण नञः प्रकृतिभावः। न पातयति न तेन पततीत्युक्तम्। "एहि वां विमुचो नपात् (ऋ० सं० ४, ८, २१, १)"—इति निगमः॥

(१४) प्रजा। प्रपूर्वाज्जनेः 'उपसर्गे च सम्ज्ञायाम् (३, २, ९९)'—इति डः, टाप्। "प्रजां देवि दिदिड्ढि नः (ऋ० सं० २, ७, १५, ६ ; ८, १०, २)"—इति निगमः॥

(१५) बीजम्। 'बीज प्रजननकान्त्यसनखादनेषु' इत्यस्माद- च्प्रत्ययः (३, १, १३४)। तथाच भोजराजीये 'वियो जक्'—इति व्युत्पादितम्। बवयोरभेदः। वेति प्रजायते गच्छत्यनेना- नृण्यं पितेति वा। अत्र क्षीरस्वामी—'वीज्यते वेति वा बीजं वाजिलौकिकः'—इति। 'वीजिः स्यात् प्रेरणक्रिया'—इति माधवः। प्रेर्य्यते हि कार्य्यकारणाय वा बीजम्। यथा

धान्यादिबीजमुत्तरोत्तरं स्वाभिवृद्धये भवति एवमपत्यमपि पितॄणामभिवृद्धिहेतुरिति बीजमित्युच्यते। "यस्यां बीजं मनुष्या ३ वपन्ति (ऋ० सं० ८, ३, २१, २)"—इति। बीजमपत्यार्थमिति द्रष्टम्॥

इति पञ्चदशापत्यनामानि॥ २॥

मनुष्याः (१)। नरः (२)। धवाः (३)। जन्तवः (४)। विशः (५)। क्षितयः (६)। कृष्टयः (७)। चर्षणयः (८)। नहुषः (९)। हरयः (१०)। मर्याः (११)। मर्त्याः (१२)। मर्ताः (१३)। व्राताः (१४)। तुर्वशाः (१५)। द्रुह्यवः (१६)। आयवः (१७)। यदवः (१८)। अनवः (१९)। पूरवः (२०)। जगतः (२१)। तस्थुषः (२२)। पञ्चजनाः (२३)। विवस्वन्तः (२४)। पृतनाः (२५)। इति पञ्चविंशतिर्मनुष्यनामानि ॥३॥

(१) मनुष्याः। 'मत्त्वा कर्माणि सीव्यन्ति (निरु० ३, ७)'—इति भाष्यस्य स्कन्दस्वामी—'मत्वेत्यादिना मनेः सीवेश्च द्विधातुजत्वं प्रदर्शयति—ज्ञात्वाऽनेनेदमिति साध्यसाधनभावं

कर्माणि सीव्यन्ति सन्तन्वन्ति, यथा पश्वादयः मनस्यमानेन प्रजापतिना सृष्टाः। मनस्यतिः कस्मिन्नर्थे? इत्याह—प्रशस्ती-भावे, प्रशंसायां मत्वर्थीयः, प्रशस्तं मनः प्रसन्नं सत्वप्राधान्यात् अतः प्रसन्नमनस्केन सृष्टा इत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—'स पितॄन् सृष्ट्वा मनस्यदनु मनुष्यानसृजत'—इति। नित्यपक्षेऽप्यसति स्रष्टरि कार्ये सौमनस्यं दृष्ट्वा सृष्टिकारणानुविधायित्वात् कार्यस्य वा। 'मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च (४, १, १६१)'—इति वैयाकरणाः। जातिश्च प्रत्ययान्तोपाधिः। मनोरपत्यं जातिश्चेत्येतौ। अपत्यमात्रविवक्षायामन्तरेण च जातिं भवति मानव इति। मनुषी वा अकारान्तमेकं प्रातिपदिकमस्ति, अतस्तदन्तात् व्युत्पादयति, अञ्यत्प्रत्ययसन्नियोगेन षुगिति स्मरणान्तरं विनापि प्रत्ययेन षकारान्तप्रयोगदर्शनात्—'समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे (ऋ० सं० ८, ६, ८, १)'—इति पृषोदरादित्वात् सर्वं सिद्धम्। अत्र श्रीनिवासः—'मनेर्मनुः मनेरुसि मनुर्षीति। यत्। सा चास्या मनुष्यगीः'—इति। "स्पार्हा वसु मनुष्या ददीमहि (ऋ० सं० २, ६, ३०, ४)"—"दैव्याः शमितार आरभध्वमुत मनुष्याः (ऐ० ब्रा० २, १, ६)"—इति च निगमौ॥

(२) नरः। 'णीञ् प्रापणे (भ्वा० उ०)' 'नयतेर्डिच्च (उ० २, ६३)'—इति ऋन्प्रत्ययः, जस्। नयन्ति संसारचक्रम्, पदार्थत्वात् देशान्तरं नीयन्ते वा स्थानोत्तरकालेन। यद्वा 'नृती गात्रविक्षेपे (दि० प०)' बाहुलकादृन् डिच्च। नृत्यन्ति गात्र-

विक्षेपं कुर्वते हि नियमेन गात्राणि विक्षिप्यन्ति कर्मसु तानि कुर्वन्तः। "तं त्वा नरः प्रथमं देवयन्तः (ऋ० सं० ४, ४, २५, २)"—"त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरः (ऋ० सं० ४, ७, २७, १)"—इति च निगमौ ॥

(३) धवाः। 'धूञ् कम्पने (स्वा० उ०)' 'धुञ्' वा (क्र्या० उ०)। पचाद्यच्। धूनयति। धुनोति स्वावयवान् धवः, जस् धवाः। यद्वा, मनुष्या मृत्युतो वेपन्ते। यद्वा, 'धावु गतिशुद्ध्योः (भू० उ०)' अस्मात् पचाद्यचि (३, १, १३४) पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) ह्रस्वः। इतश्चेतः शरणार्थिनो धवन्ति धवाः। "को वां शयुत्रा विधवेव देवरम् (ऋ० सं० ७, ८, १८, २)"—इति निगमः ॥

(४) जन्तवः। 'जनी प्रादुर्भावे (दि० आ०)'—'कमिमनिजनिगाभायाहिभ्यश्च (उ० १, ७०)'—इति तुप्रत्ययः। जायन्ते जन्तवः। "इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिः (ऋ० सं० ८, ७, २८, ४)"—इति निगमः ॥

(५) विशः। 'विश प्रवेशने (तु० प०)' क्विप्। विशन्ति अनु प्रविशन्ति सर्वकर्मस्वधिकारित्वेन। यद्वा, अनुप्रविष्टाः आत्मीयभूराद्रेः श्रिता इत्यर्थः। "विशो राजानमुपतस्थुर्ऋग्मियम् (ऋ० सं० ४, ५, १०, ४)"—इति निगमः ॥

(६) क्षितयः। 'क्षि निवासगत्योः (तु० प०)' 'क्तिच्क्तौ च सञ्ज्ञायाम् (३, ३, १७४)'—इति क्तिच्। क्षियन्ति निवसन्ति भूमौ गच्छन्ति वा तस्याम्। "अनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु (ऋ० सं० ३, ७, ११, ५)"—इति निगमः ॥

(७) कृष्टयः। 'कृष विलेखने (भू० प०)' भावे क्तः। कर्षणं कृष्टम्। कर्षण कर्मविशेषेण चात्र सामान्यतः कर्ममात्रं लक्ष्यते, कृष्टं कर्म, तदस्यास्तीति 'लुगकारेकाररेफाश्च वक्तव्याः (४, ४, १२८ वा०)'—इति इकारप्रत्ययः। तथाच भाष्यकारः—'कृष्टय इति मनुष्यनाम कर्मवन्तो भवन्ति (ऋ० सं० सा० भा० ३, ४, ५, १)—इति। तथाच श्रीमगवद्गीतायाम्—'नैव कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् (म० भा० भी० प० २६ अ० ५ श्लो०)'—इति। यद्वा, धातुः पि कृषिर्विपूर्वस्यार्थे वर्त्तते। कर्मणि क्तः। विविधं कृष्टी विक्षितपरिकण्डूयनादमिलषित-क्रियानुष्ठानसमर्थः कः? इत्यपेक्षायां विकृष्टदेहत्वं कृष्टसामर्थ्याद्देहम्, स एषामस्तीति पूर्ववन्मत्वर्थीयः तथाच भाष्यम्—'विकृष्टदेहा वा (ऋ० सं० सा० भा० ३, ४, ५, १)'—इति। 'कृषन्ति प्रान्तं पदाभ्याम्'—इति माधवः। 'कर्षन्ति वशीकुर्वन्ति'—इति भट्टभास्करमिश्रः। "मित्रः कृष्टीरनिमिषाभिचष्टे (ऋ० सं० ३, ४, ५, १)"—सत्रश्रियः शवसा पञ्च कृष्टीः (ऋ० सं० ८, ८, ३६, ३)"—इति च निगमौ॥

(८) चर्षणयः। चरतेर्धातोः (भू० प०) 'अर्त्तिसृधृधम्यश्य-वितृभ्योऽनिः (उ० २, १०५)'—इति बहुलवचनादनिप्रत्यये षुगागमश्च चरणवन्तः चरणशीलाः। यद्वा, 'कृषेरादेश्च चः (उ० २, १०७)'—इति अनिप्रत्यये कृषेरेतद्रूपम्। 'आकर्षन्ति वशीकुर्वन्ति इत्यर्थः'—इति भट्टभास्करमिश्रः। यद्वा, चर्षणयः चायितारो द्रष्टारः सर्वेषां पदार्थानाम्। यद्यपि पश्यतिकर्मसु

(निघ० २,२)। विचर्षणिरिति पठितम्, तथापि 'पिता कुटस्य चर्षणिः (ऋ० सं० १, ३, ३३, ४)'—इत्यत्र 'चाययिता द्रष्टा' —इति स्कन्दस्वामिना व्याख्यातम्। "प्र चर्षणिभ्यः पृतनाहवेषु (ऋ० सं० १, ७, २६, १)"—"महा॑ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्राः (ऋ० सं० ४, ६, ७, १)"—इति च निगमौ ॥

(९) नहुषः। 'णह बन्धने (दि० उ०)'। 'जनेरुसिः (उ० २, १०८)'—इति बाहुलकात् उसप्रत्यय, जस्, नहुषः। नह्यन्ते कर्मभिः पूर्वकृतैः संसारे नह्यन्ति वा नहनीयम्। "सचा सनेम नहुषः सुवीराः (ऋ० सं० २, १, २, ३)"—"आ यातं नहुषस्परि (ऋ० सं० ५, ८, २१, ३)"—इत्यादयो निगमाः ॥

अकारान्तमिदं नाम केषुचित् कोशेषु दृश्यते। तदा 'अन-हिभ्यामुषन्' —इति उषन्प्रत्यः। पूर्ववदर्थः। "प्रसस्राणस्य नहुषस्य शोषः (ऋ० सं० ४, १, ४, ६)"—इति निगमः।

(१०) हरयः। 'हृञ् हरणे' भ्वादिः' 'हृ प्रसह्यकरणे जुहोत्यादिः। 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११८)'—इतीनप्रत्ययः। हरन्ति पदार्थान्, प्रसह्यह्रियन्ते वा मृत्युनेति वा। तथाच मृत्युवाक्यम्—'अहं प्रमाथाथ्मुर्ताहरामि'—इति निगमो-ऽन्वेषणीयः ॥

(११) मर्याः, (१२) मर्त्याः। 'मृङ् प्राणत्यागे (तु० आ०), अघ्न्यादयश्च (उ० ४, १०८)'—इति यत्प्रत्ययान्तं निपात्यते, तुडागमस्तु विकल्पेन, गुणः। म्रियन्ते मर्याः। 'छन्दसि

निष्टर्क्यदेवहूयप्रणीयोन्नीयोच्छिष्यमर्य (३, १, १२३)'—इत्यादिना यत्प्रत्ययान्तं निपातितम्। "को नु मर्या अमिमितः (ऋ० सं० ६, ३, ४८, ३७)"—"मर्य्येव कन्या शश्वचै त (ऋ० सं० ३, २, १३, ५)"—"मर्यन्न योषा कृणुते सधस्थ आ (ऋ० सं० ७, ८, १८, २)"—इति निगमाः। यद्वा, 'मृङ् प्राणत्यागे (तु० आ०)' 'हसिमृग्रिण्वामिदमिलूपूधुर्विभ्यस्तन् (उ० ३, ८३)' —इति तन्प्रत्ययः। अर्थः पूर्ववत्। मर्त्तशब्दात् 'घस्मर्त्त यविष्ठेभ्यश्छन्दसि'—इति स्वार्थिकस्तद्धितो यत्। "यो मर्त्येष्वमृतो ऋतावा (ऋ० सं० ३, ४, १६, १)"—इति निगमः॥

(१३) मर्त्ताः। व्याख्याताः। "मा नो मर्त्ता अभिद्रुहन् (ऋ० सं० १, १, १०, ५)" "तं मर्त्ता अमर्त्यम् (ऋ० सं० ८, ६, २५, १)"—इति च निगमौ॥

(१४) व्राताः। 'वृञ् वरणे (स्वा० उ०)' 'तातव्रातत्लात सुपित्त'—इत्यादि सूत्रेण भोजराजेन कृतप्रत्यये आड़ागमो निपात्यते। वृण्वन्ति स्वमभिमतं देवताभ्यः तपसाराधितेभ्यः व्रियन्ते वा यज्ञादौ। यद्वा, व्रातो धान्यादिसञ्चयः। तद्वन्तो व्राताः। मत्वर्थीयोऽकारः। यद्वा, व्रतमिति कर्मनाम (निघ० २, १) अन्नं वा। अयमपि व्रतायैतस्मादेवेत्युक्तेः तदीयाः तस्येदम् (४, ३, १२०)'—इत्यण्। 'कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रमुच्यते'—इत्युक्तेः कर्मणामधिकारित्वाच्च मनुष्याणां कर्मसम्बन्धित्वम्। 'अथो अन्नाद् भूतानि जायन्ते जातान्य-

न्नेन वर्द्धन्ते (तै० उ० १, २)'—इति, 'अन्नात् रेतो रेतसः पुरुषः (तै० उ० १, १)'—इति च श्रुतेः मनुष्याणामन्नसम्बन्धित्वम्। "पञ्च व्राता अपस्यवः (ऋ० सं० ६, ८, ३, २)"—इति निगमः॥

(१५) तुर्वशाः। 'तुर्वी हिंसायाम् (भ्वा० प०)'। 'कलेरशच्'—इति बाहुलकात् अशच्प्रत्ययः। भोजराजीयमिदं सूत्रम्, हिंसन्ति प्राणिनः, हिंस्यन्ते व्याध्यादिभिर्वा। यद्वा, 'तूर त्वरणहिंसनयोः (दि० आ०)' अस्मात् क्विपि तूर, अश्नोतेः पचाद्यच् तूर्णमश्नुवते पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) पूर्वपदस्य ह्रस्वत्वं वकारश्चोपजनः। तूस्तूर्णमश्नुते। 'प्राप्यम्'—इति माधवः। यद्वा, तूर्वशः काम एषामिति तुर्वशाः, पूर्ववत् पूर्वपदस्य ह्रस्वत्वम्। 'वश कान्तौ (अदा० प०)'—इत्यस्मात् 'वशिरण्योरुपसङ्ख्यानम् (३, ३, ५८ वा०)'—इत्यप्। यद्वा, चतुर्षु धर्मार्थकाममोक्षेषु वश एषामिति चतुर्वशाः सन्तः चकारलोपेन तुर्वशाः। तुर्वशेप्यमन्महि (ऋ० सं० ५, ७, ३३, ४)" —इति निगमः॥

(१६) द्रुह्यवः। द्रुह जिघांसायाम् (दि० प०)' औणादिकः क्विप्, द्रोहः। द्रोहं परेषामिच्छन्ति 'छन्दसि परेच्छायामपि (३, १, ८ वा०)'—इति क्यच् 'क्याच्छन्दसि (३, २, १७०)' —इत्युप्रत्ययः। परहिंसारुचयो हि प्रायेण मनुष्याः। "श्रुष्टिं चक्रुर्भृगवो द्रुह्यवश्च (ऋ० सं० ५, ७, २५, १)"—इति निगमः॥

(१७) आयवः। 'इण् गतौ (अदा० प०)' 'छन्दसीणः (उ० १, २)—इत्युण्प्रत्ययः। गच्छन्ति ग्रामात् ग्रामम्, गमनशीलाः। "बाहुभ्यामग्निमायवोऽजनन्त (ऋ० सं० ७, ६, ८, ५)"—"आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे (ऋ० सं० ७, ८, ३३, ६)"—इति च निगमौ। 'अन्तोदात्त आयुशब्दो मनुष्यवचन.'—इति माधवः॥

(१८) यदवः। 'यमु उपरमे (भ्वा० प०)' 'यमेर्दुक्—इति श्रीभोजदेवः। 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम् (६, ४, ३७)'—इत्यादिना अनुनासिकलोप.। यम्यते नियम्यते आचार्य्येण अपथप्रवृत्तः, राज्ञा वा। "यो अग्निं येदः पशुः (ऋ० सं० ५, ७, १६, १)"—इति निगम'। अत्र माधव—'यदुषु भवो याद्वो यदुरिति मनुष्यनाम'—इति॥

(१६) अनवः। 'अन प्राणने (अदा० प०)' 'अणश्च (उ० १, ८)'—इति विधीयमान उप्रत्ययो बाहुलकात् भवति। अनन्त्यनव.। ज्ञानवत्त्वादेतेषां धर्मानुष्ठानात् प्राणनस्य फलवत्त्वात् अनन्तीत्युच्यन्ते। इतरे पश्वादयो ज्ञानहीनत्वात् निष्फलप्राणनाः। तथाचोपनिषदि—'तस्य च आत्मानं विस्तरं वेद'—इत्यत्र प्रकरणे ज्ञानवत्त्वात् पुरुषस्य वैशिष्ट्यं प्रतिपादितम्। "रोधाय विद्रदनवाय"—इति निगम'। अत्र माधव—'अनुरिति मनुष्यनाम'—इति। "अनवस्ते रथमश्वाय तक्षन् (ऋ० सं० ४, १, २६, ४)"—इति च। अत्र 'अनवः ऋभव. ते च मनुष्या.'। 'मर्त्तास. सन्तो अमृतत्वमानशु. (ऋ० सं०

१, ७, २०, ४)'—इति श्रुतिः। तथा ब्राह्मणमपि—'आर्भवं शंसत्यृभवो वै देवेषु तपसा सोमपीथ मभ्यजन् (ऐ० ब्रा० ३, ३, ५)'—इत्यादि, 'तेभ्यो वै देवा अपैवाबीभत्सन्त मनुष्यगन्धात् (ऐ० ब्रा० ३, ३, ५)'—इति च॥

(२०) पूरवः। 'पूरी आप्यायने (दि० आ०)' भृमृशीतृचरित्सरि (उ० १, ७)'—इत्यादिना बाहुलकात् उप्रत्ययः। पूरयितव्याः कामानां 'रूपूभ्यां कुः'—इति श्रीभोजदेवः। पूताः शुद्धाः स्नानार्थिभिरित्यर्थः। "यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते (ऋ० सं० १, ४, २५, ६)"—इति निगमः॥

(२१) जगतः। 'गम्लृ गतौ (भू० प०)'। वर्त्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च (उ० २, ७८)'—इति क्विप्प्रत्ययान्तो निपात्यते। प्रत्ययस्यादादेशः, द्विर्वचनं, नशि लोपश्च निपात्यते। गच्छति ग्रामात् ग्रामान्तरम्। "यद्वेषामम' जगतामिरज्यसि (ऋ० सं० ८, ३, ६, २)"—इति निगमः॥

(२२) तस्थुषः। 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ (भू० प०)'। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (३, ४, ६)'। 'क्वसुः (३, २, १०७)'। 'वस्वेकाजाद्घसाम् (७, २, ६७)'—इति इडागमः। 'आतो लोपः (६, ४, ६४)'। 'लिटि धातोः (६, १, ८)'—इति द्वित्वम्। 'शर्पूर्वाः खयः (७, ४, ६१)'—इति थकारस्य लोपः। 'अभ्यासे चर्च्च (८, ४, ५४)'—इति तकारः। तस्थिवस् इति स्थिते जसः स्थाने व्यत्ययेन शस् (३, १, ८५)। 'वसोः सम्प्रसारणम् (६, ४, १३१)'। 'शासिवसिघसीनाञ्च (८, ३, ६०)'—

इति पन्थम्। तिष्ठन्ति अस्मिन् धर्मे। "ऋतं परि तस्थुषः (ऋ० सं० १, १, ११, १)"—इति निगमः। अत्र वाजसनेयभाष्यस्कन्दः 'तस्थुषो मनुष्याः ऋत्विग्यजमाना इत्यर्थः'—इति॥

(२३) पञ्चजनाः। अत्र भाष्यम्—'तत्र पञ्चजना इत्येतस्य निगमा भवन्ति। "तदद्य वाचः प्रथमं मसीय०—०जुषध्वम् (ऋ० सं० ८, १, १३, ४)"। तदद्यवाचः परमं मसीय 'येनासुरानभिभवेम देवाः'। असुरा असुरता स्थानेष्वस्तास्थानेभ्य इति वापि वासुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति तेन तद्वन्तः। सोर्देवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वमसोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वमिति विज्ञायते। 'ऊर्जाद उत यज्ञियासः'। अन्नादाश्च यज्ञियाश्चोर्गित्यन्ननामोर्जयतीति सतः पक्वं सु प्रवृक्णमिति वा॥ 'पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्'। गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके, चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चमः इत्यौपमन्यवः। निषादः कस्मात्? निषदनो भवति निषण्णमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः। "यत् पाञ्चजन्यया विशा (ऋ० सं० ६, ४, ४३, १)"। पञ्चजनीनया विशा, पञ्च पृक्ता सङ्ख्या स्त्रीपुंनपुंसकेष्वविशिष्टा (निरु० ३, ७, ८)'—इति। अस्य स्कन्दस्वामी—'पञ्चजना इत्येतस्य सन्दिग्धस्य विवेकार्थं निगमा भवन्ति सन्देहश्च मनुष्यनामसु पाठात् पञ्चशब्देन समानाधिकरणः। तत्र यदि देवदत्तादिपञ्चकविषयः स्यात् गन्धर्वादिपञ्चकविषयो वा, न मनुष्यमात्रनामविषयताऽत्र स्यात्, मनुष्यमात्रनामैतदित्याचार्यमतान्तरप्रदर्शनाय

पदद्वयमिदम्मनुष्यपदार्थे वर्त्तते इति वैचित्र्यप्रदर्शनार्थं उपन्यासः। न मनुष्यनामत्वेन च द्रष्टव्यः। एकीयमतेन चाष्टौ देवताया उच्यन्ते। तत्र पक्षे नागानां गन्धर्वेषु, यक्षाणामसुरेषु, पिशाचानां रक्षस्वन्तर्भावद्रष्टव्याविरोधात्। तदद्य वाचः। सौचीकस्याग्नेर्विश्वेषां देवानां संवादो होतृजपश्चायम्। तद् अद्य अस्मिन् कर्मणि वाचो माध्यमिकायाः प्रथममुत्कृष्टं स्वरलोपृवार्थसदनत्वदेवताविशिष्टं मसीय जानीय। येन अज्ञानेन असुरा यज्ञविघ्नं कुर्वन्त', हे देवाः! अद्य तानभिभवेम। हे ऊर्जादः! उत अपि यज्ञियासः यज्ञस्य सम्पादयितारः पञ्चजनाः आचार्यमतेन ऋत्विङ्मनुष्याः। यमत्र्यवस्थपतीष्टौ निषादानां यज्ञसम्पादित्वमस्ति, शूद्रस्याप्यौदनसवे, 'आयुरसीति शूद्राय प्रयच्छति, तत्ते प्रयच्छामीति शूद्रः प्रतिगृह्णाति'—इत्येवमादिना। तथा 'दासी पिनष्टि पत्नी चेत्यत्र दास्यादेर्व्यापारादप्येवं यज्ञसम्पादित्वमेकीयमतेन। पञ्च यज्ञाङ्गभूता देवगन्धर्वादयः साधनभावेन यज्ञसम्पादिन'। अत्र उच्यते—'मम होत्रं जुषध्वम्'। होतृकर्म जुषध्वम् सम्पादयतेत्यर्थः। अन्ये मन्यन्ते—यदेकीयमतं यश्चोपमन्यवस्य तदुभयमप्याचार्यस्येति। तथा च मन्त्रव्याख्यानम्—पञ्चजाता ब्राह्मणादयो यज्ञियाः गन्धर्वादय, सर्वेऽपि होतु, सङ्घेन व्यापारेण सेव्यध्वमिति सम्प्रत्ययासाधारणं मनुष्यमात्रनामत्वेनैव निगमं दर्शयति 'यत् पाञ्चजन्यया विशा'। प्रगाथव्यायम्। यत् यदा पाञ्चजन्यया पञ्चजनेषु मनुष्येषु भवया विशेषति पञ्चभिरपि मनुष्यजातेरित्यर्थः'—इत्यादि। पञ्चेति निर्वाच्यम

पृक्तेति निर्वचनम्। सङ्ख्येति विषयकथनं सम्बन्धवत् सर्वलिङ्गैरित्याह—'लिङ्गवचयोगेऽप्यवशिष्टा'—इति। ननु षड़ादीन्यप्यवशिष्टानि ? उच्यते—प्रत्ययोपात्तरूपसम्बन्धस्यार्थाभिधानाददोष इत्युक्तम्। अपि च या पृक्ता सा पञ्चेति किन्तु या पञ्च सा पृक्तेति तदन्यत्र एकपदनिरुक्तव्याख्यानम्, यत् पञ्चजन्ययेत्यस्य द्वितीयपादादिव्याख्यानं चास्माकमत्रानुपयुक्तत्वान्न लिखितम्। 'पृची सम्पर्के (रु० प०)'। कनिन् युवृषि (उ० १, १५४)'—इत्यत्र प्राक्प्रत्ययनिर्देशस्याधिकविध्यर्थत्वात् कनिनि बाहुल्कात् ऋकारस्याकारो नकार उपजनश्च। भोजराजस्तु—'वृषितक्षिराजिधसिपचिप्रतिहिविभ्यः कन्'—इत्याह, तदा 'पचि विस्तारे (चु० प०)'—इति धातुः। एकादिभ्यो विस्तीर्णा पञ्चसङ्ख्या। जायन्ते जनाः। पचाद्यच् (३, १, १३४)। 'पञ्चभिर्भूतैर्जाताः पञ्चजनाः'—इति क्षीरस्वामी॥

(२४) विवस्वन्तः। 'वस निवासे (भू० प०)' इत्यस्मात् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति विच्, दृशिग्रहणात् भावे भवति। विविधं वसनं विवः, तद्वन्तो विवस्वन्तः। सर्वस्यापि मनुष्यस्य यत् किञ्चित् विवसनमस्ति। 'विवस्वच्छब्द आदित्यवाच्याद्युदात्तः, अन्यत्र मनुष्यविशेषे यजमाने द्वितीयाक्षरमुदात्तम्'—इति माधवः। "आविर्भव सुक्तरूपा विवस्वते (ऋ० मं० १, २, ३२, ३)"—"शिवो दूतो विवस्वतः (ऋ० सं० ६, ३, २२, ३)—इति च निगमौ। अत्र विवस्वान् यजमानः'—इति माधवभाष्यम्। 'महो जाया विवस्वतोच

नाश (ऋ० सं० ७, ६ २३, २)'—इत्यादित्यवचनस्योदाहरणम् ॥

(२५) पृतनाः । 'पृङ् व्यायामे (तु० आ०)' । "त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेयम् (ऋ० सं० ८, ७, १५, १)"—इति निगमः ॥

मनुष्याणां बहुत्वं, ततो बहुवचनान्तत्वम्, तथा निघण्टुष्वपि । 'मनुष्या मानुषा मर्त्या मनुजा मानवा नराः । स्युः पुमांसः पञ्चजनाः पुरुषाः पूरुषा विशः ॥ (अम० को० २, ६, १)' —इत्यादिषु च बहुवचनान्तता दृश्यते ॥

इति पञ्चविंशतिर्मनुष्यनामानि ॥ २५ ॥

आयती (१)। च्यवाना (२) । अभीशु (३) । अप्नवाना (४)। विनङ्गृसौ (५)। गभस्ती (६)। करस्नौ (७)। बाहू (८)। भुरिजौ (६)। क्षिपस्ती (१०)। शक्वरी (११)। भरित्रे (१२)। इति द्वादश बाहुनामानि ॥४॥

(१) आयती । 'यती प्रयत्ने (भू० आ०)' गतिकर्मा वा (निघ० २, १४)—'इन् सर्वधातुभ्यः (४, ११४ उ०)'—इतीन्प्रत्ययः । आभिमुख्येन यतते कार्य्येषु, गन्छन्तौ वा साधनत्वम् । बाह्वोर्द्वित्वात् सर्वत्र द्विवचनान्तता । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२) च्यवाना। 'च्युङ् गतौ (भू० आ०)'। 'सम्यानच् स्तुवः (उ० २, ८९)'—इत्यत्र प्राक्प्रत्ययनिर्देशोऽधिकविध्यर्थ इत्युक्तेरानच्प्रत्ययः। "सुपां सुलुक् (७, १, ३९)'—इत्यादिना द्विवचनस्याकारः। गच्छतः कर्मणामन्तः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(३) अभीशु। व्याख्यातो रश्मिनामसु। (१ अ० ५ ख०)'। अश्यश्नुवाते कर्माणि अभिनयन्तो वा कर्माण्यतः अभीशाते कर्माणि कर्त्तुमिति वा। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४) अप्नवाना। 'आपॢ व्याप्तौ (स्वा० प०)' 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् (३, २, १२९)' अस्य सार्वधातुकत्वात् श्नुः, 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—इत्यार्द्धधातुकत्वात् गुणः, धातोर्ह्रस्वत्वं पृषोदरादित्वात (६, ३, १०९)। आप्नुतः कर्माणि। यद्वा, अप्न इति कर्मनामसु व्याख्यातम्, (२ अ० १ ख०) तदस्यास्ति 'छन्दसीवनिपौ (५, २, १२२ वा०)'—इति वनिपि विभक्तेराकारः पूर्ववत्, सकारलोपश्छान्दसः। कर्मवन्तौ हि बाहू। नकारान्तो वेति सन्देहः। निगमदर्शनान्निर्णयः॥

(५) विनङ्गृसौ। बाहुनाम। विनम्य ग्रसतोऽन्नादिकमिति माधवः। पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) पूर्वपदे म्यलोपोनुक्, 'ग्रस अदने (भू० आ०)'—इत्यस्मात् पचाद्यच् (३, १, १३४), सम्प्रसारणञ्च। 'अन्वस्मै जोषमभरद्विनङ्गृसः (ऋ० सं० ७, ७, २७३)"—इति निगम॥

(६) गभस्ती। व्याख्यातो रश्मिनामसु। (१ अ० ५ ख०) पुरुषा अदन्त्यास्यामन्नादीन्। 'ग्रहेर्गभस्ती बाहू, गृह्णाति

पदार्थानाभ्यां पुरुषः'—इति माधवः। "शर्य्याभिर्न भरमाणो गभस्त्योः (ऋ० सं० ७, ५, २२, ५)"—इति निगमः॥

(७) करस्नौ। करांसीति कर्मनामसु करशब्दो व्याख्यातः। तस्मिन् कर्मण्युपपदे 'ष्णै वेष्टने (भ्वा० प०)'—इत्यस्मात् 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)' 'आतो लोप इटि च (६, ४, ६४)'। 'कर्मणां प्रस्नातारौ (निरु० ६, १७)' वेष्टयितारौ कर्मकरावित्यर्थः। "सुप्रकरस्नमवसे (ऋ० सं० ६, ३, २, ५)"—इति निगमः॥

(८) बाहू। 'बाधृ लोडने (भ्वा० आ०)'। 'अर्जिदृशिकम्यमिपसिबाधामृजिपशितुक्धुक्दीर्घहकारश्च (उ० १, २६)'—इत्युप्रत्ययो होऽन्तादेशश्च। गमयत्याभ्यां कर्माणि, बाधते परानाभ्यामिति वा। "अप्वात इन्द्र स्थविरस्य बाहू (ऋ० सं० ४, ७, ३१, ३)"—इति निगमः।

(९) भुरिजौ। 'हृञ् हरणे (भ्वा० उ०)' 'डु भृञ् धारणपोषणयोः (जु० उ०)' 'भृञ उच्च (उ० २, ७१)'—इति इजिप्रत्ययः। हरतो बिभृतो वा पदार्थान् कर्मकरणसामर्थ्यं वा। "तमहान् भुरिजौ धिया (ऋ० सं० ६, ८, १६, ४)"—इति निगमः॥

(१०) क्षिपस्ती। 'क्षिप प्रेरणे' तुदादिः (प०), 'वसवितन्तिस्तिः'—इति बाहुलकात् तिप्रत्ययः धातोरसुगागमो गुणाभावश्च प्रेर्य्यते कर्मसु पुरुषैः॥ 'क्षिपती'—इति पाठान्तरम्। तदा शतरि ङीपि 'आच्छीनद्योर्नुम् (७, १, ८०)' 'वा छन्दसि (६, १, १०६)"—इति द्विवचनस्य पूर्वसवर्णः। क्षिपतः पदार्थान् इतश्चेतश्च कर्मसु। यद्वा, क्षिपेः

"वहिनन्दिजीविप्राणिभ्यः शिदाशिषि (उ० ३, १२३)"—इति बाहुलकात् भच्प्रत्ययः भोऽन्तादेशः। क्षिपतः पदार्थात्। निगमदर्शनान्निर्णयः॥

(११) शकरी। 'शक्लृ शक्तौ (स्वा० प०)' 'स्नामदिपद्यर्त्तिपृशकिभ्यो वनिप् (उ० ४, १०६)'—इति वनिप्रत्ययः, 'वनो र च (४, १, ७)'—इति ङीपो च पूर्ववत् पूर्वसवर्णादेशः। शक्नुतः कर्माणि कर्तुम्। "अङ्गुलयः शकर्यो दिशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् (य० वा० सं० १८, २२)"—इति निगमः॥

(१२) भरित्रे। बिभर्त्ति रश्मीनादित्य इव। 'अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ (उ० ४, १६८)'—इति इत्रप्रत्ययः। भूरिवदर्थः। "अंशुं दुहन्ति हस्तिनो भरित्रैः (ऋ० सं० ३, २, २०, २)"—इति निगमः॥

इति द्वादश बाहुलानामानि॥ ४॥

अभ्रुवः (१)। अण्व्यः (२)। त्रिशः (३)। क्षिपः (४)। शर्याः (५)। रशनाः (६)। धीतयः (७)। अथर्यः (८)। विपः (९)। कक्ष्याः (१०)। अवनयः (११)। हरितः (१२)। स्वसारः (१३)। जामयः (१४)। सनाभयः (१५)। योक्त्राणि (१६)। योजनानि (१७)। धुरः (१८)।

शाखाः (१९)। अभीशवः (२०)। दीधितयः (२१)। गभस्तयः (२२)। इति द्वाविंशतिरङ्गुलिनामानि ॥ ५ ॥

(१) अग्रुवः। 'जत्र्वादयश्च (उ० ४, १००)'—इति रुप्रत्यान्तेषु निपातेषु द्रष्टव्यः। 'अगि गतौ (भू० प०)'—इति धातुः, निपातनान्नलोपः, तन्वादित्वादुवङ्। गच्छति कर्माणि प्रति। यद्वा, अग्रशब्दे उपपदे गमेः पूर्ववन्निपातनात् रुप्रत्यये पूर्वपदाग्रलोपः गमेष्टिलोपश्च। अग्रे गच्छन्ति ताः। "तमीं हिन्वन्त्यग्रुवः (ऋ० सं० ६, ७, १७, ३)"—इति निगमः। अङ्गुलीनां बहुत्वात् सर्वत्र बहुवचनान्तता ॥

(२) अण्व्यः। अणतिः शब्दार्थः (भू० प०), 'अणश्च (उ० १, ८)'—इति उप्रत्ययः। 'वोतो गुणवचनात् (४, १, ४४)'—इति ङीप्। अणन्ति स्फोटनादिशब्दं कुर्वन्ति, तालादि शब्दं कुर्वन्त्याभिरिति वा। यद्वा, अण्व्यः हस्तपरिमाणापेक्षयाल्पपरिमाणाः। तमीमण्वीः समर्य आ (ऋ० सं० ५, ७, १७, २)"—इति निगमः ॥

(३) विशः। 'विश प्रवेशने (तु० प०)'। 'क्विप् चवि (३, २, १७८ वा)'—इत्यत्र 'प्राक् प्रत्ययनिर्देशाद्दिष्टसिद्धिः'—इत्युक्तेः क्विपि रैफ उपजनः विशन्ति साधनभावं कार्येषु। 'तमीं हिन्वन्ति धीतयो दश विशः (ऋ० सं० २, २, १३, ५)"—इति निगमः। 'कर्मसु धीयमाना दशाङ्गुलयः'—इति माधवभाष्यम् ॥

(४) क्षिपः । 'क्षिप प्रेरणे (दि० प०)' औणादिकः क्विप् । क्षिप्यन्ते प्रेर्यन्ते पुरुषेण कर्मसु निक्षिपन्त्यास्वङ्गुलीयकादीन् इति वा "मृजन्ति त्वा दश क्षिपः (ऋ० सं० ६, ७, ३०, ४)" —इति निगमः ॥

(५) शर्य्याः । 'शॄ हिंसायाम् (क्र्या० प्या० प०)' । 'अघ्न्यादिराकृतिगणत्वात् यत् (उ० ४, १०८) । शृणाति पापात् । "आ यः शर्याभिस्तुविनृम्णो अस्य (ऋ० सं० ८, ५, २६, ३)" —इति निगमः ॥

(६) रशनाः । रशिर्बन्धनार्थो धातुरित्युक्तं रश्मिनिर्वचने । (१ अ० ५ ख०) 'युच् बहुलम् (२, ७४)'—इति युच् । बध्नन्ति बन्धनीयं, बध्यते आभिरिति वा । युच्प्रकरणे 'अशेरश्च'—इति श्रीभोजदेवः । "अस्तुवते कर्माणि रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम् (ऋ० सं० ७, ५, ३२, ६)" "प्र त्वा बर्हीरशनाभिर्नयन्ति (ऋ० सं० ७, ३, २२, १)"—इति च निगमौ ॥

(७) धीतयः । 'धी (दि० आ०)' धातो 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् (३, ३, १७४)'—इति क्तिच् व्यत्ययेन दधातेरपि भवति, 'घुमास्थागापाजहाति (६, ४, ६६)'—इतीत्वम् । धीयन्ते विधीयन्ते पुरुषैः कर्मसु, धारयन्ति कर्मसु धनानि वा । अत्रान्तर्गतिण्यर्थो दधातिः । "स सतवी तमिद्धित. (ऋ० सं० ६, ७, ३२, ४)"—इति निगमः ॥

(८) अथर्यः । 'अत सातत्यगमने (भ्वा० प०)' 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'—इतीन्प्रत्ययो बाहुल्कात्; धातोस्थरादेशः,

'कृदिकारादक्तिनः (४, १, ४५ वा०)'—इति ङीप्, जस्। 'उपर्बुधमथर्यो ३ न दन्तम् (ऋ० सं० ३, ५, ५, ३)'—इत्यत्र 'अथर्यो न स्त्रियः इव'—इति माधवः। अथर्ये इति तेनाप्यपाठि अङ्गुलिनामसु ॥

"अथर्यव."—इति पाठो बहुषु दृष्टः। तद्बाहुनामकरणं स्पष्टम्। निगमदर्शनान्निर्णयः ॥

(६) विपः। 'विप प्रेरणे (चु० प०)' क्विपि, प्रेर्यन्ते पुष्पैः कार्येषु। "विपो न द्युम्ना नियुवे जनानाम् (ऋ० सं० ६, १, ३५, ३)"—इति निगमः ॥

(१०) कक्ष्याः। "दशावनिभ्यः (ऋ० सं० ८, ४, ३०, २)" —इत्यत्र 'कक्ष्याः प्रकाशयन्ति कर्माणि (नि० ३, ६)—इति भाष्यम्। कक्ष्याः प्रकाशयन्त्यनुष्ठानफलेन फलेन वा कर्माणि। 'ख्यातेः कक्ष्यशब्दनिर्वचनम्'—इति स्कन्दस्वामी। 'गाहते वसः इति नामकरणः ख्यातेर्वा (निरु० २, २)'—कक्ष्यशब्दनिर्वचनपरे भाष्ये स्कन्दस्वाभिप्रायः—'ख्या प्रकथने (अदा० प०)'—इत्यस्मात् सप्रत्यये निरर्थको निर्निमित्तकोऽसौ सः यकाराकारयोर्लोपोऽभ्यासविकारश्च द्रष्टव्यः"—इति अयमभिप्रायः—प्रायेण 'वृतृवदिहनिकमिकषिभ्यः सः (उ० ३, ५६)'—इति ख्यातेर्बाहुलकात् सप्रत्यये बाहुलकादेर द्विर्वचने हलादिशेषे हसदरे 'कुहोश्चुः (७, ४, ६२)' न भवति बाहुलकादेव, 'अभ्यासे चर्च (८, ४, ५४)' इति चर्त्वम्, उत्तरस्य ख्या इत्यस्य यकाराकारयोर्लोपः, 'खरि च (८, ४, ५५)'—इति चर्त्वम्, 'आदेशप्रत्यययोः (८,

३, ५६)'—इति यत्यम् । प्रकथनेन प्रकाशनं लक्ष्यते । अंसेन नित्यं प्रच्छादनात् प्रकाश्यते पुरुषेण । कक्षो बाहुतलम् । 'तत्र भवः (४, ३, ५३)'—इत्यर्थे 'शरीरावयवाच्च (४, ३, ५५)—इति यत्प्रत्ययः । अङ्गुलयोऽपि परम्परया कक्षे भवा इति वक्तुं शक्यते, अंसेन नित्यं प्रच्छादितत्वात्, प्रकाश्यो हि सर्वदा कक्ष्यः, तत्र भवाः, अङ्गुलयस्तद्वन्तः प्रकाश्याः किन्तु प्रकाशयन्ति कर्माणि अनुष्ठानेन फलेन वा, यथाधारस्थिते अरणी अग्निना प्रकाश्ये तत्र भवोऽग्निः प्रकाशको भवति, तद्वत् । यद्वा, कक्ष्या रज्जुः तद्बन्धनसाधनत्वात् कक्ष्याशब्देनोच्यन्ते । "परिष्वजन्तं दशकक्ष्याभिः (ऋ० सं० ८, ५, १६, ४)"—"दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यः (ऋ० सं० ८, ४, ३०, २)"—इति च निगमौ ॥

(११) अवनयः । व्याख्यातं पृथिवीनामसु (१ अ० १ ख० ६) । अवन्ति कर्माणि, अव्यन्ते वा । "सनात् सनीला अवनी रवाताः (ऋ०सं०१, ५, २, ५)"—"दशावनिभ्यः (ऋ०सं० ८, ४, ३०, २)" —इति च निगमौ ॥

(१२) हरितः । व्याख्यातं नदीनामसु । (१अ० १३ ख०१२) हरन्त्याभिः पदार्थान् "प्र तं त्वं हरितो दश (ऋ० सं० ६, ८, २८, ३)"—इति निगमः ॥

(१३) स्वसारः । स्वशब्दे उपपदे 'असु क्षेपणे (दि० प०)' —इत्यस्मात् 'सावसे ऋन् (उ० २, ८६)'—इति ऋन्प्रत्ययः सुष्ठु अस्यते क्षिप्यते पदार्थ आभिः, कार्येषु क्षेप्तव्या वा । यद्वा,

स्वशब्दे उपपदे 'षद्लृ विशरणे (भू० प०)'—इत्यस्माद् बाहुलकादट्, बाहुलकात् टिलोपश्च । स्वं स्वं व्यापारं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति, स्वस्मिन् स्वस्मिन् स्थले सीदन्तीति वा । यद्वा, परस्परं भगिनीव दृश्यन्ते, एकहस्तसम्भवत्वात् स्वसारः उच्यन्ते 'न षट्स्वस्रादिभ्यः (४, १, १०)'—इति स्त्रीप्रत्ययनिषेधः । "दुहस्यन्ति स्वसारो अद्रयाणम् (ऋ० सं० १, ५, २, ५)"—इति निगमः ॥

(१४) जामयः, सनामयः । अनयोर्थोऽनुसन्धेयः । जमतेर्गतिकर्मणः (निघ० २, १४) 'जनिघसिभ्यामिण् (उ० ४, १२६)'—इति बाहुलकादिण्प्रत्ययः । 'अशिशलेपलिघसिजम्य-जिरजिभ्य इण्'—इति भोजदेवः । जमन्ति गच्छन्ति कर्माणि प्रति अङ्गुल्यादीनि वा । जनेर्वा बाहुलकान्नकारस्य मकारः, जाताः स्वकारणात् । "त्वं सनिधियेव जामयः (ऋ० सं० ६, ८, १६, ५)"—इति निगमः ॥

(१५) सनाभयः । 'णह बन्धने (दि० उ०)' 'नहो भश्च (उ० ४, १२२)'—इति इञ्प्रत्ययः भोऽन्तादेशः । नह्यतेऽनया गर्भ इति नाभिः, समाना नाभिरासामिति सनाभयः । ज्योतिर्जनपदेऽन्यस्मात् सहशब्दस्य समादेः । समाना हि मातुर्नाभिस्तासाम्, समा नाभिः मूलमासामिति वा । "सनाभयो वाजिनमूर्जयन्ति (ऋ० सं० ७, ३, २०, ४)"—इति निगमः ॥

(१६) योक्त्राणि । (१७) योजनानि । 'युजिर् योगे (रु० उ०)' । 'दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसि (३, २, १८२)'—इति

दुन्प्रत्ययः पूर्वत्र। 'युच् बहुलम् (उ० २, ७४)'—इति युच्। युञ्जन्ति पदार्थानामिरिति, युक्ता या हस्तेन, संयम्यते आभिः क्लेशादय इति वा। शब्दसामान्यात् नपुंसकलिङ्गता। "दशायोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः (ऋ० सं० ८, ४, ३०, २)"—इति निगमः ॥

(१८) धुरः। धूर्वतेर्वधकर्मणः (निघ० २, १९) कर्त्तरि क्विपि (३, २, १७६), राल्लोपः (६, ४, २१)' इतिवलोपे रेफस्य विसर्जनीयः, जसि धुरः। धूर्वन्ति प्रत्युपक्षयन्ति कर्माणी-त्यर्थः। हिंसन्ति परानाभिरिति वा। धारयतेर्वा श्रीणा-दिके क्विपि बाहुलकात् आकारस्य उकारः। अङ्गुल्या हि धार्यं सुवर्णादि धारयति। "दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः (ऋ० सं० ८, ४, ३०, २)"—इति निगमः॥

(१९) शाखाः। 'अशू व्याप्तौ (स्वा० आ०)' अस्मात् खप्रत्यये विहते 'अश्नोतेर्डित्'—इति औणादिकेन खप्रत्यये शाखशब्दो व्युत्पादितः। व्याप्तं हि सर्वम्। खशब्दाधिकरणे उपपदे शेतेः 'अधिकरणे शेतेः (३, २, १५)'—इति अच्प्रत्ययः। अङ्गुल्यो हि हस्ताग्रभागत्वात् स्वे आकाशे शेरते व्यवतिष्ठन्ते आकाशस्यावकाशरूपत्वात उपपन्नं हि तत्र शयनम्। खशयाः सत्याः पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) यकारलोपेन शाकारा-कारयोः सवर्णदीर्घत्वे खशा इति भवति, ततोऽक्षरद्वयस्य स्थान-विनिमयः, टाप्, शाखा। शक्नोतेर्वा पचाद्यचि (३, १, १३४) उपधादीर्घः, ककारस्य खकारश्च। शक्नुवन्ति हि ता अङ्गुल्यः

पुस्तकादि धारयितुं कार्य्याणि कर्त्तुं वा। यद्वा, 'शाखृ व्याप्तौ (भू॰ प॰)' पचाद्यच् (३, १, १३४)। शाखन्ति व्याप्नुवन्ति कर्माणि। यद्वा, 'शीङ् स्वप्ने (अदा॰ आ॰), अस्मात् 'वृक्षावयवाद्य'—इति खप्रत्ययो बाहुलकात् हस्तावयवेऽपि भवति। शेरतेऽवतिष्ठन्ते आसु नखादयः इति शाखाः। 'श्यतेरिद्ध वा'—इति श्रीभोजदेवः, खप्रत्ययोऽधिकृत', इकारादेशस्य विकल्पितत्वात् पक्षे शाखानिष्पत्त्या शाखास्थानीयत्वाद्वा शाखा इष्यन्ते। तथाचामरसिंहः—'अङ्गुल्यः करशाखाः स्युः (२, ६, ८२)'—इति। 'हस्ताभ्यां दशशाखाभ्याम् (ऋ॰ सं॰ ८, ७, २५, ७)"—इति निगमः॥

(२०) अभीशवः। व्याख्याता रश्मिनामसु (१ अ॰ ५ ख॰ ५)। अभ्यश्नुवते कर्माणि, अभीशते वा कर्माणि कर्त्तुम्। "दशाभीशुभ्योअर्चता जरेभ्यः (ऋ॰ सं॰ ८, ४, ३०, २)"—इति निगमः॥

(२१) दीधितयः। व्याख्याता रश्मिनामसु (१ अ॰ ५ख॰ ६)। अंगुरीयकादिधारणाद् दीप्यन्ते। दीव्यन्ति क्रीड़न्त्याभिरिति वा दधातेर्व्युत्पन्नो दीधितिशब्दः। "अग्निं नरो दीधितिभिररण्योः (ऋ॰ सं॰ ५, १, २३, १)"—निगमः॥

(२२) गभस्तयः। व्याख्याता रश्मिनामसु (१ अ॰ ५ ख॰ ७) गृह्णन्ति पदार्थानाभिः पुरुषाः इति गभस्तयः। "दीप्यते मघोरंशुर्गभस्तिभिः"—इति निगमः॥

"सुहस्त्याः"—इति केचित्।

एतस्य स्थाने "सक्तुनः"—इति च केचित् पठन्ति। ताश्च व्याख्याता नदीनामसु (१ अ० १३ ख० १६)। संसरन्ति सह गच्छन्ति कर्माणि प्रति सङ्गता वा। स्पष्टे निगमदर्शनान्निर्णयः॥

इति द्वाविंशतिरङ्गुलिनामानि ॥ ५ ॥

वश्मि (१)। उश्मसि (२)। वेति (३)। वेनति (४)। वेसति (५)। वाञ्छति (६)। वष्टि (७)। वनोति (८)। जुषते (६)। हर्यति (१०)। आचके (११)। उशिक् (१२)। मन्यते (१३)। छन्त्सत् (१४)। चाकनत् (१५)। चकमानः (१६)। कनति (१७)। कानिषत् (१८)। इत्यष्टादश कान्तिकर्माणः ॥६॥

'कान्तिकर्माणः (निरु० ३, १,)'—इच्छार्था धातवः—

(१) वश्मि। 'वश कान्तौ' अदादिः परस्मैपदी। लडुत्तमैकवचनम्। "तदहं वश्मि पवमान सोम (ऋ० सं० ७, ४, ६, ४)"—इति निगमः॥

(२) उश्मसि। वशेर्लडुत्तमपुरुषबहुवचने मसि 'सार्वधातुकमपित्। (१, २, ४)'—इति ङिद्वद्भावात् 'ग्रहिज्या (६, १, १६)'—इत्यादिना सम्प्रसारणम् 'इदन्तो मसि' (७, १, ४६)'—इति

इकारः। "ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै (ऋ० सं० २, २, २४, ६)"—इति निगमः॥

(३) वेति। 'वी गतिप्रजनकान्त्यशनखादनेषु' अदादिः परस्मैपदी। "वेषि होत्रमुत पोत्रं यजत्रा (ऋ० सं० १, ५, २४, ४)"—इति निगमः॥

(४) वेनति। नैरुक्तो धातुः। "पुराणाँ अनु वेनति (ऋ० सं० ८, ७, २३, १)"—"नासत्यामा वि वेनतम् (ऋ० सं० ४, ४, १६, २)"—इति च निगमौ॥

(५) वेसति। अयमपि नैरुक्तो धातुः। 'वेशति'—इति पाठान्तरम्। निगमदर्शनाभिर्णयः॥

(६) वाञ्छति। 'वाछि इच्छायां' भौवादिकः (प०)। विश्वास्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु (ऋ० सं० ८, ८, २१, १)"—इति निगमः॥

(७) वष्टि। वशेः परस्मैपदप्रथमपुरुषैकवचनम्। "समर्यो गा अजति यस्य वष्टि (ऋ० सं० १, ३, १, ३)"—इति निगमः॥

(८) वनोति। 'वनु याचने' तनादिः (प०), अनेकार्थत्वाद्धातूनामत्र कान्त्यर्थः। परमन्यत्रापि। "स्वार्हं यद्वेक्ण परमं वनोषि तत् (ऋ० सं० १, २, २४, ४)"—इति निगमः॥

(९) जुषते। 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' तुदादिरात्मनेपदी, अत्र कान्तिकर्मा। "स पुर्धि यासि जोषमा चिकित्वान् (ऋ० सं० १, ५, २५, ५)"—इति निगमः। 'जुषते हर्यति इति पाठात् जोषः कामः'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्॥

(१०) हर्यते। 'हर्य गतिकान्त्योः' भ्वादिः परस्मैपदी। "ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः (ऋ० सं० ३, ८, ११, २)" इति निगमः॥

(११) चाचके। 'चक तृप्तौ' भ्वादिरात्मनेपदी, लङ्-उत्तमपुरुषैकवचनम्। "कन्योज चाचके (ऋ० सं० ३, ४, १, ५)' —इत्यत्र 'छन्दस्युभयथा' इति मलोपश्छान्दसः'—इति भानु-दत्तः। "रथानयस्तुराचके (ऋ० सं० १, २, १६, ४)"—इति निगमः। "यस्ते शकृद्धयमाचके (ऋ० सं० ६, ३, ४२, ५)"—इति तु 'लोपस्त आत्मनेपदेषु (७, १, ४१)'। यथादृष्टं पाठः॥

(१२) उशिक्। वष्टेः 'वशः किन् (उ० २, ६८)'—इति किन्प्रत्ययः, कित्त्वात् सम्प्रसारणम्। "उ शिक् पावको अरतिः सुमेधाः (ऋ० सं० ३, ८, २१, १)"—इति निगमः॥

(१३) मन्यते। 'मन ज्ञाने' दिवादिरात्मनेपदी। "आध्रं-श्चिद्य मन्यमानस्तुरश्चित् (ऋ० सं० ५, ४, ८, २)"—"यदि मन्येतोपमुस्य मेत्योदने."—इति च निगमौ॥

(१४) छन्त्सत्। 'छदि संवरणे' चुरादिः। पञ्चमलकारः, तिप्, 'लेटोऽडाटौ (३, ४, ९४)', 'सिब्बहुलं लेटि (३, १ ३४)' 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु (३, ४, ९७)'। 'वृषा छन्दुर्भवति हर्यतः (ऋ० सं० १, ४, १६, ४)'—इत्यत्र मन्यते छन्त्सत् चाकनत् इति कान्तिकर्मसु पाठात्, 'तदिन्मे छन्त्सद्वपुषः (ऋ० सं० ७, ७, २१, ३)'—इति प्रयोगदर्शनाच्च छदिः कान्त्यर्थः'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्। 'देवेचताय छन्त्सत्

(ऋ० सं० २, १, २१, ६)"—इति, "अच्छान्नस्तुः पञ्चहृदयः (ऋ० सं० ८, ६, २६, ६)"—इति च निगमौ ॥

(१५) चाकनत्। 'कनी दीप्तिकान्तिगतिषु (भू० प०)' यङ्लुगन्तः। 'नुगतोऽनुनासिकान्तस्य न भवति, व्यत्ययेन पञ्चमलकारः, 'लेटोऽडाटौ (३, ४, ९४)' 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु (३, ४, ९७)'। "इन्द्रं दिन्द्रस्य चाकनत् (ऋ० सं० ६, २, ३८, १)"—"ये निः शचिष्ठ चाकनत्"—इति च निगमौ ॥

(१६) चकमानः। 'चक तृप्तौ' भ्वादिरात्मनेपदी। 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् (३, २, १२८)'। "चकमानः पिबतु दुग्धमंशुम् (ऋ० सं० ४, २, ७, १)"—इति निगमः।

(१७) कनति। 'कनी दीप्तिकान्तिगतिषु (भू० प०)' भ्वादिः परस्मैपदी। "भानत् कनति नुदतम्"—"इन्द्रः सोमस्य काणुका (ऋ० सं ६, ४, २६, ४)"—इति च निगमौ।

(१८) कानिषत्। कनतेर्लेटि परस्मैदप्रथमपुरुषैकवचने सिब्बहुलं लेटि, इडागमः, उपधाया दीर्घो हलन्त्यात् इकारलोपः पूर्ववत्। "अग्ने तृतीये सवने हि कानिषः (ऋ० सं० ३, १ ३१, ५)"—इति निगमः

इत्यष्टादश कान्तिकर्माणो धातवः ॥ ६ ॥

अन्धः (१)। वाजः (२)। पयः (३)। प्रयः (४)। पृक्षः (५)। पितुः (६)। वय (७)।

सिनम् (८)। अवः (९)। क्षु (१०)। धासिः (११)। इरा (१२)। इला (१३)। इषम् (१४)। ऊर्क् (१५)। रसः (१६)। स्वधा (१७)। अर्कः (१८)। क्षद्म (१९)। नेमः (२०)। ससम् (२१)। नमः (२२)। आयुः (२३)। सूनृता (२४)। ब्रह्म (२५)। वर्चः (२६)। कीलालम् (२७)। यशः (२८)। इत्यष्टाविंशतिरन्ननामानि ॥७॥

(१) अन्धः। 'अन्ध इत्यन्ननाम। आध्यानीयं भवति (निरु० ५, १)'—इति भाष्यम्। 'आभिमुख्येन हि ध्यातव्यं सर्वैरन्नं प्रीतेः शरीरस्थितेश्च तदायत्तत्वात्'—इति स्कन्दस्वामी। आङ्पूर्वात् ध्यायतेरसुनि बाहुलकात् यकाराकारयोर्लोपः, उपसर्गस्य ह्रस्वत्वं नुडागमश्च धातोः। यद्वा, 'अद भक्षणे (अदा० प०)'—इत्यस्मात् 'अदेर्नुम् धश्च (उ० ४, २००)'—इति कर्मणि कर्त्तरि वा कारके असुनि नुमागमो धकारश्चान्तादेशः। अद्यते प्राणिभिः, तान् वा स्वयमत्ति। तथाच श्रुतिः—'अद्यतेऽत्ति च भूतानि (तै० उ० २, २)'—इति। 'अनित्यनेनान्धः'—इति क्षीरस्वामी। अनितेरसुनि बाहुलकात् धुगागमः। अनित्यन'

हि प्राणनम्। "आमत्रेभिः सिञ्चता मद्य मन्धः (ऋ० सं० २, ६, १३, १)"—"इन्द्रेहि मत्स्यन्धसः (ऋ० सं० १, १, १७, १)"—इति च निगमौ ॥

(२) वाजः। 'वज गतौ (भू० प०)'। 'अकर्त्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम् (३, ३, १९)'—इति घञ्। 'अजिव्रज्योश्च (७, ३, ६०)'—इति चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् कुत्वाभावः। तथाच तत्र न्यासकारः—'चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद्वजेरपि कुत्वप्रतिषेधः सिद्धो भवति वाजः' इति। निगम्यते अभिगम्यते हि तत्सर्वैः। गच्छत्यनेनादत्तेन क्षुपालि, भुक्तेन तृप्तिं वा गच्छत्यनेन शुद्धेन सत्वशुद्धिं भोक्ता। यदाहुः—'आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिरिति। यद्वा, गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः, जानात्यनेन भुक्तेन धर्मम्। 'दश धर्मान् विजानन्ति धृतराष्ट्र निबोध तान्। मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः॥'—इति श्रीमहाभारतम्। सर्वत्रान्ननामसु गत्यर्थाद् व्युत्पादितेष्वेवमर्थो बोद्धव्यः। "सुतानां वाजिनीवसू (ऋ० सं० १, १, ३, ५)"—अन्यत्र "वाजं हवनस्यदं रथम् (ऋ० सं० १, ४, १२, १)"—इति च निगमौ ॥

(३) पयः। व्याख्यातं रात्रिनामसु पय इत्यत्र (निरु० २, ५)। यद्वा, 'अय पय गतौ (भू० आ०)'—इत्यस्मादसुन्। पीयते ह्यन्नं। तद्धि चतुर्विधं पेयचोष्यलेह्यचर्व्यभेदेन। पद्यन्ते हि तेन भुक्तेन। 'जातान्यन्नेन वर्द्धन्ते (तै० उ० ३, २)'—इति श्रुतिः। "पयसागाम भागदि (ऋ० सं० १, २, १२, ३)"—"यदी

घृतस्य पयसा पियानः (ऋ० सं० १, ५, ३७, ३)"—इति च निगमः॥

(४) प्रयः। व्याख्यातमुदकनामसु (१ अ० १२ ख० ३७) "उपप्रयोभिरागतम् (ऋ० सं० १, १, ३, ४)"—"तुराय प्रयोन हमि स्तोमं माहिनाय (ऋ० सं० १, ४, १७, १)"—"प्रयस्वन्तः प्रति हर्यामसि त्वा (ऋ० सं० ८, ६, ११, ३)"—इति च निगमाः॥

(५) श्रवः। 'श्रु श्रवणे (धा० प०)'। कर्मण्यसुन्। श्रूयते ह्यन्नं घर्ण्यमानं श्रवो यशः। तद्धर्मात्ताच्छब्द्यं वा। "सत्यश्चित्र श्रवस्तमः" "मर्तं दधामि श्रवसे दिवे दिवे (ऋ० सं० १, २, ३३, २)"—"अभिश्रव ऋज्यन्तः (ऋ० सं० ४, ७, ६, ३)"—इति च निगमाः। "उप प्रयोभिरागतम् (ऋ० सं० १, १, २, ४)"—इत्यादिषु निरुक्तटीकायां स्कन्दस्वामिना प्रय इत्यन्नना-मेत्युच्यते। तथात्र 'अक्षिति श्रवः (ऋ० सं० १, ३, २०, ४)'—इत्यादिनिगमेषु वेदभाष्ये, 'श्रव इत्यन्ननाम'—इति स्पष्टमुच्यते। निरुक्तटीकायान्तूभयथा (निरु० १०, ३)। अतः प्रयःश्रवः-शब्दयोः उभयोरप्यन्ननामत्वं स्पष्टम्। तत्रैकतमस्य पाठो विद्व-द्भिर्निर्णीयताम्॥

(६) पृक्षः। 'पृची सम्पर्के (रु० प०)'। औणादिके क्विपि धातोः कुगागमः। सम्पृक्तं हि तज्जन्तुभिः। पृक्षतिर्दानार्थ इति वा (अदा० आ०)। "वाजो तव प्र पृक्षती (ऋ० सं० १, १, ३, ३)"—इत्यादौ माधवेनोक्तम्। तत्र क्विपि बाहुलकाल्लोपः। दीयते ह्यन्नमर्थिभ्यः। "त्रिः पृक्षो अस्मे अक्षरेव पिन्वतम्।

(ऋ० सं० १, ३, ४, ४)"—इत्यत्र स्कन्दस्वामिभाष्यम् 'पृक्षा अन्ननामैतत् पठन्ति। "पृक्षो भरन्त धाम् (ऋ० सं० ४, ४, १२, ३)"—इत्यादिषु बहुवचनान्तस्य सामानाधिकरण्यदर्शनात् बहुवचनान्तं द्रष्टव्यम्—इति। "अग्निं विश्वा अभि पृक्षः सचन्ते (ऋ० सं० १, ५, १६, २)"—"पृक्षो वहतमश्विना (ऋ० सं० १, ४, २, ६)"—इति च निगमौ। "त्वंशर्द्धो मारुतं पृक्ष ईशिषे (ऋ० सं० २, ५, १८, १)"—इत्यादौ तु षष्ठ्येकवचनान्तमपि दृश्यते॥

(६) पितुः। 'पा रक्षणे (अदा० प०)'। 'कमिमनिजनिभायागापाहिभ्यश्च (उ० १, ७०)'—इति तुप्रत्ययो बाहुलकादिकारः। रक्षितत्र्यं ह्यन्नम्। प्यायतेर्बाहुलकात् तुप्रत्ययो धातोः पिभावश्च। "पितुं नु स्तोषम् (ऋ० सं० २, ५, ६, १)"—प्रमन्दिने पितुमदर्चता वचः (ऋ० सं० १, ७, १२, १)"—इति निगमौ॥

(७) वयः। 'वी गतिप्रजनकान्त्यशनखादनेषु (अदा० प०)'। असुन्। गत्यादिसर्वोऽप्यर्थोऽत्रानुगुणः कारकभेदेन। 'वय गतौ (भ्वा० आ०)'—इत्यस्मादसुन् वा। "बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति (ऋ० सं० २, १, १०, २)"—"परि प्रेमसोमन वां वयो गातव (ऋ० सं० ५, ५, १६, ४)"—इति च निगमौ॥

केचिदस्य स्थाने "सूतः" इति पठन्ति। तत्र 'षूङ् प्राणिप्रसवे (अदा० आ०)'। 'ताततातलातसृत'—इत्यादिना क्तप्रत्ययः पूङो हस्वत्वञ्च निपात्यते। सूयते वृष्ट्या। "आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः"—इति हि स्मृतिः (मनुः ३, ७६)। यद्वा,

'सु पु गतौ (भू० प०)'—इत्येतद्विषयं निपातनम्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(८) सिनम्। 'षिञ् बन्धने (स्वा० क्र्या० उ०)'। 'इण्-सिञ्दीङुष्यविभ्यो नक् (उ० ३, २)'। 'सिनाति भूतानि'—इति भाष्यम्। 'सिनाति बध्नाति क्षुधा विनश्यन्ति भूतानि धारयति'—इति स्कन्दस्वामी। सीयते अनेनेति वा। अन्नेन हि भृत्यादयो बध्यन्ते। "येन स्वासिनं भरथः स येभ्यः (ऋ० सं० ३, ४, ६, १)"—इति निगमः॥

(९) अवः। 'अव रक्षणगतिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिङ्गनहिंसादानभागवृद्धिषु (भू० प०)'। असुन्। धात्वर्थेषु योगः सर्वाङ्गीकर्त्तव्यः। 'अवत् प्रज्ञण्यवसागमन्"—'अग्निर्गिरोऽवसा वेतु धीतिम् (ऋ० सं० १, ५, २५, ४)"—इति निगमौ॥

(१०) क्षु। 'टु क्षु शब्दे (अदा० प०)'—'क्षि निवासगत्योः (तु० प०)'। 'सञ्जेश्चरा डच (उ० १, ३२)'—इति विधीयमानो डित्कुप्रत्ययो बाहुलकादाभ्यामपि भवति। क्षूयते शब्द्यते स्तोतृभिः स्तूयते देवतात्वादन्नं सूक्तादिभिः गुणवत्तया वा लोकैः, निवसत्यनेन वा। "त्वं वाजस्य क्षुमतो राय ईशिषे (ऋ० सं० २, ५, १८, ५)"—"आ तू न इन्द्र क्षुमन्तम् (ऋ० सं० ६, ५, ३७, १)"—इति च निगमौ॥

(११) धासि। 'प्लुषिशुषिकुषिभ्यः क्सिः (उ० ३, १५१)'—इतिबाहुलकात् धाञोऽपि भवति, बाहुलकादेव इत्वं ॥

भवति। दीयतेऽर्थिभ्यो धारयति प्राणान् वा। "विदेत्सर मा तनयाय धासिम् (ऋ० सं० १, ५, १, ३)"—अत्र 'धासि-रन्ननाम इह तु पयस आसन्नकारणत्वात् गोषु प्रत्युक्तः'—इति स्कन्दस्वामी॥

(१२) इरा। व्याख्यातं नदीनामसु (१ अ० १३ ख० ३५)॥

(१३) इला। ईड्यते दीप्यते भुक्तेन जाठरोऽग्निः, क्षिप्यते उदरे, स्वपत्यनेन भुक्तेन न हि बुभुक्षितस्य निद्रास्ति। "तस्मा इलां सवीरा मा यजामहे (ऋ० सं० १, ३, २०, ४)"—इति निगमः॥

(१४) इषम्। 'इषु इच्छायाम् (तु० प०)'। औणादिकः क्विप्। इष्यत इति। यद्वा, 'इषु गतौ (दि० प०)' क्विप्। वेदे प्राचुर्येण दर्शनाद् द्वितीयैकवचनान्तम्। "इषं स्तोतृभ्य आभर (ऋ० सं० ३, ८, २२, १)"—"अश्विना यज्वरीरिषः (ऋ० सं० १, १, ५, १)"—इति च निगमौ॥

(१५) ऊर्क्। 'ऊर्गित्यन्ननाम। ऊर्जयतीति सतः, पक्वं सुप्रवृक्णमिति वा (निरु० ३, ८)'—इति भाष्यम्। 'ऊर्जयति' प्रबलति प्राणयति बलयन्तं प्राणयन्तं वा करोतीत्यर्थः। 'पक्वमिति वा' पक्वशब्दस्य पकारलोपे इत्यथा वशब्दे वकारस्य वकारस्योरि कृते रुगागमे चोर्गिति भवति। 'सुप्रवृक्णमिति वा' शब्दे प्रान्त्यलोपे कृते, संयोगादिलोपे कृते, अकारस्योपरि क्वनि ऊत्वे च कृते ऊर्गिति भवति। सुच्छिन्नं हि तद्भवति मृदुत्वात्'—इति स्कन्दस्वामिमतम्। 'ऊर् इति प्राग्जने जीव्यतेऽनया'—इति

च कृते ऊर्गिति भवति। सुप्तिवदं हि तद्भवति मृदुत्वात्'—इति स्कन्दस्वामिग्रन्थः। 'ऊर्ज्यते प्राण्यते जीव्यतेऽनया'—इति भट्टभास्करमिश्रः। अत्र 'ऊर्जबलप्राणनयोः (चु० प०)' इत्यस्मादेव करणे क्विप्। "यंसि त्मनमूर्जं न विश्वध क्षरध्यै (ऋ० सं० १, ५, ५, ३)"—इति निगमः॥

(१६) रसः। व्याख्यातमुदकनामसु (१ अ० १२ ख० ३५)। "महे यत् पित्र ईं रसः दिवे कः (ऋ० सं० १, ५, १५, ५)"—इति निगमः॥

(१७) स्वधा। स्वशब्दे उपपदे दधातेः (जु० उ०) 'गेहे कः (३, १, १४४)'—इति कप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति। स्वेभ्यो दीयते स्वस्मिन् धीयते वा, स्वेन धनेन धीयते वा। "विश्वा हि माया अवसि स्वधा वः (ऋ० सं० ४, ८, २४, १)"—"आदह स्वधामनु (ऋ० सं० १, १, ११, ४)"—इति च निगमौ॥

(१८) अर्कः।

(१९) क्षद्म। व्याख्यातमुदकनामसु (१ अ० १२ ख० ३)। क्षुन्निवर्त्तनादिके स्वकार्य्ये स्थिरं भवति, स्थिरो भवत्यनेन भोक्तेति वा, "अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि (सा० सं० आ० १, ६)"—इति श्रुतिः। माधवपक्षे क्षदिरशनार्थः (सौ०), अश्यते बुभुक्षितैः। "स्वादु क्षद्मापो वसतो स्योनकृत्"—इति निगमः॥

(२०) नेमः। 'णीञ् प्रापणे (भू० उ०)'। 'अर्त्तिस्तुसुहु-सृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन् (उ० १, १३७)'। नमयति सुगतिं दातारं, नीयते देहयात्रा अनेनेति वा॥

"नेमा"—इति नकारान्तं केचित् पठन्ति। तदा बाहुलकाद-भिधानलक्षणाद्वा नकारस्येत्सञ्ज्ञाया अभावः। एवमेवास्मिन् सूत्रे वृत्तिकारेणोक्तम्। यद्वा, मनिनि रूपसिद्धिः। निगमदर्शनान्निर्णयः।

(२१) ससम्। 'सस स्वप्ने (अदा० प०)'। 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण (उ० ४, ११८)। स्वपन्त्यनेन भुक्तेन, न हि क्षुधितस्यातिनिद्रा स्त। "ससेन चिद्विमदायावहो वसु (ऋ० सं० १, ४, ६, ३)"—इति निगमः॥

(२२) नमः। 'णमु प्रह्वत्वे (भ्वा० प०)'। असुन्। उपनतं जातमात्रेभ्यो भूतेभ्यः पूर्वजन्मकृतकर्मवशात्, नम्यते देवतात्वात्, नमन्त्यनेन हेतुना तद्वन्तः प्रयोजनस्य न हेतुत्वेन विवक्षा। "प्र वो महे महि नमो भरध्वम् (ऋ० सं० १, ५, १, २)"—"प्र वो अग्निं नमसा (ऋ० सं० ५, २, २१, १)"—इति च निगमौ॥

(२३) आयुः। अननं प्राणनमस्ति। "पाहि सदमिद्विश्वायुः (ऋ० सं० १, २, २२, ३)"—इति निगमः॥

(२४) सूनृता। व्याख्यातमुषोनामसु (१ अ० ८ स० १४)। सुष्ठु नयन्ति क्षुत्प्रयुक्तान् अर्थ्यते या तदर्थिभिः। यद्वा, शोभना नरः सुनरः 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः, सूनुः तायते विस्तार्यते पुण्येन, 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७) —इति दीर्घः। या टाप्। "पुरन्धिर्जरते सूनृतावान् (ऋ० सं० १, ४, २५, ७)"—"अश्विना सूनृतावती (ऋ० सं० १, २, ४, ३)"—इति च निगमौ॥

(२५) ब्रह्म। 'तृहि बृहि वृद्धौ (भू० प०)' 'बृंहेर्नलोपश्च (उ० ४, १४१)'—इति मनिन्। परिवृद्धं भवति सर्वप्राणिभिः। सर्वदा भुज्यमानमप्यनुपक्षीयमाणत्वात्, स्वभावतो वा परिवृद्धं सर्वस्य जगतो भरणात्, वर्द्धन्तेऽनेन भूतानीति वा 'जातान्यन्नेन वर्द्धन्ते (तै० उ० २, २)"—इति श्रुतिः। "उप ब्रह्माणि वाघतः (ऋ० सं० १, १, ५, ५)"—इति च निगमः॥

- (२६) वर्चः। 'वर्च दीप्तौ (भू० आ०)'। असुन्। दीप्तिकरं ह्यन्नं शरीरादेः। "तमा संसृज वर्च्चसा (ऋ० सं० १, २, १२, ३)"—"सं माग्ने वर्च्चसा सृज (ऋ० सं० १, २, १२, ४)" —"आयुषा सह वर्च्चसा (ऋ० सं० ८, ३, २७, ४)"—इति निगमाः॥

(२७) कीलालम्। 'कल गतौ (प०)' चौरादिकः, 'कील बन्धने (भू० प०)' 'कील खण्डने'। कील बन्धने इति व्युत्पत्तौ सितवदर्थः। कील खण्डने इति तु सुच्छेदमित्यर्थः। अपि वा कीला जाठराग्नेर्ज्वाला, तां लाति 'कर्मण्यण् (३, २, १)'। "कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे (ऋ० सं० ८, ४, २२, ४)" —इति निगम॥

~ (२८) यशः। व्याख्यातमुदकनामसु (१अ० १२सं० ५५)। यशो यशोर्दीप्त्यर्थात्। कीर्तिकरं वेति माधवः। तदा वर्च्चोस्वदर्थः। "यशोन पक्वं मधुगोष्वन्तरा (ऋ० सं० ८, ६, २, ५)"— "तुविद्युम्न यशस्वता (ऋ० सं० २, १, १६, ६)"—इति निगमौ॥

इत्यष्टाविंशतिरन्ननामानि॥ ७॥

आवयति (१)। भर्वति (२)। बभस्ति (३)। वेति (४)। वेवेष्टि (५)। अविष्यन् (६)। वप्सति (७)। भसथः (८)। बब्धाम् (९)। ह्वरति (१०)। इति दशात्तिकर्माणः ॥८॥

(१) आवयति। आङ्पूर्वात् वेतेः (अदा० प०) 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७३)'—इति शपो लुगभावः। यद्वा, 'वेञ् तन्तुसन्ताने (उ०)' भूवादिः, अनेकार्थत्वात् धातूनामत्रात्तिकर्मत्वम्। एवमन्येष्वपि द्रष्टव्यम्। "आ तु नः स वयति गव्यमश्व्यम् (ऋ० सं० ६, २, ७, १०)"—इति निगमः॥

(२) भर्वति। 'भर्व हिंसायाम्' भूवादिः परस्मैपदी। "पृथ्वग्निरनुयाति भर्वन् (ऋ० सं० ४, ५, ८, २)"—"तेन सुभर्वं शतवत सहस्रम् (ऋ० सं० ८, ५, २०, ५)"—इति निगमौ॥

(३) बभस्ति। 'भस भर्त्सनदीप्त्योः' जुहोत्यादिः परस्मैपदी। "हरी इदान्धांसि वप्सता (ऋ० सं० १, २, २६, २)"—इति निगमः॥

(४) वेवेष्टि। 'विष्लृ व्याप्तौ (जु० उ०)'। 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२, ४, ७५)'। "स्वसेदयोयथातिथि ज्योतिष्कृत्या परिवेवेष्टि"—"यदा त्वा अतिथयः परिवेविष्टि"—"मरुतः

परिवेष्टारः"—इति च निगमाः । प्रयोजकव्यापारे प्रयुक्तत्वात् निरूपणीयम् ॥

(५) वेति । वी गत्यादौ अदादिः परस्मैपदी । "वीतं पात पयस उस्रियायाः (ऋ० सं० २, २, २३, ४)"—इति निगमः ॥

(६) भविष्यन् । भवतेर्वर्त्तमाने व्यत्ययेन लृट्, लृटः सद्वा । "तृष्यविष्यन्नतसेषु तिष्ठति (ऋ० सं० १, ४, २३, २)"—इति निगमः । अत्र च 'भविष्यन्नत्तिकर्मा भक्षयन्नित्यर्थः'—इति स्कन्दस्वामी । तस्मादविष्टादिति पाठो न युक्तः ॥

(७) बप्सति । भसेः प्रथमपुरुषे बहुवचने 'घसिभसोर्हलि च (६, ४, १००)'—इत्युपधालोपे रूपम् । "दद्भिर्वनानि बप्सति (ऋ० सं० ६, ३, २६, ३)"—इति निगमः ॥

(८) भसथः । भसेर्लटि थसि 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७६)' —इति शपः श्लुर्न भवति । "न देवा भसथश्चन (ऋ० सं० ४, ८, २५, ४)"—इति निगमः ॥

(९) बब्धाम् । भसेर्लेटि तसस्तामि श्लौ द्विर्वचनान्तत्वा-नित्यत्वात् उपधालोपः प्राप्नोति छान्दसत्वान्न, 'घसिभसोर्हलि च (६, ४, १००)'—इत्युपधालोपः । 'धि च (८, २, २५)'—इत्यादिसूत्रेषु सिचो लोप इति पक्षे सकारलोपश्छान्दसः सकार-मात्रलोप इति पक्षे 'झलोझलि (८, २, २६)'—इति सलोपः, भस्त्यजश्त्वे । बब्धामिति पृथक्पाठे प्रयोजनं मृग्यम् । "बब्धां ते हरीधाना"—इति निगमः ॥

(१०) ह्वरति । ह्वृ कौटिल्ये भ्वादि. परस्मैपदी । "अपामतिष्ठद्धरुणह्वरन्तम. (ऋ० सं० १, ४, १८, ५)" — "उप ह्वरे यदुपरा अपिन्वन् (ऋ० सं० १, ५, २, १)"—इति निगमौ ॥

इति दशाक्तिकर्माण. ॥ ८ ॥

ओजः (१) । वाजः (वा) पाजः (२) । शवः (३) । तरः (४)। तवः (५) । त्वक्षः (६) । शर्धः (७) । बाधः (८) । नृम्णम्(९) । तविषी (१०) । शुष्मम् (११) । शुष्णम् (१२) । शूषम् (१३) । दक्षः (१४) । वीळु (१५) । च्यौत्नम् (१६) । सहः (१७) । यहः (१८) । वधः (१९) । वर्गः (२०) । वृजनम् (२१) । वृक् (२२) । मज्मना (२३) । पौंस्यानि (२४) । धर्णसिः (२५) । द्रविणम् (२६) । स्यन्द्रासः (२७) । शम्बरम् (२८) । इत्यष्टाविंशतिर्बलनामानि ॥९॥

(१) ओज । व्याख्यातमुदकनामसु (१ अ० २२ ख० ४३) । उब्जन्त्यनेन, बलवत्सन्निधौ हि न्युब्जयो भवन्ति भीत्या, न्यग्भाव-

यत्यनेन वा शत्रून्। वर्द्धतेऽनेन ऐश्वर्य्यादि, वर्द्धते व्यायामादिना। इमावर्थान्तरावपि वृद्ध्यर्थेषु बोद्धव्यौ। 'उर्वधिकम्'—इति माधवः। हिंस्यन्तेऽनेन शत्रवो वा। 'उपेर्जुट् च'—इति श्रीभोजदेव.। असुनि गुणः। ओषति दहति शत्रून्। "ओजसो जातमुतमन्य एनम् (ऋ० सं० ८, ३, ४, ३)"—'वसनि जाते जनमान ओजसा (ऋ० सं० ६, ७, ३, ३)"—इति निगमौ ॥

(२) वाज.। व्याख्यातमन्ननामसु (२ अ० ७ ख० २)। गच्छन्त्यनेन शत्रून् प्रति जिगीषवः। गम्यतेऽधिगम्यते व्यायामादिना यत्नेन। इमावर्थावुत्तरत्रापि गत्यर्थेषु बोद्धव्यौ। 'वाजो बलं, वाजयते प्रेरणार्थात्'—इति माधवः। अनेन शत्रून् प्रेरयति विद्रावयतीति। "परिवाजेषु भूषथ (ऋ० सं० ३, १, १२, ४)" —इति निगम ॥

पाज.। 'पा रक्षणे (अदा० प०)'। 'पातेर्जुट् च'—इत्यसुन्। बलेन हिंस्यते सर्वम्। "कृणुष्व पाज प्रसितिं न पृथ्वीम् (ऋ० सं० ३, ४, २३, १)"—इति निगमः। "समिद्धस्य रुशददर्शि पाजः (ऋ० सं० ३, ८, १२, २,)"—इत्यत्र स्कन्दस्वामिना 'पाजो बलम्'—इत्येतावदेवोक्तं न तु बलनामेति वाजशब्दे तु 'परिवाजेषु भूषथ. (ऋ० सं० ३, १, १२, ३)'—इत्यत्र बलनामैतदित्युक्तम्, 'अत्यं न मिहे वि नयन्ति वाजिनम्, (ऋ० सं० १, ५, ७, १)'—इत्यत्र 'अत्यं न वाजं हवनस्यदं रथम् (ऋ० सं० १, ४, ११, १)'—इत्यादौ च ऋक्भाष्ये वाजशब्दोपरि 'अपि बलनाम'—इत्युच्यते। अतो वाजपाज-

शब्दयोरुभयोरपि बलनामत्वं स्पष्टम्, तत्रैकतमस्य पाठो विद्वद्भिरध्येयताम् ॥

(३) शवः। व्याख्यातमुदकनामसु (१ अ० १२ ख० ४१)। "मा भेम शवसस्पते (ऋ० सं० १, १, २१, २)"—इति निगमः॥

(४) तरः। 'तॄ प्लवनतरणयोः (भू० प०)'। असुन्। तरत्यनेन आपदम्। 'यावत्तरो मघवन् यावदोजः (ऋ० सं० १, ३, ३, २)"—इति निगमः॥

(५) तवः। तवतिर्वधार्थः, असुन्। "अपादमिन्द्र तवसा जघन्थ (ऋ० सं० ३, २, २, ३)"—"योगे योगे तवस्तरम् (ऋ० सं० १, २, २६, २)"—इति च निगमौ॥

(६) त्वक्षः। 'तक्षू तनूकरणे (भू० प०)'। असुन्। तनूक्रियन्ते तेन शत्रवः। "स प्र रिको त्वक्षसा क्ष्मो दिवश्च (ऋ० सं० १, ७, १०, ५)"—इति निगमः॥

(७) शर्धः। 'शर्धतिरुत्साहार्थः'—इति स्कन्दस्वामी, असुन्। शत्रुजयादावनेन उत्साहितत्वात्। "अग्नाजिशर्धो मरुतोयदर्णसम् (ऋ० सं० ४, ३, १५, ६)"—इति निगमः॥

(८) बाधः। 'बाधृ विलोड़ने (भू० आ०)' 'अकर्त्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम् (३, ३, १९)'—इति घञ्। बाध्यतेऽनेन शत्रवः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(९) नृम्णम्। 'नृम्णं नॄन् नतम् (निरु० ११, ९)'—इति भाष्यम्। 'नॄन् शत्रुभूतान् प्रति नमति, ण्यर्थो वा नमिः, नमयति प्रह्वीकरोति'—इति स्कन्दस्वामी। 'इन्द्रनृम्णं हि ते शवः

(ऋ० सं० १, ५, २१, ३)'—इत्यत्र ऋक्भाष्यम्—'यस्माच्चतु-र्भूतानां मनुष्याणामपि नमनकरणं तत्र बलम्'—इति। स एव तत्र पृषोदरादित्वेन नृनमनशब्दस्य वर्णलोपादौ नृम्णमिति द्रष्टव्यम्। "अवी नृम्णं च रोदसी सपर्य्यतः (ऋ० सं० ८, १, २, १)"—"महिश्रवस्तुविनृम्णम् (ऋ० सं० १, ३, २७, १)"—इति च निगमौ ॥

(१०) तविषी। तविः सौत्रो धातुर्वृद्ध्यर्थः। तवेष्टिषन्-प्रत्ययः। टित्वात् ङीप्। "कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः (ऋ० सं० १, ३, ६, ४)"—"युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी (ऋ० सं० १, ३, १८, २)"—इति निगमौ ॥

(११) शुष्मम्। 'शुष शोषणे (दि० प०)'। 'अविसिविसिशुषिभ्यः कित् (उ० १, १४१)'—इति मन्प्रत्ययः। शुष्यत्यनेनारिः। 'शुषिः प्रीणनार्थः'—इति माधवः। प्रियं हि बलम्। 'शुष्ममिति बलनाम, शोषयतीति सतः (निरु० २, २४)'—इति भाष्यम्। 'परस्परसांयोगिकमपि बलं विशेषयति उपमेयतीत्यर्थः'—इति स्कन्दस्वामी। तत्र शोषयतेर्मनिन् 'बहुलमन्यत्रापि सम्ज्ञाच्छन्दसोः'—इति लुक्। "शुष्मा इन्द्रमवाता अह्रुतप्सवः (ऋ० सं० १, ४, १२, ४)"—"यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेताम् (ऋ० सं० २, ६, ७, १)"—इति निगमौ ॥

(१२) शुष्णम्।

(१३) शूषम्। 'शुष शोषणे (दि० प०)'। 'पूषमुषकलुष कारुषशैलूषादयः'—इत्यादिग्रहणात् 'उषः प्रत्यूषादयोऽपि भवन्ति'

—इति दण्डनाथवृत्तिः। ऊपप्रत्ययपिलोपश्च निपात्यते शुष्मवदर्थः। —"इन्द्राय शूषं मर्चति (ऋ० सं० १, १, १८, ५)" —इनतमः सत्वभिर्यो ह शूषैः (ऋ० सं० ३, ३, १३, २)"—इति निगमौ॥

(१४) दक्षः। 'दक्ष शैघ्र्ये च (भू० आ०)' चकाराद्वृद्धौ। 'दक्ष गतिहिंसनयोः (चु० प० प०)'। 'दक्षतिरुत्साहार्थः'—इति स्कन्दस्वामी। असुन्। शत्रुविजये क्षिप्रो भवत्यनेन, हिंस्यन्ते वाऽनेन शत्रवः, प्रोत्साहितो वा भवति शत्रुविजये। 'मित्रं हु वे पूतदक्षम् (ऋ० सं० १, १, ४, २)'—इति भाष्ये स्कन्दस्वामी— 'दक्ष इति सकारान्तं बलनाम'। अकारान्तमपि तस्यैवमर्थान्तरे द्रष्टव्यम्। "जज्ञाना पूतदक्षसा (ऋ० सं० १, २, ८, ४)"— इति निगमः॥

(१५) वीळु। वीलयति संस्तम्भकर्मा। 'भृमृशीतृचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः (उ० १, ७)'—इति उप्रत्ययो बाहुलकादस्मादपि भवति। संस्तब्धो दृढो भवति अनेन, संस्तभ्यन्तेऽनेन शत्रव इति वा। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१६) च्यौत्नम्। 'च्युङ् गतौ (भू० आ०)'। अन्तर्णीतण्यर्थो वा। च्यवन्ति च्यावयन्ति शत्रूननेन राज्यात्। "प्रच्यौत्नेन मघवा सत्यराधाः (ऋ० सं० ८, १, ८, ६)"—इति निगमः॥

(१७) सहः। 'षह मर्षणे (भू० आ०)' छन्दस्यभिभवार्थः। असुन्। सहत्यनेन शत्रून्। "ये सहांसि सहसा सहन्ते (ऋ० सं० ५, १, ८, ४)"—इति निगमः॥

(१८) यहः। व्याख्यातमुदकनामसु (१ अ० १६ ख० ४३)। प्राप्यते आह्वयते वा अनेन शत्रुः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१९) वधः। 'हन हिंसागत्योः (भू० प०)'। 'हनश्च वधः (३, ३, ७६)'—इत्यप्। हन्यतेऽनेन शत्रुः। निगमोऽन्वेषणीयः।

(२०) घर्मः (२१) वृजनं। (२२) वृक्। 'वृजी वर्जने (रु० प०)'। घर्म्। 'कृपृवृजिमन्द्रिनिधाञ्भ्यः क्युः (उ० २, ७६)' 'क्विप् च (३, २, ७६)'। वर्ज्यन्तेऽनेन प्राणी। "जरयन्ती वृजनं पद्वदीयते (ऋ० सं० १, ४, ३, ५)"—"प्रतीचीनं वृजनं दोहसे गिरा (ऋ० सं० ४, २, २३, १)"—इति च निगमौ॥ माधवस्तु—'मध्योदात्तस्तु वृजनं वर्त्तते बलयुद्धयोः। "वृजने न वृजिनानत्तसिपिपेष (ऋ० सं० ३, ०, १६, १)"—"त्वं शुष्णं वृजने पृक्ष आणौ (ऋ० सं० १, ५, ४, ३)"—"जरयन्ती वृजनं (ऋ० सं० १, ४, ३, ५)" तु वर्त्तते उपद्रवे'—इति। तदान्वेषणीयौ निगमौ॥

(२३) मज्मना। टु मस्जी शुद्धौ (तु० प०)'। औणादिको मनिन् (उ० ४, १४०)। 'झलां जश् झशि (८, ४, ५३)' जुत्वम्, तृतीयैकवचनम्। मज्जयति शत्रून्। "नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना (ऋ० सं० २, २, १२, ४)"—"स इन्महानि समिथानि मज्मना (ऋ० सं० १, ४, १६, ५)"—"वि रोदसी मज्मना बाधते शवः (ऋ० सं० १, ४, १०, ५)"—इति निगमः। निगमेषु तृतीयैकवचनान्तस्य प्रायशो दर्शनात् तदन्तः पठितः॥

(२४) पौंस्यानि। 'पुंसि अभिवर्द्धने (प०) चुरादिः। अघ्न्यादयश्च (उ० ४, १०८)'—इति यत्प्रत्ययान्तेषु निपातितेषु द्रष्टव्यः।

"पौंस्यानि नियुतः सश्चुरिन्द्रम् (ऋ० सं० ४, ७, ८, ३)"—"यस्मिन् विश्वानि पौंस्या (ऋ० सं० १, १, १०, ४)"—"महत्तदस्य पौंस्यम् (ऋ० सं० १, ५, ३०, ५)"—इति निगमाः॥

(२५) धर्णसि। 'धृञ् धारणे (भ्वा० उ०)'। "सानसिवर्णसिप र्णसि (उ० ४, १०४)"—इत्यसिप्रत्ययो नुमागमोऽपि निपात्यते गुणः। ध्रियतेऽनेन राज्यादि। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२६) द्रविणम्। 'द्रु गतौ (भ्वा० प०)'। 'द्रुदक्षिभ्यामिनन् (उ० २, ५२)'। "सनो ददातु द्रविणम्"—इति निगमः॥

(२७) स्यन्द्रास। 'स्यदि किञ्चिच्चलने (भ्वा० आ०)। 'अभ्रन्स्रसिलिभ्रग्रेध्रपुंड्रतीव्रशीघ्रगोरेन्द्राभद्रस्यन्द्रकुलीरादयः' इति रन्प्रत्ययान्तो निपात्यते। तस्मात् जसेरसुक् (७, १, ५०)। स्यन्दतेऽनेन शत्रून्। निगमोऽन्वेषणीय॥

(२८) शम्बरम्। व्याख्यातमुदकनामसु (१ अ० १२ख० ७१)। संव्रियतेऽनेन शत्रुः, संवृणोति वा तत्सुधत आपदम्। शमनमुपद्रवाणामुत्कृष्टं च युद्धादौ, शम्बेनेन्द्रेणादीयते वा। बलाधिदेवताहीन्द्रः। 'या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत् (निरु० ७, १०)'—इति भाष्यम्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

इत्यष्टाविंशतिर्बलनामानि ॥९॥

मघम् (१)। रेक्णः (२)। रिक्थम् (३)। वेदः (४)। वरिवः (५)। श्वात्रम् (६)। रत्नम् (७)। रयिः (८)। क्षत्रम् (९)। भगः (१०)।

मीळ्हुम् (११)। गयः (१२)। द्युम्नम् (१३)।
इन्द्रियम् (१४)। वसु (१५)। रायः (१६)।
राधः (१७)। भोजनम् (१८)। तना (१९)।
नृम्णम् (२०)। बन्धुः (२१)। मेधा (२२)।
यशः (२३)। ब्रह्म। (२४)। द्रविणम् (२५)।
श्रवः (२६)। वृत्रम् (२७)। वृतम् (२८)।
इत्यष्टाविंशतिरेव धननामानि ॥१०॥

(१) मघम्। मंहतिर्दानकर्मा (धा० ३, २०, १०)। 'घञर्थे कविधानम् (३, ३, ५८ वा०)'—इत्यत्र परिगणितस्य प्रायिकत्वात् कप्रत्यये पृषोदरादित्वात् लोपो हकारस्य घकारश्च। दीयतेऽर्थिभ्यः। "तेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मघम् (ऋ० सं० ७, २, ३३, ५)" —"यदिन्द्र दक्षिणा मघोनी (ऋ० सं० २, ६, ६, ६)"—इति निगमौ ॥

(२) रेवणः। 'रिचिर् विरेचने (रु० उ०)'। 'रिचेर्धने घिच्च (उ० ४, १९४)'—इत्यसुन्, नुडागमो गुणश्च, घित्त्वात् 'चजोः कुघिण्यतोः (७, ३, ५२)'—इति कुत्वम्। रेक्ण इति धननाम, रिच्यते प्रयतः (निरु० ३, २)'—इति भाष्यम्। रिच्यते अवतिष्ठते प्रयतः म्रियमाणस्य धनं धनिना सह न म्रियत इत्यर्थः। 'रेक्णो धनं रिचेः प्रेरणार्थात्'—इति माधवः। प्रेर्यतेऽनेन दत्तेन

भृत्यादिः कर्मसु। "स्पार्हं यद्रेक्णः परमं वनोषि तत् (ऋ० सं० १, २, ३४, ४)"—"परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णः (ऋ० सं० ५, २, ६, २)"—इति च निगमौ॥

(३) रिक्थम्। रिचेः (रु० उ०) 'पातृतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक् (उ० २, ६)'—इति थक्। पूर्ववदर्थः। "न जामये तान्वो रिक्थमारैक् (ऋ० सं० ३, २, ५, २)"—इति निगमः॥

(४) वेदः। 'विद्लृ लाभे (अदा० प०)'। असुन्। विदन्त्येतत्, लभ्यते ह्यऽनेन धर्मादिः। "होतारं विश्ववेदसम् (ऋ० सं० १, १, २२, १)"—इति निगमः॥

(५) वरिवः। वृञ् वरणे (स्वा० उ०) अस्माद् यङ्लुगन्तात् असुनि बाहुलकादिलोपः। भृशं व्रियते, वरिवसो हेतुत्वाद्वा वरिवः 'वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी। एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् (२, १३, ६)'—इति मनुः। "युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ (ऋ० सं० १, ४, २७, ५)"—"अंहो राजन् वरिवः पूरवे कः (ऋ० सं० १, ५, ७, २)"—इति निगमौ॥

(६) श्वात्रम्। आशुशब्द उपपदे 'अत सातत्यगमने (भू० प०)'—इत्यस्मात् आदित्यश्छिदसि'—इति छन्प्रत्ययः, पृषोदरादित्वेन आशुशब्दश्च व्युत्पत्स्यते, यणादेशसवर्णदीर्घौ। आशु अतति आशु गच्छति, चञ्चलं हि धनम्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(७) रत्नम्। 'रमु क्रीडायाम् (भू० आ०)' 'रमेस्त च (उ० ३, १२)'—इति नप्रत्ययः तकारश्चान्तादेशः रमणीयं हि

नात्। 'रमतेऽस्मिन्'—इति क्षीरस्वामी। 'वित्ते, रमस्व बहु मन्यमानः'—इति श्रुतिः। "धा रत्नं महि स्थूरं बृहन्तम् (ऋ० सं० ४, ६, ८, ५)"—होतारं रत्नधातमम् (ऋ० सं० १, १, १, १)"—इति निगमौ॥

(८) रयिः। व्याख्यातमुदकनामसु(१अ०१२ख० ७३)। गम्यते प्राप्यते पुण्येन गच्छत्यनेन तृप्तिं भोगसाधनत्वात्, यशो वाऽऽदत्ते, दीयतेऽर्थिभ्य इति वा। "अग्निना रयिमश्नवत् (ऋ० सं० २, १, १, ३)"—इति निगमः॥

(६) क्षत्रम्। व्याख्यातमुदकनामसु (१अ० १२ख० ४५)। पूर्वजन्मसुकृतवशेन तद्भाति स्थिरं भवति, गृह्यते उपभोगसाधनत्वात्, छिनत्ति दारिद्र्यम्। गतावपि शब्दवदर्थः। क्षतात् पापात् त्रायते। क्षत्रशब्दात् त्रायतेश्च पृषोदरादित्वात् क्षत्रम्। धनैरेव पापं नरा निस्तरन्तीत्युच्यते। "न हि ते क्षत्रं न सहो न मन्युम् (ऋ० सं० १, २, १, १)"—"सुक्षत्रासो रिशादसः (ऋ० सं० १, १, ३६, ५)"—इति च निगमौ॥

(१०) भगः। 'भज सेवायाम् (भू० उ०)'। 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण (३, ३, ११८)' 'चजोः कुघिण्यतोः (७, ३, ५२)'। भज्यते सेव्यते भोगार्थिभिः। यद्वा सेव्यतेऽनेन हेतुना तद्वान्। भगशब्दः पुंलिङ्गो धनवचनः। "शिक्षास्तोतृभ्यो माति धग्भगो नः (ऋ० सं० २, ६, ६, ६)"—"यद्वित—सोभग."—इति निगमौ॥

(११) मीळ्हुम्। 'मिह सेचने (भू० प०)'। 'हत्वचतुर्थ्योस्त्वद्ढलोपदीर्घाः,' व्यहकारमाघश्च। सिच्यतेऽर्थिभ्यो दातृभिः।

'सहस्रमीव्हुष्मशिवानमा इत्यत्र भट्टभास्करमिश्रभाष्येऽपि मीव्हु इति धननाम'—इति दृश्यते। ततो निष्कृत्य उकारान्तनिगमदर्शनाभावात् अकारान्तनिगमदर्शनात् उकारान्ताकारान्तद्वयोरपि स्वीकारोऽस्माकम्। "रुद्रस्य ये मीव्हुषः सन्ति पुत्राः (ऋ० सं० ५, १, ७, ३)"—"ताँ आ रुद्रस्य मीन्हुषः (ऋ० सं० ५, ४, २८, ५)"—इत्यादौ निर्वाहरूपत्वात् "मीव्हुम्"—इति पठितव्यमिति केचिदाहुः। अन्ये तु "मीन्हः"—इति सकारान्तमपि। तेषां मीव्हांसमिति निर्वाहः। उभयेषामपि "सहस्र मीव्हे (ऋ० सं० १, ७, ३४, ५)"—इत्यकारान्तस्य पाठोऽपेक्षणीयः। बहुभ्यस्तु निर्णयः॥

(१२) गयः। व्याख्यातमपत्यनामसु (२अ० २ख० ८)। इहापि तदर्थः। गीयते स्तूयते होतृभिः। "अपस्सदाशुपेगयम् (ऋ० सं० १, ५, २१, २)"—इति निगमः॥

(१३) द्युम्नम्। 'द्युम्नसुम्ननिम्न'—इत्यादिना 'द्युत दीप्तौ (भू० आ०)'—इत्यस्मात् नप्रत्ययो मकारश्चान्तादेशो निपात्यते। तेन तद्वान्। दीप्यते द्युम्नम्। 'द्यु अभिगमने (अदा० प०)'—इति क्षीरस्वामी। अत्र धातोर्मगागमो निपात्यते। "द्युम्नं सहस्रसातमम् (ऋ० सं० १, १, १८, ३)"—"द्युम्नावाजेभिरागतम्।"—इति च निगमौ॥

(१४) इन्द्रियम्। 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा (५, २, ९३)'—इति घप्रत्ययान्तमन्तोदात्तं निपात्यते। इन्द्रः—'इदि परमैश्वर्ये (भू० प०)' परमैश्वर्ययुक्तः

उच्यते। इन्द्रस्य लिङ्गम्। धनेन हि ऐश्वर्य्ययुक्त इति व्यज्यते। अत्र षष्ठी, समर्थात्, लिङ्गार्थे घश्। यद्वा, इन्द्रेण दृष्टम् इन्द्रियम्। यद्वा, इन्द्र आत्मा, तत्कृतेन शुभाशुभेन कर्मणा सृष्टम्। इन्द्रजुष्टं वा, आत्मना सेवितम्, तद्द्वारेण भोगोत्पत्तेः। इन्द्रदत्तं वा, इन्द्रेण पूर्वकर्मणा वा अस्त्युपदत्तम्। सृष्टजुष्टदत्तार्थेषु तृतीया समर्थात्। "दक्षिणं पादमवनेनिजेऽस्मिन्नाष्ट्र इन्द्रियं दधामि (ऐ० ब्रा० ८, ५, ४)"—इति निगमः।

(१५) वसुः। रात्रिनामसु "वस्ती"—इत्यत्र (६६ पृ०) व्याख्यातम्। वस्ते आच्छादयति तिरोभावयति दारिद्र्यम्। "अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिः (ऋ० सं० ८, १, ५, १)"—इति निगमः॥

(१६) रायः। 'रा दाने (अदा० प०)'। 'रातेर्डैः (उ० २, ६२)'। जस्। दीयतेऽर्थिभ्यः, तदेव प्राप्यते वा पूर्वकृतेन पुण्येन। "अनामृणः कुविदादस्य रायः (ऋ० सं० १, ३, १, १)"—इति निगमः॥

(१७) राधः। 'राध साध संसिद्धौ (स्वा० प०)'। असुन्। 'राध्नुवन्ति साध्नुवन्ति धर्मादीन् पुरुषार्थान्'—इति स्कन्दस्वामी। राध्यतेऽनेन धर्मादिरिति वा। राधिर्हिंसार्थोऽपि। हिनस्ति दारिद्र्यम्। "राध इन्द्र वरेण्यम् (ऋ० सं० २, १, १७, ५)"—"राधस्तन्नो विदद्वसऽउभयहस्त्याभर (ऋ० सं० ४, २, १०, १)"—इति निगमौ॥

(१८) भोजनम्। 'भुज पालनाभ्यवहारयोः (रु० प०)'। ल्युट् 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति। यद्वा, अभि-

मतार्थे भवति भुज्यते तद्वहिः, भुज्यन्तेऽनेन विषया इति वा, पाल्यतेऽनेन वा। "शत्रूयतामा भरा भोजनानि (ऋ० सं० ३, ८, १८, ५)"—"मा नः प्रिया भोजनानि प्र मोषीः (ऋ० सं० १, ७, १६, ३)"—इति निगमौ ॥

(१९) तना। 'तनु विस्तारे (त० प०)'। पचाद्यच् (३, १, १३४)। तनोति विस्तारयति त्रिवर्गसाधनं हि धनम्। तृतीयैकवचनस्य 'सुपां सुलुक् (७, १, ३९)'—इत्याकारः। "विह्वयन्ते तना गिरा (ऋ० सं० ६, ३, २५, १)"—"आ वो मक्षू तनाय कम् (ऋ० सं० १, ३, १६, २)"—इति निगमौ ॥

(२०) नृम्णम्। व्याख्यातं बलनामसु (२३२ पृ०)। नमति प्रह्वीकरोत्यर्थिम्यस्तद्वस्तु। "हस्ते दधानो नृम्णा विश्वानि (ऋ० सं० १, ५, ११, २)"—इति निगमः ॥

(२१) बन्धुः। 'बन्ध बन्धने (क्र्या० प०)'। "शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च'—इति उप्रत्ययः। बध्नात्यनेन भृत्यादीन्। यद्वा, बन्धुरिव बन्धुः। "अबन्धुना सुश्रवसोपजग्मुषः (ऋ० सं० १, ४, १६, ४)"—इति निगमः ॥

(२२) मेधा। 'मिधृ मेधृ सङ्गमे च (भू० उ०)' चकारात् हिंसामेधयोश्च। 'मिधिः सङ्गत्यर्थः'—इति माधवः। घञ्। सङ्गच्छतेऽनेन सर्वं तद्वता, हिंस्यते वा तद्वान् चौरादिभिः 'घ्नन्ति चैवार्थकारणात्'—इति महाभारतम्। यद्वा, मतौ धीयते अर्जयितव्यं रक्षितव्यं दातव्यमिति धनवता बुद्धौ धनं धार्यते। तत्र मतिशब्द उपपदे धातोः 'घञर्थे कविधानम् (३, ३ ५८ वा०)'

—इति कः, पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) मतिशब्दस्य मेभावः। "मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनम् (ऋ० सं० ८, ४, २१, ३)"—इति निगमः॥

(२३) यशः। व्याख्यातमन्ननामसु (२२७ पृ०)। "उत त्या मे यशसाश्वेतनायै (ऋ० सं० २, १, १, ४)"—इति निगमः॥

(२४) ब्रह्म। व्याख्यातमन्ननामसु (२२८ पृ०)। घर्द्धन्तेऽनेन धर्मादयः, बृंहकं वा भोगानाम्। "अस्माकं ब्रह्म पृतनासु सह्या (ऋ० सं० २, २, २२, ७)"—इति निगमः॥

(२५) द्रविणम्। व्याख्यातं बलनामसु (२३६ पृ०)। रयिवदर्थः। "त आ यजन्त द्रविणं समस्मै"—इति निगमः॥

(२६) श्रवः। व्याख्यातमन्ननामसु (२२१ पृ०)। "अस्मे पृथुश्रवो बृहत् (ऋ० सं० १, १, १८, २)"—"बृहच्छ्रवा असुरो बर्हणाकृतः (ऋ० सं० १, ४, १७, ५)—इति निगमौ॥

(२७) वृत्रम्। व्याख्यातं मेघनामसु (६० पृ०)। आच्छादयति दारिद्र्यम्, आच्छाद्यते वा राजतः करादिभयात्। गत्यर्थे रयिवदर्थः। वृद्धौ ब्रह्मवदर्थः। "वृत्रं पुरुकुत्साय रन्धीः (ऋ० सं० २, ४, १६, २)"—इति निगमः। अत्र स्कन्दस्वामिना 'वृत्रं धननाम'—इति व्याख्यातत्वात् केषुचित् कोशेषु दृश्यमानमपि "वित्तम्"—इति न पठनीयम्॥

(२८) वृतम्। 'वृङ् सम्भक्तौ (क्रया० ५०)'। 'द्रुतनिभ्यां दीर्घश्च वा (उ० ३, ८७)'—इति चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात्

कप्रत्ययः। सम्भज्यते सर्वैः। "वृतञ्जयः सहुरिविश्व्यारितः (ऋ० सं० २, ६, २७, ३)"—इति निगमः॥

इत्यष्टाविंशतिरेव धननामानि ॥ १० ॥

अघ्न्या (१)। उस्रा (२)। उस्रिया (३)। अही (४) मही (५)। अदितिः (६)। इला (७)। जगती (८)। शक्वरी (९)। इति नव गो (मातृ) नामानि ॥११॥

अघ्न्या। 'अहन्तव्या भवतीत्यघघ्नीति वा (निरु० ११, ४३)'—इति भाष्यम्। अघस्य दुर्भिक्षादेर्हन्त्री वा अहन्तव्या। अघ शब्दे नञि वा उपपदे हन्तेः 'अघ्न्यादयश्च (उ० ४, १०८)'—इति यत्प्रत्ययान्तं निपात्यते। "नहि मे अस्त्यघ्न्या (ऋ० सं० ६, ७, १२, ४)"—"अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं (ऋ० सं० २, ३, २१, ५)"—इति निगमौ॥

(२) उस्रा। व्याख्यातं रश्मिनामसु (१५५ पृ०)। वसति क्षीरादि हविरस्याम्। 'उस्रियेति गोनामोत्स्राविणोऽस्यां भोगा उस्रेति च'—इति (निरु० ४, १९) भाष्यम्। 'उत्स्राविणोऽस्यां भोगास्ते उद्धर्वं स्रवति गच्छन्ति क्षीरदधिनवनीतक्रमेण'—इति स्कन्दस्वामी। "मयोभूर्वातो अभिवातूस्राः (ऋ० सं० ८, ८, २७, १)"—"उस्रः पितेव जारयायि यज्ञैः (ऋ० सं० ४, ५, १४, ४)"—इति च निगमौ॥

(३) उस्रिया। उस्रशब्दात् पृषोदरादित्वेन स्वार्थे घः। अर्थः पूर्ववत् "अचिद्र उस्रिया अनु (ऋ० सं० १, ६, ११, ५)" —"समुस्रियाभिर्वावशन्त नरः (ऋ० सं० १, ५, ६, ३)"— इति च निगमौ॥

(४) अही। अहिशब्दो व्याख्यातो मेघनामसु (८७ पृ०)। 'कृदिकारात् :(४, १, ४५ वा०)'—इति ङीप्। गम्यतेऽनया क्षीरादिद्धविः, गम्यते दत्तया पुण्यम्, अंहति शृङ्गादिना मनुष्यान्, न हन्तव्या वा। निगमोऽन्वेषणीयः। "ईक्षेण्यासो अह्यो ३ नचारवः (ऋ० सं० ७, ३, २, ३)"—इति भाष्यं द्रष्टव्यम्॥

(५) मही, (६) अदितिः, (७) इला। व्याख्यातानि पृथिवीनामसु (३४ पृ०, ३२ पृ०, ३३ पृ०)। तत्र द्यतेः क्तिनि, 'द्यतिस्यति (४, ७, ४०)'—इतीत्वे दितिः, नञ्समासः। इत्यदितिशब्दस्य व्युत्पत्तिः। महते पूज्यते सर्वदेवतात्मकत्वात् उपभोगसाधनत्वाद्वा। महान्तोऽनया देवाः पय आदीनां हविषां तदायत्तत्वात्। "देवाश्च याभिर्यजते ददाति च"—इति श्रुतिः। पुनः पुनः दुह्यमानापि न क्षीयते। न द्यति, अखण्डनीया वा। ईड्यते स्तूयते देवतात्वात् दीप्यते वा चारुतया। गम्यते तद्धविभिरिति वा। "महीनां पयोऽसि (य० वा० सं० ४, ३)"— इति, "अदित एहि सरस्वत्येहि (य० वा० सं० ३८, २)"— इति, "मिमिक्ष्वा समिलाभिरा (ऋ० सं० १, ४, ५, ६)"— "इडे रन्ते हव्ये काम्ये (य० वा० सं० ८, ४३)"—इति च निगमाः॥

(८) जगती। मनुष्यनामसु "जगतः"—इत्यत्र व्याख्यातम् (२०० पृ०)। शतृ। 'उगितश्च (४, १, ६)'—इति ङीप्। गम्यते तदर्थिभिः। जगत्या छन्दसा आहार्यत्वाद् अत्राहार्याहरण्ययोरभेदेन वा जगती। "जागता हि पशवो जगती हि तामनाहरत्"—इति हि ब्राह्मणम्। "जागताः पशवः (ऐ० ब्रा० ४, १, ३)"—इति च। "समोषधयोरसेन स रेवतीर्जगतीभिः"—इति निगमः॥

(९) शक्वरी। व्याख्यातं वाहुनामसु (२०७ पृ०)। शक्नोति क्षीरादिप्रदानेन तद्वन्तं प्रीणयितुं स्पर्शनेन वा पापमपनेतुम्। शक्वरीशब्दसम्बन्धादभेदेन वा शक्वरी। "पशवो वै शक्वर्यः पशूनेवावरुध्यते"—इति श्रुतिः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

इति नव गो (मातृ) नामानि॥ ११॥

रेळते (१)। हेळते (२)। भामते (३)। हृणीयते (४)। श्रीणाति (५)। त्रेपति (६)। दोधति (७)। वनुष्यति (८)। कम्पते (९)। भोजते(१०)। इति दश क्रुध्यतिकर्माणः॥१२॥

(१) रेळते। अयं नैरुक्तो धातुः। "अरेळता मनसा देवानां पतेत्"—इति निगमः॥

(२) हेळते। 'हेड़ अनादरे क्रोधे च' भ्वादिरात्मनेपदी। "अहेळमानोररिवाँ अजाश्व (ऋ० सं० २, २, २, ४)"—

"अहेळमानो वरुणेह बोधि (ऋ० सं० १, २, १५, १)"—इति निगमौ ॥

(३) भामते। 'भाम क्रोधे' भ्वादिरात्मनेपदी। "देव जुष्टोच्यते भामिनेगोः (ऋ० सं० १, ५, २५, १)—"स्वयम्भूर्भामो अभिमातिषाहः (ऋ० सं० ८, ३, १८, ४)"—इति निगमौ ॥

(४) हृणीयते। 'हृणीङ् रोषे वैमनस्ये च' कण्ड्वादिः। "पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः (ऋ० सं० ८, ६, ७, २)"—हृणीयमानो अप हि मद्वैयेः (ऋ० सं० ३, ८, १५, २)"—इति निगमौ ॥

(५) स्रीणाति। 'श्री भये' क्र्यादिः परस्मैपदी। अनेकार्थत्वात् क्रुध्यतिकर्मा। एवमुत्तरत्रापि। "एनः कृण्वन्तमसुरं भ्रीणन्ति (ऋ० सं० २, ७, १०, २)"—इति निगमः ॥

(६) भ्रेषति। 'भ्रेषृ चलने' भ्वादिः स्वरितेत्। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(७) दोधति। नैरुक्तो धातुः। "इन्द्रो वृत्रस्य दोधतः (ऋ० सं० १, ५, २१, ५)"—इति निगमः ॥

(८) वनुष्यति। 'वनुष्यतिर्हन्तिकर्मा (निरु० ५, २)'—इत्यत्र स्कन्दस्वामी—'वनोतेः कण्ड्वादिप्रक्षेपात् यक्प्रत्ययः, तत्सन्नियोगेन च वनुभावो द्रष्टव्यः'—इति। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(९) कम्पते। 'कपि चलने' भ्वादिरात्मनेपदी। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१०) भोजते । 'भुज कौटिल्ये' तुदादिः परस्मैपदी। 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—इत्यार्द्धधातुकत्वात् गुणः। व्यत्ययेनात्मनेपदम्। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

इति दश क्रुध्यतिकर्माणः ॥ १२ ॥

हेलः (१)। हरः (२)। घृणिः (३)। त्यजः (४)। भामः (५)। राहः (६)। ह्वरः (७)। तपुषी (८)। जूर्णिः (९)। मन्युः (१०)। व्यथिः (११)। इत्येकादश क्रोधनामानि ॥१३॥

(१) हेलः। हेलतेः भावे असुन्। "देवस्य हेलोऽवयासि सीष्ठाः (ऋ० सं० ३, ४, १२, ४)"—इति निगमः ॥

(२) हरः। 'हृञ् हरणे (भ्वा० उ०)' असुन्। हरति कृत्याकृत्यविवेकं, ह्रियते वाऽनेन पुरुषः स्ववशम्, दुर्जयोऽन्तरः शत्रुः क्रोधः। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(३) घृणिः। ज्वलन्नामसु व्याख्यातम् (१७६ पृ०)। क्षरत्यनेन स्वेदादिः, दीप्यतेऽनेन वा, क्रुद्धोऽग्निरिव ज्वलति हि प्रसिद्धः। "आघृणे संसचावहै (ऋ० सं० ४, ८, २१, १)—इति निगमः। 'मा हृणानस्य (ऋ० सं० १, २, १६, २)—इत्यत्र भाष्ये'—हृणिरिति क्रोधनामसु पाठात् हरति क्रोधार्थोऽपि गम्यते'—इति स्कन्दस्वामी, तद् कथमिति विचिन्त्यम् ॥

(४) त्यजः। 'त्यज हानौ (भू० प०)'। असुन्। त्यज्यते सत्पुरुषैः, त्यज्यन्तेऽनेन प्राणा इति वा, त्यज्यते वा स्वधर्मः। "क्रुद्धः पापं किन्न कुर्य्यात् क्रुद्धो हन्यात् गुरूनपि। क्रुद्धः परुषया वाचा नरः साधूनपि क्षिपेत्"—इति हि महाभारतम्। "महश्चिदसि त्यजसो वरुता (ऋ० सं० २, ४, ८, १)"—"किं देवेषु त्यज एनश्चकर्थ (ऋ० सं० ८, ३, १४, ६)"—इति निगमौ।

(५) भामः। भामतेर्भावे घञ्। यद्वा 'भा दीप्तौ (अदा० प०)'। 'अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन् (उ० १, १३७)'—इति मन्। दीप्यते तेन तद्वान्। "देवजुष्टोच्यते भामिने गीः (ऋ० सं० १, ५, २५, १)"—"स्वयम्भूर्भामो अभिमातिषाहः (ऋ० सं० ८, ३, १८, ४)"—इति निगमौ॥

(६) एहः। 'हन हिंसागत्योः (अदा० प०)' असुन्। 'नञि हन एह च (उ०४, २१८)'—इति नञ्युपपदे विधीयमान एहादेशो बाहुलकात् नञ्विनापि भवति। "अनेहसस्ते हरिवो अभिष्टौ (ऋ० सं० ८, १, ३०, २)"—इति निगमः॥

(७) ह्वरः। 'ह्वृ कौटिल्ये (भू० प०)' अत्तिकर्मा च। असुन्। ह्वरति कुटिलो भवत्यनेन अत्ति वा।

(८) तपुषी।

(९) जूर्णिः। जूर्णिर्जवतेर्वा द्रवतेर्वा जीर्यतेर्वा'—इति भाष्यम् (निरु० ६, ४,)। गच्छत्यनेन दुःखं, लोकगर्हां वा हिनस्ति परान् वा। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१०) मन्युः। 'मन ज्ञाने (तना० आ०)'। 'यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् (उ० ३, १८)'—इति युच्। बाहुलकादनादेशाभावः। ज्ञायते त्याज्यत्वेन। यद्वा, मन्यतेर्दीप्तिकर्मणो युच्। "दीप्यतेऽनेन तद्वान्। न हि ते क्षत्रं न सहो न मन्युम्। (ऋ० सं० १, २, १४, १)"—"आ हणानस्य मन्यवः (ऋ० सं० १, २, १६, २)" —इति निगमौ॥

(११) व्यथिः। 'व्यथ भयचलनयोः (भू० आ०)'। 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'—इति इन्। बिभेत्यस्मात् सज्जनः, चलति यानेन स्वधर्मात्। "पतत्रिभिरश्रमैरव्यथिभिः (ऋ० सं० ५, ५, १६, ७)"—"अग्ने माकिष्टे व्यथिरा दधर्षीत् (ऋ० सं० ३, ४, २३, ३)"—इति च निगमौ॥

इत्येकादश क्रोधनामानि॥ १३॥

वर्तते (१)। अयते (२)। लोटते (३)। लोठते (४)। स्यन्दते (५)। कसति (६)। सर्पति (७)। स्यमति (८)। स्रवति (९)। स्रंसति(१०)। अवति (११)। श्चोतति (१२)। ध्वंसति (१३)। वेनति (१४)। मार्ष्टि (१५)। भुरण्यति (१६)। शवति(१७)। कालयति(१८)।

पेलयति (१६)। कण्टति (२०)। पिस्यति (२१)। विस्यति (२२)। मिस्यति (२३)। प्रवते (२४)। प्लवते (२५)। च्यवते (२६)। कवते (२७)। गवते (२८)। नवते (२६)। क्षोदति (३०)। नक्षति (३१)। सक्षति (३२)। म्यक्षति (३३)। सचति (३४)। ऋच्छति (३५)। तुरीयति (३६)। चतति (३७)। अतति (३८)। गाति (३६)। इयक्षति (४०)। सश्चति (४१)। त्सरति (४२)। रंहति (४३)। यतते (४४)। भ्रमति (४५)। ध्रजति (४६)। रजति (४७)। लजति (४८)। क्षियति (४६)। धमति (५०)। मिनाति (५१)। ऋण्वति (५२)। ऋणोति (५३)। स्वरति (५४)। सिसर्ति (५५)। विपिष्टि (५६)। योपिष्टि (५७)। रिणाति (५८)। रीयते (५६)। रेजति (६०)। दघ्यति (६१)। दभ्नोति (६२)। युध्यति (६३)। धन्वति (६४)। अरुपति (६५)। आर्य्योति (६६)।

सीयते (६७) । तकति (६८) । दीयति (६९) । ईपति (७०) । फणति (७१) । हनति (७२) । अर्दति (७३) । मर्दति (७४) । सर्त्तते (७५) । नसते (७६) । हर्य्यति (७७) । इयर्त्ति (७८) । इर्ते (७९) । ईङ्खते (८०) । ऋयति (८१) । श्वात्रति(८२) । गन्ति(८३) । आगनीगन्ति (८४) । जङ्गन्ति (८) । जिन्वति (८६) । जसति(८७) । गमति (८८) । भ्रति (८९) । ध्राति (९०) । भ्रयति (९१) । वहते (९२) । रथर्यति (९३) । जेहते (९४) । ष्वःकति (९५) । क्षम्पति (९६) । प्साति (९७) । वाति (९८) । याति (९९) । इयति (१००) । द्राति (१०१) । द्रूलति (१०२) । एजति (१०३) । जमति (१०४) । जवति (१०५) । वश्चति (१०६) । अनिति (१०७) । पवते (१०८) । हन्ति (१०९) । सेधति (११०) । अगन् (१११) । अजगन् (११२) । जिगाति

(११३)। पतति (११४)। इन्वति (११५)। द्रमति (११६)। द्रवति (११७)। वेति (११८)। हन्तात् (११९)। एति (१२०)। जगायात् (१२१)। अयथुः (१२२) इति द्वाविंशशतं गतिकर्माणः ॥

अत्र वर्त्तते इत्यादीनां गत्यर्थानां गतिकर्मकत्वं स्कन्दस्वामिना प्रतिपादितम्। अनेकार्थत्वाद्वा गतिकर्मत्वम्। एष्वप्रदर्शितनिगमानां निगमा अन्वेषणीयाः। अनुक्तविकरणानां भूवादित्वं ज्ञेयम्, अनुक्तौ परस्मैपदित्वञ्च ॥

(१) वर्त्तते। 'वृतु वर्त्तने (भू०)' आत्मनेपदी ॥

(२) अयते। (३) लोटते। (४) लोठते ॥

(५) स्यन्दते। 'स्यन्दु प्रस्रवणे (भू०)'। आत्मनेपदी। "स्यन्दन्तां कुल्या विषिताः पुरस्तात् (ऋ० सं० ४, ८, २८, ३)" —इति निगमः ॥

(६) कसति। 'कस गतौ (अदा० प०)'।

(७) सर्पति। 'सृप्लृ गतौ (भू० प०)'। "नमो अस्तु सर्पेभ्यः" —"अहिर्न जूर्णामति सर्पति त्वचम् (ऋ० सं० ७, ३, २०, ४)" —इति निगमौ ॥

(८) स्यमति।

(९) स्रवति। 'स्रु गतौ (भू० प०)'। "अव स्रवेदघशंसो ऽवतरम् (ऋ० सं० २, १, १७, १)" —इति निगमः ॥

(१०) स्रंसते। 'स्रंसु अवस्रंसने (भू०)' आत्मनेपदी। "जातेन जातमति स प्र सर्स्रते (ऋ० सं० २, ७, ४, १)"—इति निगमः। 'स्रंसतिरन्तर्णीतण्यर्थः'—इति हरदत्तः॥

(११) अवति। 'अव रक्षणगत्यादौ (भू० प०)' "प्रावन् वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः (ऋ० सं० ३, २, २, ५)"—"तं घेदग्निर्वृधावति (ऋ० सं० ६, ५, २६, ४)"—इति निगमौ॥

(१२) श्चोतति। 'श्चुतिर् क्षरणे (भू० प०)'। "श्चोतन्ति ते वसो स्तोकाः (ऋ० सं० ३, १, २१, ५)"—इति निगमः॥

(१३) ध्वंसति।

(१४) वेनति। नैरुक्तधातुः। "आ प्र द्रव हरिवो मा वि वेनः (ऋ० सं० ४, १, २१, २)"—"नासत्या मा वि वेनतम् (ऋ० सं० ४, ४, १६, २)"—इति निगमौ॥

(१५) मार्ष्टि। 'मृज शुद्धौ' अदादिः। "मृगो न भीमः (ऋ० सं० २, २, २४, २)"—"उ रावन्तरिक्षे मर्जयन्त (ऋ० सं० ५, ४, ६, ३)"—इति निगमौ॥

(१६) भुरण्यति। 'भुरण धारणपोषणयोः' कण्ड्वादिः। "भुरण्यन्तं जनाँ अनु (ऋ० सं० १, ४, ८, १)"—"शुचिर्वां स्तोमो भुरणावजीगः (ऋ० सं० ७, ७, २२, १)"—इति च निगमौ॥

(१७) शवति। 'शव गतौ'। 'शु गतौ—इति स्कन्दस्वामी, "मा भेम शवसस्पते (ऋ० सं० १, १, २१, २)"—इति निगमः॥

(२७) कवते। 'कुङ् गतिशोषणयोः (भू० आ०)'। "नीचीनवारं वरुणः कवन्धम् (ऋ० सं० ४, ४, ३०, ३.)"—इति निगमः। 'कवतेर्गतिकर्मणः कवन्धमुदकम्'—इति स्कन्दस्वामी॥

(२८) गवते।

(२९) नवते। 'णु स्तुतौ' अदादिः (प०)। 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७५)'—इति शपो लुगभावः, आत्मनेपदन्तु व्यत्ययेन। 'प्रयेनव उदप्रुतो नवन्त (ऋ० सं० ५, ४, १, १)"—इति निगमः॥

(३०) क्षोदति। क्षुदिर् सम्प्रेषणे' रुधादिः, स्वरितेत्। व्यत्ययेन शप्। "क्षोदन्त आपो रिणते वनानि (ऋ० सं० ४, ३, २३, ६)"—इति निगमः॥

(३१) नक्षति। 'नक्ष गतौ (भू० प०)'। "शफच्युतोरेणुर्नक्षत द्याम् (ऋ० सं० १, ३, ३, ४)"—इति निगमः॥

(३२) सश्चति। 'षच समवाये' स्वरितेत् (भू०)। 'सिप् बहुलं लेटि (३, १, ३४)' 'लेटोऽडाटौ (३, ४, ९४)'। नैरुक्तधातुर्वा। "सश्चादेव प्र णस्तुरः (ऋ० सं० १, ३, २४, १)"—इति स्कन्दस्वामी॥

(३३) स्यक्षति। स्यक्षेर्गतिकर्मणो रूपम्'—इति स्कन्दस्वामी॥

(३४) सचति। सच समवाये (भू० उ०)'। "अच्छिद्रपत्राः सचन्ताम् (ऋ० सं० १, २, ६, १)"—"अग्निं धिया अभि पृक्षः सचन्ते (ऋ० सं० १, ५, १६, २)"—इति

निगमौ। 'सचत्यृच्छतीति गतिकर्मसु पाठात्'—इति स्कन्दस्वामी॥

(३५) ऋच्छति। 'ऋ गतिप्रापणयोः (भू० प०)'। 'पाघ्राध्मा (७, ३, ७८)'—इत्यादिसूत्रेण ऋच्छादेशः। "याचा स्तेनं शरव ऋदृच्छन्तु (ऋ० सं० ८, ४, ७, ५)'—इति निगमः॥

(३६) तुरीयति। नैरुक्तधातुः॥

(३७) चतति। 'चते याचने' स्वरितेत्। "दूराद्दूरमचीचतम्"—इति निगमः। 'चततिर्गत्यर्थे च'—इति भट्टभास्करमिश्रः॥

(३८) अतति। 'अत सातत्यगमने'। "अयमु ते समतसि (ऋ० सं० १, २, २८, ४)"—इति निगमः॥

(३९) गाति। 'गाङ्गतौ (अदा० आ०)'। व्यत्ययेन परस्मैपदी। "निर्यत्—पूतेव स्वधितिः शुचिर्गात् (ऋ० सं० ५, २, ४, ४)"—इति निगमः॥

(४०) इयक्षति। 'यज पूजायाम्' तुदादिरात्मनेपदी। व्यत्ययेन परस्मैपदम्। 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—इति हि आर्द्धधातुकत्वात् णिलोपः। यजेः सनि वा रूपम्, अभ्यासस्य सम्प्रसारणं व्यत्ययेन। "कविमियक्षसि प्रयज्यः (ऋ० सं० ४, ८, ५, ४)"—इति निगमः। 'गतिकर्मा'—इति हरदत्तः॥

(४१) सश्चति। सचतेरेव छान्दसः शकार उपजनः। "असश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती (ऋ० सं० ५, १, १४, २)"—

त्रदजीपिणं वृषणं सश्चतः श्रिये (ऋ० सं० १, ५, ८, २)"—इति निगमौ ॥

(४२) त्सरति। 'त्सर छद्मगतौ (भू० प०)'। "अभि त्सरन्ति धेनुभिः (ऋ० सं० ५, ७, १८, १)"—अथत्सरत् स्पृशत्यश्चिकित्वान् (ऋ० सं० १, ५, १५, ५)"—इति निगमौ ॥

(४३) रंहति। रहि गतौ (भू० प०)'। "सहस्रसाः शतसा अस्य रंहिः (ऋ० सं० ८, ८, ३६, ३)"—"पुरोहरिभ्यां वृषभो रथो हिषः (ऋ० सं० १, ४, १७, ३)"—इति निगमौ। 'रथो रंहतेर्गतिकर्मणः (निरु० ६, ११)'—इति भाष्यम् ॥

(४४) यतते। 'यती प्रयत्ने' आत्मनेपदम् (भू०)। "हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते (ऋ० सं० २, ३, १२, ५)"—"मित्रं न यातयज्जनम् (ऋ० सं० ६, ७, ११, २)"—इति निगमौ ॥

(४५) भ्रमति। 'भ्रमु चलने (भू० प०)'। "भ्रमिरस्पृशिश्नमर्त्यानाम्"—इति निगमः ॥

(४६) ध्रजति। 'ध्रज ध्रजि गतौ' (भू० प०) "ध्राजिरेकस्य दद्दशे न रूपम् (ऋ० सं० २, ३, २२, ४)"—"अहिर्धुनिर्वात इव ध्रजीमान् (ऋ० सं० १, ५, २७, १)"—इति निगमौ ॥

(४७) रजति। (४८) लजति। (४९) क्षियति ॥

(५०) धमति। 'धमिः सौत्रः'—इति स्कन्दस्वामी। यद्वा, 'ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः (भू० प०)'। 'पाघ्राध्मास्था (७, ३, ७८)'—इत्यादिना धमादेशः। "प्रायन्वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः

(ऋ० सं० ३, २, २, ५)"—निःषीमद्भ्यो धमथो निःषधस्थात् (ऋ० सं० ४, १, ३०, ४)"—इति निगमौ ॥

(५१) मिनाति । 'मीञ् हिंसायाम्' । मीनातेर्निगमे (७, ३, ८१)'—इति ह्रस्वः । "मिनोति"—इति पाठान्तरम् । तत्र 'डु मिञ् क्षेपणे' स्वादिः । "सप्तचक्रं रथमविश्वमिन्वम् (ऋ० सं० २, ८, ६, ३)" —इति निगमः । 'मीनातेरेतद्रूपम्, सर्वेणापि लोके नावगन्तुमशक्यम्'—इति हरदत्तः ॥

(५२) ऋण्वति । 'ऋवि रवि गतौ (भू० प०)' । 'इदितोनुम् धातोः (७, १, ५८)' 'रयेर्मतौ बहुलम् (६, १, ३४ वा०)'—इति बहुलवचनात् सम्प्रसारणम् । "व्यनुगग् घार्या देव ऋण्वति- (ऋ० सं० १, ४, २३, ३)"—इति निगमः । 'ऋण्वतिर्गतिकर्मा, अन्तर्णीतण्यर्थः । विविधं गमयति—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् ॥

(५३) ऋणोति । 'ऋण गतौ' तनादिः स्वरितेत् । सञ्ज्ञापूर्वको विधिरनित्यः—इति लघूपधगुणाभावः । "अभिकृष्णेन रजसा द्यामृणोति (ऋ० सं० १, ३, ७, ४)' "ऋणो रपो अनवद्यार्णाः (ऋ० सं० २, ४, १६, २)"—इति निगमौ । उभयोरपि 'ऋणोतिर्गतिकर्मा'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् ॥

(५४) स्वरति 'स्वृ शब्दोपतापयोः' । "हरी इन्द्र प्रतद्वम् अभिस्वर (ऋ० सं० ६, १, १२, २)"—इति निगमः ॥ अत्र 'गतिकर्मा'—इत्युक्तं स्कन्दस्वामिना । "अनिमेषं विदथाभि स्वरन्ति (ऋ० सं० २, ३, १८, १)" इत्यादौ 'गतिकर्मस्वपठितोऽपि गत्यर्थः' इत्युक्तम् ॥

(५५) सिसर्त्ति। 'ऋ सृ गतौ' जुहोत्यादिः। 'अर्तिपिपर्त्योश्च (७, ४, ७७)' 'बहुलं छन्दसि (७, ४, ७८)'—इति अभ्यासस्येत्वम्। "प्र वाहवा सिसृतं जीवसे न (ऋ० सं० ५, ५, ४, ५)"—इति निगमः।

(५६) विपिष्टि। 'विप्लृ व्याप्तौ' जुहोत्यादिः (उ०)। लेटि 'सिब्बहुलं लेटि (३, १, ३४)'। "अग्ने संघेपिपोरयिम् (ऋ० सं० ६, ५, २६, १)"—इति निगमः। 'समन्तात् प्रापय'—इति भट्टभास्करमिश्रः।

(५७) योयिष्टि। 'युप हिंसायाम् (भू० ५०)'। लेटि सिपि व्यत्ययेन गुणः॥

(५८) रिणाति। 'री गतिरेषणयोः' क्र्यादिः स्वादिश्च। "ऋघायमाणो निरिणाति शत्रून् (ऋ० सं० १, ४, २६ ३)"—"लोपामुद्रा वृषणं नीरिणाति (ऋ० सं० २, ४, २२, ४)"—इति निगमौ॥

(५६) रीयते। 'रीङ् श्रवणे' दिवादिः। "एदु निम्नं न रीयते (ऋ० सं० १, २, २८, २)"—इति निगमः। 'रीयते रेजतीति गतिकर्मसु पाठात् गत्यर्थः'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्॥

(६०) रेजति। नैरुक्तधातुः। "हयो नय इषवान् मन्म रेजति (ऋ० सं० २, १, १७, १)"—'चलति गच्छतीत्यर्थः'—इति स्कन्दस्वामी॥

(६१) दृप्यति। 'दृप पालने' स्वादिः। व्यत्ययेन श्यन्। "पश्चादघा यो अग्नस्य धाता (ऋ० सं० २, ८, ४, ५)"—इति च निगमः॥

(६२) दभ्नोति। 'दम्भु दम्भे' स्वादिः॥

(६३) युध्यति। 'युध सम्प्रहारे' दिवादिरात्मनेपदी, व्यत्ययेन परस्मैपदी॥

(६४) धन्वति। 'रिवि रवि धवि गत्यर्थाः (भू० प०)'। "परि सोम प्रधन्वा स्वस्तये (ऋ० सं० ७, २, ३३, ५)"—"न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व (ऋ० सं० ८, ४, १५, १)"—इति निगमौ॥

(६५) अरुणति। नैरुक्तधातुः। "वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य (ऋ० सं० १, ३, ६, ४)"—स्वसारः श्यावी मरुषीमजुषन् (ऋ० सं० १, ५, १५, १)"—"प्रतीची रुनैररुषीरजानन् (ऋ० सं० १, ५, १८, १०)"—इत्यादिषु स्कन्दस्वामिभाष्यम्-'अरुणतिर्गतिकर्मा'—इति दृष्टम्। "युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तम् (ऋ० सं० १, १, ११, १)"—इत्यादौ द्वित्र्योः प्रदेशयोः 'अरुष्यतिर्गतिकर्माः—इत्यपि। उभयथा दृष्टमपि, बहुषु प्रदेशेषु दर्शनात् अरुणतीति पाठो युक्तः।

(६६) आर्यति। "मामार्यन्ति कृतेन कर्त्वे न च (ऋ० सं० ८, १, ५, ३)"—"तमित्त्वर्योलीरार्यन्ति (ऋ० सं० ६, १, २१, ६)"—इति निगमौ॥

(६७) सीयते। 'षिञ् बन्धने' स्वादिः क्र्यादिश्च। व्यत्ययेन श्यन्। "डीयते"—इति पाठान्तरम्। तदा 'डीङ् विहायसा गतौ' दिवादिः। निगमदर्शनान्निर्णयः॥

(६८) तकति। 'तक हसने (भू० प०)' "यः शूरसातापरितक्म्ये धने (ऋ० सं० १, २, ३३, १)"—अन्योन्यान्मत्सर्गप्रतक्वे" इति निगमौ॥

(६९) दीयति। 'दीङ् क्षये' दिवादिः'। व्यत्ययेन परस्मैपदम्। "श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः (ऋ० सं० ५, ५, ५, ५)" इति निगमः॥

(७०) ईषति। "ईष गतिहिंसादानेषु' आत्मनेपदी, व्यत्ययेन परस्मैपदम्। "उतातो गा ईषते वृष्ण्यावतः (ऋ०सं० ४, ४, २७, २)"—इति निगमः। बहुषु 'ईषतीति गतिकर्मसु पाठात्'—इति स्कन्दस्वामी॥

(७१) फणति। 'फण गतौ'। "यथामङ्कांस्यन्वापनीफणत् (ऋ० सं० ३, ७, १४, ४)—इति निगमः।

(७२) हनति। 'हन हिंसागत्योः' अदादिः। 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७३)'—इति शपो लुग् न भवति। "सं यद्धनन्त मन्युभिर्जनासः (ऋ० सं० ५, ४, २६, २)"—इति निगमः।

(७३) अर्दति। 'अर्द गतौ याचने च'॥

(७४) मर्दति। 'मृदू मर्दने'। व्यत्ययेन परस्मैपदम्॥

(७५) सर्स्रते। 'स्रृ सृ गतौ' जुहोत्यादिः परस्मैपदीः। व्यत्ययेनात्मनेपदम्। पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) अभ्यासस्य रुगागमः। "प्रसर्स्रति दीर्घमायुः प्रयक्षे (ऋ० सं० ३, १, १, १, —"जातेन जात मति स प्रसर्स्रते (ऋ० सं० २, ७, ४, १)—इति निगमौ॥

(७६) नसते। 'नस कौटिल्ये' आत्मनेपदी। "अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्याम् (ऋ० सं० ८, ८, २१, १)"—इति निगमः॥

(७७) हर्यति। 'हर्य गति कान्त्योः'।

(७८) इयर्त्ति। 'ऋ सृ गतौ' जुहोत्यादिः। 'अर्त्तिपिपर्त्त्योश्च (७, ४, ७७)'। "कृष्टीरियर्त्ति योजना (ऋ० सं० १, ६, १४, ३)"—इति निगमः॥

(७९) ईर्त्ते। 'ईर गतौ कम्पने च' अदादिरात्मनेपदी। "मत्सरासः प्रसुपः साकमीरते (ऋ० सं० ७, २, २२, १)"—इति निगमः॥

(८०) ईङ्खते। 'ईखि गतौ' (भू०) आत्मनेपदी। "य ईङ्खयन्ति पर्वतान् (ऋ० सं १, १, ३७ २)"—इति निगमः। अत्र 'ईङ्खतिर्गतिकर्मा'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्॥

(८१) त्रयति। (८२) श्वात्रति। एतौ नैरुक्तधातू॥

(८३) गन्ति। 'गम्लृ गतौ (भू० प०)'। व्यत्ययेन शपो लुक्। "अङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभिः (ऋ० सं० ७, ६, १४, ५)"—निगमः॥

(८४) आगनीगन्ति। 'गम्लृ गतौ (भू० प०)'। दाधर्त्तिदर्धर्त्ति (७, ४, ६५) इत्यादिना आङ्पूर्वस्य गमेर्लटि अभ्यासस्य चुत्वाभावो नीगागमश्च निपात्यते। यङ्लुगन्ताद्वा लटि निपातनाद्रूपसिद्धिः। "वक्ष्यन्ती वेदा गनीगन्ति कर्णम् (ऋ० सं० ५ १, ११, ३)"—इति निगमः॥

(८५) जङ्गन्ति। गमेर्यङ्लुकि 'नुगतोऽनुनासिकान्तस्य (७, ४, ८५)'—इति नुकि च रूपम्। "प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् (ऋ० सं० १, ४, २४, ४)"—इत्यत्र 'जङ्गन्तेर्गतिकर्मण एतद्रूपम्'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्।

(८६) जिन्वति। 'इवि जिवि धिवि प्रीणनार्थाः (भू० प०)'॥

(८७) जसति। 'जसु मोक्षणे' दिवादिः (प०)। व्यत्ययेन शप्॥

(८८) गमति। गम्लृ गतौ (भू० प०)'। लेट्। लेटोऽडाटौ (३, ४, ९४)'। बाहुलकात् 'सिब्बहुलं लेटि (३, १, ३४)'—इति सिप् न भवति। यद्वा, 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते'—इति छत्वाभावः। "त आगमन्तु त इह श्रुवन्तु (ऋ० सं० ४, ८, ५, १)"—इति निगमः॥

(८९) भ्रति। (९०) ध्राति। (९१) भ्रयति। त्रयोऽपि नैरुक्ताः॥

(९२) वहते। 'वह प्रापणे' (भू० उ०) स्वरितेत्। "वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः (ऋ० सं० ४, ५, १०, ४)"—इत्यत्र 'परापूर्वस्य वहतेर्गतिकर्मणः परावच्छब्दः'—इति स्कन्दस्वामी॥

(९३) रथर्यति। नैरुक्तधातुः। 'रंहतेर्वा रथो रंहणं गमनम् इच्छतीति क्यचि रथीयतीति प्राप्ते रेफउपजन ईडाभावश्च पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९)'—इति स्कन्दस्वामी। "एष देवो रथर्यति (ऋ० सं० ६, ७, २०, ५)"—इति निगमः। माधवभाष्यं द्रष्टव्यम्॥

(९४) जेहते। 'वेहृ जेहृ वाहृ प्रयत्ने' आत्मनेपदी। "ये तातृपुर्देवत्रा जेहमाना (ऋ० सं० ७, ६, १८, ४)"—इति निगमः। 'ओ हाङ् गतावित्यस्य रूपम्,—इति स्कन्दस्वामी॥

(९५) प्यःकति। (९६) क्षुम्पति। (९७) प्साति। (९८) घाति। (९९) याति॥

(१००) इषति। 'इष गतौ' दिवादिः (प०)। व्यत्ययेन शः। "तत्रासभ्यमिषयः शर्म यंसन् (ऋ० सं० ५, १, २१, २)"—इति निगमः॥ 'इषुरिषतेर्गतिकर्मणः (९, १८)'—इति निरुक्तम्॥

(१०१) द्राति। 'द्रा कुत्सितायां गतौ' अदादिः (प०)। "वैसू यवो मतयो दस दद्रुः (ऋ० सं० १, ५, ३, १)"—इति निगमः॥

(१०२) ध्रूलति। नैरुक्तधातुः॥

(१०३) एजति। 'एजृ कम्पने (भू० प०)'। "यूथेन वृष्णिरेजति (ऋ० सं० १, १, १६, २)"—"यथा समुद्र एजति (ऋ० सं० ४, ४, २, ४)"—इति निगमौ।

(१०४) जमति। 'जमु अदने (भू० प०)'। "न जामये तान्वोरिक्थ मारैक् (ऋ० सं० ३, २, ५, २)"—इति निगमः। 'जामिर्जमतेर्गतिकर्मणः'—इति स्कन्दस्वामी॥

(१०५) जयति। 'जु गतौ'—इति क्षीरस्वामी। "न पातव इन्द्र जुजूर्त्तु नः"—"विपाट् शुतुद्री पयसा जवेते (ऋ० सं० ३, २, १२, १)"—इति निगमौ॥

(१०६) चञ्चति। 'चञ्चु गतौ (भू० प०)'। "नमो चञ्चते परिवञ्चते (य० वा० सं० १६, २१)"—इति निगमः॥

(१०७) अनिति। 'अन प्राणने, अन च (अदा० प०)'। "अत्र मातर्यात्वनिति"—इति निगमः। 'अनितिर्गतिकर्मा—इति माधवः॥

(१०८) पवते। 'पूञ् पवने'। "नेन्द्राहृते पवते धाम किञ्चन (ऋ० सं० ७, २, २२, १)"—"सुकं संशाप पविमिन्द्र तिग्मम्"—इति निगमौ॥

(१०९) हन्ति। 'हन हिंसागत्योः' अदादिः (प०)। "नि येन सुष्टिहत्यया (ऋ० सं० १, १, १५, २)"—आस्य वज्र मधिसानौ जघान (ऋ० सं० १, २, ३७, २)"—इति निगमौ॥

(११०) सेधति। 'षिधु गत्याम् (भू० प०)'। "सेधत द्वेषो भवतं सचा भुवा (ऋ० सं० १, ३, ५, ५)"—इति निगमः॥

(१११) अगन्। 'गम्लृ गतौ (भू० प०)'। लुङि तिपि च्लेः 'मन्त्रे घस (२, ४, ८०)'—इति लुकि, "इतश्च (३, ४, ६७)'—'संयोगान्तलोपः (८, २, २३)' 'मोनोधातोः (८, २, ६४)'—इति मकारस्य नकारः। "यदामागन् प्रथमजा ऋतस्य (ऋ० सं० २, ३, २१, २)"—इति निगमः॥

(११२) अजगन्। गमेर्लुङि 'बहुलं छन्दसि (२, ४ ७३)'—इति शपः श्लुः। पूर्ववत्नत्वम् (८, २, ६४)। "यन्मातुरजगन्नपः (ऋ० सं० ३, १, ५, २)"—इति निगमः॥

(११३) जिगाति। 'गा स्तुतौ (अदा० प०)'। छन्दसि जुहोत्यादिः। 'अर्तिपिपर्त्योश्च (७, ४, ७७) 'बहुलं छन्दसि

(७, ४, ७८)'—इति अभ्यासस्येत्वम्। "घेमा जिगाति दाशुषे (ऋ० सं० १, १, ३, २)"—इति निगमः। 'जगातीति पाठान्तरम्'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्॥

(११४) पतति। 'पत्लृ गतौ (भू० प०)'। "गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता (ऋ० सं० ५, १, २१, १)"—इति निगमः॥

(११५) इन्वति। 'इवि गतौ (भू० प०)'। "दीर्घाद्यारो बृहतीर्विश्वमिन्वा (य० वा० सं० २६, ३०)"—इति निगमः॥

(११६) द्रमति। 'द्रम हम्म मीमृ गतौ (भू० प०)'। "प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः (ऋ० सं० ८, ३, २३, ४)"—इति निगमः। 'चन्द्रमाश्चायं द्रमति'—इति भाष्यम् (निरु० ११, ५)'। 'द्रमतिर्गतिकर्मा'—इति स्कन्दस्वामी॥

(११७) द्रवति। द्रु द्रु गतौ (भू० प०)'। "यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति (ऋ० सं० ५, १, २१, १)"—इति निगमः॥

(११८) वेति। 'वी गतिप्रजननकान्त्यशनखादनेषु' अदादिः। "अपामी पां यायते वेति सूर्य्यम्"—"वर्द न वेत्योदती (ऋ० सं० १, ४, ४, १)"—इति निगमौ॥

(११९) इन्तात्। इन्तेर्लोटि तातङि रूपम्। "इयन्तात्"—इति केचित् पठन्ति। तत्र 'इय गतौ (भू० प०)'—इत्यस्य तातङि सकार उपजनः॥

(१२०) यति। 'इ गतौ' अदादिः (प०)। "विचायन्नाय-त्यमा नतमेति (ऋ० सं० १, २, १४, ५)"—इति निगमः॥

(१२१) जगायात्। "गा स्तुतौ" जुहोत्यादिः (प०)। लिङि 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)—इत्यार्द्धधातुकत्वेन 'ई हल्यघोः (६, ४, ११३)'—इतीत्वं न भवति। "स्याशितः पुनरस्तं जगायात् (ऋ० सं० ७, ७, २०, १)"—इति निगमः॥

(१२२) अयथुः। 'ट्वितोऽथुच् (३, ३, ८९)'—इति बाहुलकादयतेरथुच् भवति॥

इति द्वाविंशशतं गतिकर्माणः॥ १४॥

नु (१)। मक्षु (२)। द्रवत् (३)। ओषम् (४)। जीराः (५)। जूर्णीः (६)। शूर्त्ताः (७)। शूघनासः (८)। शीभम् (९)। तृपु (१०)। तूयम् (११)। तूर्णिः (१२)। अजिरम् (१३)। भुरण्युः (१४)। शु (१५)। आशु (१६)। प्राशुः (१७)। तूतुजिः (१८)। तूतुजानः (१९)। तुज्यमानासः (२०)। अज्राः (२१)। साचिवित् (२२)। द्युगत् (२३)। ताजत् (२४)। तरणिः (२५)। वातरंहा (२६)। इति षड्विंशतिः क्षिप्रनामानि॥१५॥

'क्षिप्रनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः (निरु० ३, ६)'—इत्यत्र भाष्ये 'गुणस्य चैतानीति क्षिप्रस्य तद्वतो वा नामधेयानि। तथाच वक्ष्यति 'भुरण्युः' 'शकुनिः'—इति स्कन्दस्वामी। गुणश्च चिरकालविशिष्टा स्वल्पकालविशिष्टा वा क्रिया। तत्कर्त्तरि कर्त्तुरल्पकालविशिष्टत्वञ्च तथाविधक्रियाकर्तृत्वाल्पक्रियाद्वारकम्। तत्र 'मक्षु' 'कृणुहि' इत्यादिषु क्रियाविशेषेण वा क्रियारूपस्तद्वान्। निरुक्तगुणनामधेयोदाहरणानि पुनरन्वेषणीयानि। केचित्तु यद्यपि गुणशब्दो व्यवच्छेदकमात्रवचनतया ह्यत्र कर्तृविशेषभूतक्रियालक्षणा व्यवच्छेदकविशेषे वर्त्तते निरुक्ता गुणमात्रवाचिनि गम्यादौ लभ्या, तथापि सत्वशब्दस्य द्रव्यवचनत्वे स्वारस्यात् क्रियायाश्चाद्रव्यत्वात् क्रियाया इव द्रव्यस्यापि नामधेयानि'—इत्याहुः। इदानीं क्रियाविशेषणानि गुणनामधेयोदाहरणानि 'जीराः' 'अजिरम्' इत्यादीनि॥

(१) नु। निपातोऽयम्। "इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम् (ऋ० सं १, २, ३६, १)"—इति निगमः॥

(२) मक्षु। 'टु मस्जी शुद्धौ (तु० प०)'। 'मस्जीनेर्मुक्' इति भोजसूत्रेण मुक्प्रत्ययः। संयोगादिलोपः। अन्तर्णीतण्यर्थश्च मस्जी। क्रियायाः पापनो वा मज्जयति चिरकालमिति। "मक्षु कृणुहि गोजितो नः"—इति निगमः॥

(३) द्रवत्। 'द्रुगतौ (भ्वा० प०)'। 'संश्चत्तृपद्वेहत् (उ० २, ७६)'—इति बाहुलकात् अतिप्रत्ययान्तो निपात्यते। द्रवत्वेन। "द्रवत्पाणी शुभस्पती (ऋ० सं० १, १, ५, १)—इति निगमः॥

(४) ओपम्। निपातोऽयम्। "ओपमित् पृथिवीमहम् (ऋ० सं० ८, ६, २७, ४)"—"ओवः पात्रं न शोचिषा (ऋ० सं० २, ४, १८, ३)—इति निगमौ। 'अन्तोदात्तो निपातः स्यादाख्याने चाद्युदात्तता'—इति हि माधवः॥

(५) जीराः। जवतिर्गतिकर्मा। 'जोरी च (उ० २, २५)'—इति ईक्प्रत्यय ईकारश्चान्तादेशः। जस्। "जीरा अजिरशोचिषः (ऋ० सं० ७, २, ११, ५)"—"जीरं दूतममर्त्यम् (ऋ० सं० १, ३, ३०, ११)"—इति निगमौ॥

(६) जूर्णिः। व्याख्यातं क्रोधनामसु (२४६ पृ०)। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(७) शूर्त्ताः। 'तालवातसुत'—इत्यादि भोजसूत्रे आदिशब्देन शृणात्यस्मात् क्तप्रत्ययान्तो निपात्यते। शृणाति फललाभम्। "त्वया शूर्त्ता वहमाना अपत्यम् (ऋ० सं० २, ४, १७, १)"—इति निगमः। 'शूर्त्ताः क्षिप्रास्त्वरमाणाः'—इति भट्टभास्करमिश्राः॥

(८) शूघनासः। सु शब्दे उपपदे हन्तेः 'युच् बहुलम् (उ० २, ७४)'—इति युचि बाहुलकात् कुत्वं णिलोपश्च निपात्यते दीर्घश्च। शीघ्रमागच्छत्यनेन क्रियाफलम्। तस्मात् जसोऽसुक्। "सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासः (य० वा० सं० १७, ९५)"—इति निगमः। 'शूघनासः क्षिप्रगमनाः'—इत्युवटः॥

(९) शीभम्। 'शीभ कत्थने (भू० आ०)'। घञ्। शीभ्यतेऽनेन तद्वान्। "प्रयात शीभमाशुभिः (ऋ० सं० १, ३, १४, ४)"

—"आवक्षणाः पृणध्वं यात शीभम् (ऋ० सं० ३, २, १४, २)"
—इति निगमौ ॥

(१०) तृपु। 'ञि त्वरा सम्भ्रमे (भू० आ०)। 'मस्जीयो-
र्नुक्'—इति बाहुलकात् पुकप्रत्ययो धातोस्तृभावश्च। तरत्यनेन
फललाभमथ, त्वरतेऽनेन फलमागन्तुम्। "तृप्वविष्यप्नतसेषु
तिष्ठति (ऋ० सं० १, ४, २, २)"—"तृप्वीमनुप्रसिति द्रुणानः
(ऋ० सं० ३, ४, २३, १)"—इति निगमौ ॥

(११) तूयम्। व्याख्यातमुदकनामसु (१४४ पृ०)। वर्द्धते-
ऽनेन तद्वन्तः श्लाघ्याः। "आपित्वे नः प्रापित्वे तूयमा गहि (ऋ०
सं० ५, ७, ३०, ३)"—इति निगमः ॥

(१२) तूर्णिः। 'ञि त्वरा सम्भ्रमे'। 'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहा-
त्वरिभ्यो नित् (उ० ४, ५१)'—इति निन्प्रत्ययः। त्वरतेऽनेन
फलमागन्तुम्। "क्षणो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन् (ऋ० सं० ८, ४,
११, १)"—"सुतमा गन्त तूर्णयः (ऋ० सं० १, १, ६, २)"—
इति निगमौ ॥

(१३) अजिरम्। अज गतिक्षेपणयोः (भू० प०)'। 'अजिर-
शिशिरशिथिलस्थिरस्फिरस्थविरखदिराः :(१, ५३)'—इति किर-
च्प्रत्ययो विभावश्च निपात्यते। क्षिपति फलोत्पत्तिमायम्।
"त्वा मीळ्हे अजिरं दूत्याय (ऋ० सं० ५, २, १४, २)—इति
निगमः ॥

(१४) भुरण्युः। भुरण्यतिर्गतिकर्मा। 'मृगय्वादयश्च (उ०
१, ३६)'—इति क्युप्रत्ययः। "येना पावक चक्षसा भुरण्यं (ऋ०

सं० १, ४, ८, १)"—इत्यत्र स्कन्दस्वामिना 'भुरण्यतिः शीघ्रकरणार्थे'—इति प्रतिपादितम्। तत्र 'भुरण्यशब्दस्य शीघ्रविशिष्टगमनादिक्रियाकर्त्तरि सत्वन्येव वृत्तिः। "श्रोणान्नुपश्याद्दिवं भुरण्युः (ऋ० सं० १, ५, १२, १)"—इति निगमः॥ 'भुरण्यतेर्गतिकर्मण इदं, क्षिप्रनाम वा'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्॥

(१५) शुः। निपातः। "श्वानं बस्तो बोधयितारमब्रवीत् (ऋ० सं० २, ३, ६, ३)"—इति निगमः। 'शु आशुगामी'—इति निरुक्तम् (६, १)॥

(१६) आशुः। 'अशु व्याप्तौ'। 'कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् (उ० १, १)'। व्याप्नोत्यनेन नरवैलक्षण्येन व्याप्तव्यम्। 'आशु इदं क्षिप्रनाम क्षिप्रगामी'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्। आशु इति च शब्दस्वरूपापेक्षया नपुंसकनिर्देशः। तेन आशु इति निपातः, आशुरिति सत्ववाची च उभयमपि पठितं भवति। तथा च स्कन्दस्वामी "समाशुमाशवे भर (ऋ० सं० १, १, ८, २)"—इत्यत्र ऋग्भाष्ये 'आशुमिति क्षिप्रनामैतत्'—इति। 'आशु इति शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः'—इति (निरु० ६, १)। निर्विवक्षयोपन्यास इति चेत्? न, निपातत्वादिति चोक्तत्वात्। "त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिः (ऋ० सं० २, ५, १७, १)"—इति निगमः॥

(१७) प्राशुः। 'सत्ववाच्याशुब्दवत्'—इति भाष्ये प्रकर्षार्थोऽतिरिक्तः। 'हस्तो हन्तेः प्राशुर्हनने (निरु० १, ७)'—इति

भाष्ये 'प्राशुः क्षिप्रः'—इति स्कन्दस्वामी। "सुप्राव्यः प्राशुषालेव धीरः (ऋ० सं० ३, ६, १४, १)"—इति निगमः॥

(१८) तूतुजिः। 'तुजि हिंसायाम् (भू० ५०)'। 'कि किनोः प्रकरणे'—इत्यर्थे 'छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात्'—इति किन्प्रत्ययः। लिड्वद्भावात् द्विर्वचनम्। "तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य (६, १, ७)'—इति दीर्घः। तूर्णवदर्थः। 'आयुक्षाता मश्विना तूतुजिं रथम् (ऋ० सं० ७, ८, ७, १)"—इति निगमः॥

(१९) तूतुजानः। तोजतेर्लिटि कानजादेशः। "इन्द्रा याहि तूतुजानः (ऋ० सं० १, १, ५, ६)"—इति निगमः। 'क्षिप्रार्थे स्वर आदित अन्तोदात्तः तुगर्थस्तूतुजानो मह्ने मतः'—इति माधवः॥

(२०) तुज्यमानासः। तोजतेरेव कर्मणि लटि शानच्। "तुज्यमानास आविषुः (ऋ० सं० १, १, २१, ५)"—इति निगमः॥

(२१) अज्राः। अजतेः 'स्फायितञ्चिवञ्चि (उ० २, १२)—इत्यादिना रक्। 'बाहुलकादार्द्धधातुके विकल्प इष्यते'—इति वैकल्पिकत्वात् वीभावाभावः। अजिरवदर्थः। "धाने भूमि गिरयो नाज्रान् (ऋ० सं० ८, १, २२, ३)"—इति निगमः। 'अज्रान् सत्वरान् शीघ्रान्'—इति भट्टभास्करमिश्रः॥

(२२) साचीवित्। (२३) द्युगत्। (२४) ताजत्। त्रयो निपाताः। साचीविदित्यस्य निगमोऽन्वेषणीयः॥ "अतस्त्वा गीर्भिर्द्युगदिन्द्रकेशिभिः (ऋ० सं० ६, ६, २६, ४)"—इति

निगमः। अत्र माधवस्तु—'द्युगत् दीप्तिं द्युलोकं गच्छ हरिभिः' —इति चैतद्भाष्ये उक्तवान्। 'तूतुजानः तरणिः द्युगत्'—इति क्षिप्रनामसु द्युगच्छब्दस्तेनाप्यपाठि॥ "ताजत्—माच्छेति"— "ताजत्—प्रमीयते"—इति निगमौ॥

(२५) तरणिः। तरतेः 'अर्तिसुधृधम्यश्यवितृभ्योऽनिः (उ० २, १५)'—इत्यनिप्रत्ययः। तृप्नुवदर्थः। "विप्र्वो शमी तरणित्वेन वाघतः (ऋ० सं० १, ७, ३०, ३)"—"तरणिर्विश्वदर्शतः (ऋ० सं० १, ४, ७, ४)"—इति निगमौ॥

(२६) वातरंहा। 'वा गतिगन्धनयोः (अदा० प०)'। 'हसिमृग्रिण्वामिदमिल्लूपूधुर्विभ्यस्तन् (उ० ३, ८४)'—इति तन्। 'रमु क्रीडायाम् (भू० आ०)' 'रमेश्च [वेगे] (उ० ४, २०८)'—इत्यसुन् हुगागमश्च। वातवत् रंहो यस्य सः। "वातरंहसो दिव्यासो अत्याः (ऋ० सं० २, ४, २५, २)"—इति निगमः॥

इति षड्विंशतिः क्षिप्रनामानि॥१५॥

तलित् (१)। आसात् (२)। अम्बरम् (३)। तुर्वशे (४)। अस्तमीके (५)। आके (६)। उपाके (७)। अर्वाके (८)। अन्तमानाम् (९)। अवमे (१०)। उपमे (११)। इत्येकादशान्तिकनामानि॥१६॥

(१) तलित्। 'तड आघाते' चुरादिः। 'ताडेर्णिलुक् च (उ० १, ९५)'—इतीतिप्रत्ययः। "दूरे चित् सन्तलिदिवाति रोचसे (ऋ० सं० १, ६, ३१, २)"—"या नो दद्रे तलितो य अरातयः (ऋ० सं० २, ६, ३०, ४)"—इति निगमौ॥

(२) आसात्। 'आस उपवेशने (अदा० आ०)'। 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण (३, ३, ११८)। अन्तिके आसते। "आ न इन्द्रो दूरादा न आसात् (ऋ० सं० ३, ६, ३, १)"—"स नो दूराच्चासाच्च (ऋ० सं० १, २, २२, ३)"—इति निगमौ। 'आसादिस्यन्तिकनाम'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्। "आसादासेः"—इति माधवः॥

(३) अम्बरम्। 'कृदरादयश्च'—इत्यरन्प्रत्ययो मुगागमश्च निपात्यते। प्राप्यते ह्यासन्नम्। "यन्नासत्या परावति यद्वा स्थो अध्यम्बरे (ऋ० सं० ५, ८, २७, ४)"—इति निगमः। स्कन्दस्वामिव्यतिरिक्तभाष्यकारमते। स्कन्दस्वामी तु 'अन्तरिक्षनाम'—इति॥

(४) तुर्वशे। व्याख्यातं मनुष्यनामसु (११८ पृ०)॥ तूर्णं व्याप्यते अन्तिकम्। "यन्नासत्या परावति यद्वा स्थो अधि तुर्वशे (ऋ० सं० १, ४, २, २)"—इति निगमः॥

(५) अस्तमीके। अस्तंशब्दे उपपदे मातेः 'अलीकादयश्च (उ० सं० ४, २५)'—इति धीकन्प्रत्ययो धातोर्लोपश्च निपात्यते। अस्तं प्राप्यते अस्मिन्, अन्तिकस्थं हि नाश्यते। "सचस्व नः पराक आ सचस्वास्तमीक आ (ऋ० सं० २, १, १७, ४)"—इति निगमः॥

(६) आके। (७) उपाके। (८) अर्वाके। आङुपार्वच्छन्दःपूपपदेषु क्रामतेः 'बलाकादयश्च (उ० ४, १४)'—इति आकप्रत्ययो धातोर्लोपश्च निपात्यते। अर्वाक् गन्ता। आक्रम्यते उपक्रम्यते गन्तृभिः। क्रम्यते च ह्यासन्नम्। "आके नियासो अहभिर्दविद्युतः (ऋ० सं० ३, ७, २१, ६)"—"सिन्धोरूर्मा उपाकऽआ (ऋ० सं० १, २, २३, १)"—"यद्यासत्या पराके अर्वाके अस्ति भेषजम् (ऋ० सं० ५, ८, ३२, ५)"—इति निगमाः॥

(९) अन्तमानाम्। अन्तिकशब्दात्तमपि 'तमोदश्च'—इति तादिलोपः। अन्तिकतममन्तिमम्। "अथाते अन्तमानाम् (ऋ० सं० १, १, ७, ३)"—"शिक्षा यस्यो अन्तमस्य (ऋ० सं० १, २, २२, ५)"—इति निगमौ। आद्युदात्तमन्तिकम्, अन्तोदात्तन्तु तृतीयाबहुवचनम्, "अतो वयमन्तमेभिर्युजानाः (ऋ० सं० २, ३, २४, ५)"—इति माधवः॥

(१०) अवमे। 'अव रक्षणादिषु (भू० प०)'। 'अवेश्च वा' इति मप्रत्ययः। गम्यते ह्यासन्नम्। "अस्मै वहूनामवमाय सख्ये (ऋ० सं० २, ७,२४, २)"—"मध्यमस्यामवमस्यामुत स्थः (ऋ० सं० १, ७, २७, ५)"—इति निगमौ॥

(११) उपमे। उपपूर्वात् मिनातेः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डः। उपच्छिद्यते ह्यन्तिकम्। "उपमे रोचने दिवः (ऋ० सं० ६, ६, १, ४)"—"असाद्दुत्यमुपमं स्वर्याम् (ऋ० सं० १, ४, २७, २,—इति निगमौ॥

इत्येकादशान्तिकनामानि ॥१६॥

रणः (१)। विवाक् (२)। विखादः (३)। नदनुः (४)। भरे (५)। आक्रन्दे (६)। आहवे (७)। आजौ (८)। पृतनाज्यम् (९)। अभीके (१०)। समीके (११)। ममसत्यम् (१२)। नेमधिता (१३)। सङ्काः (१४)। समितिः (१५)। समनम्। (१६) मीळ्हे (१७)। पृतनाः (१८)। स्पृधः (१९)। मृधः (२०)। पृत्सु (२१)। समत्सु (२२)। समर्ये (२३)। समरणे (२४)। समोहे (२५)। समिथे (२६)। सङ्खे (२७)। सङ्गे (२८)। संयुगे (२९)। सङ्गथे (३०)। सङ्गमे (३१)। वृत्रतूर्ये (३२)। पृक्षे (३३)। आणौ (३४)। शूरसातौ (३५)। वाजसातौ (३६)। समनीके (३७)। खले (३८)। खजे (३९)। पौंस्ये (४०)। महाधने (४१)। वाजे (४२)। अज्म (४३)। सद्म (४४)। संयत् (४५)।

संवतः (४६)। इति षट्चत्वारिंशत् संग्राम-नामानि ॥१७॥

(१) रणः। 'अण रण कण शब्दार्थाः (भू० प०)'। 'वशिरण्योरुपसंख्यानम् (३, ३, ८५ वा०)'—इत्यप्। 'रणन्ति दुन्दुभयोऽत्र योधा वा परस्परं शब्दायन्ते। यद्वा, रमतेः 'रास्नासास्नास्थूणावीणाः (उ० २, १३)'—इत्यादिना नप्रत्ययो मकारलोपश्च निपात्यते। रमणीयो हि संग्रामो विचित्रकर्माधिष्ठानत्वात्। "मरुत्वाँ इन्द्र वृषभो रणाय (ऋ० सं० ३, ३, ११, १)"—इति निगमः॥

(२) विवाक्। विविधा विरुद्धा वाचो यत्र योधानाम्। "ह्वयन्त उ त्वा हव्यं विवाचि (ऋ० सं० ५, २, १४, २)"—इति निगमः॥

(३) विखादः। 'खद स्थैर्ये हिंसायाञ्च (भू० प०)'। विशिष्टं स्थैर्यमत्र शूराणां हिंसनं वा। "तं विखादे सस्नि मद्य श्रुतं नरम्। (ऋ० सं० ७, ८, १४, ४)"—इति निगमः॥

(४) नदनुः। 'णद अव्यक्ते शब्दे (भू० प०)'। 'अनुङ् नदश्च (उ० ३, ४६)'—इति चानुङ्प्रत्ययः। "यदा कृणोषि नदनुं समूहसि (ऋ० सं० ६, २, ३, ४)"—इति निगमः॥

(५) भरे। 'डु भृञ् धारणपोषणयोः (जु० उ०)'। 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यः (३, १, १३४)' तत्र गणपाठः—'पच-वच-वप-वद-चल-तज-भराः'—इति। बिभर्ति पोषयति

सुभटानां धैर्यं यशो वा। यद्वा, 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः (३, ३, ११८)'। बिभ्रत्यनेन जयलक्ष्मीं योधाः। उभयत्रापि पृषोदरादेराकृतिगणत्वादाद्युदात्तत्वम्। यद्वा, 'भृ भर्त्सने' क्र्यादिः स्वादिश्च। भर्त्स्यन्ते हि तत्र शत्रवः। हरतेर्वा भः। ह्रियन्ते हि यत्र योद्धृणामायूंषि धनानि च। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि (३, १, ८४ वा०)'। "अस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ (ऋ० सं० ३, २, ४, ७)"—"अनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु (ऋ० सं० ३, ७, ११, ५)"—इति निगमौ।

(६) आक्रन्दे। 'कदि क्रदि क्लदि आह्वाने रोदने च (भू० आ०)'। क्रन्दन्त्याह्वयन्तेऽन्योन्यमत्र, रुदन्ति वानेन बन्धुविनाशहेतुत्वात्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(७) आहवे। 'ह्वेञ् स्पर्द्धायाम् (भू० उ०)'। 'आङि युद्धे (३, ३, ७३)'—इत्यप्। 'बहुलं छन्दसि (६, १, ३४)'—इति सम्प्रसारणञ्च। आह्वयन्तेऽत्र परस्परं स्पर्द्धया योधाः। "न कश्चन सहत आहवेषु (ऋ० सं० ५, ७, ३०, १)"—इति निगमः॥

(८) आजौ। 'अज गतिक्षेपणयोः (भू० प०)'। अज्यतिभ्याञ्च (उ० ४, १२७)'—इति इण्प्रत्ययः। बाहुलकाद्वीभावाभावः। अजन्ति गच्छन्त्यत्र विजयश्रियं योद्धारः, कातराः पराभवं वा। एवमर्थौ गत्यर्थेषु द्रष्टव्यः। क्षिप्यन्ते शस्त्राणि क्षिपन्त्याक्षिपन्ति वान्योन्यं धीर्यातारतम्यात्। "तेन वाजं सनिषदस्मिन्नाजौ (ऋ० सं० ८, ३, ७, ४)"—इति निगमः॥

(६) पृतनाज्यम्। पृतनाशब्दोपपदादञ्जतेश्च अघ्न्यादित्वात् (उ० ४, १०८) यत्प्रत्ययः। पृतनानां सेनानामजनं यत्र। "गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु (ऋ० सं० ८, ५, २१, ३)" —इति निगमः॥

(१०) अभीके। अभिपूर्वादेतेः 'अलीकादयश्च (उ० ४, २५)'—इतीकप्रत्ययो धातोर्लोपश्च निपात्यते। यद्वा, न विद्यते भीर्येषां ते अभीकाः। अभीकैः क्रियमाणत्वात् अभीकमित्युच्यते। "पाहि वज्रिवो दुरितादभीके (ऋ० सं० १, ८, २६, ४)"—इति निगमः॥

(११) समीके। संपूर्वोऽत्र एतिः। अभीकवत्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१२) ममसत्यम्। मम सत्यं जयः इति योद्धॄणां वाक्यविषयत्वान्ममसत्यमित्याचक्षते। पृषोदरादिः। "त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र (ऋ० सं० ७, ८, २२, ४)"—इति निगमः॥

(१३) नेमधिता। 'सुधितवसुधितनेमधितधिष्वधिषीय च (७, ४, ४५)'—इति नेमपूर्वाद्धधातेः क्तप्रत्यये इत्वमिडागमो वा निपात्यते। नेमशब्दो दानपर्य्यायः। सप्तम्येकवचनस्याकारादेशः (७, १, ३६)। "इन्द्रवरी नेमधिता हवन्ते (ऋ० सं० ५, ३, ११, १)" —"विदन्मर्त्तो नेमधिता चिकित्वान् (ऋ० सं० १, ५, १७, ४)"— "नेमधिता न पौंस्या (ऋ० सं० ८, ४, २८, १३)"—इति निगमाः॥

(१४) सङ्काः। सचतेर्गतिकर्मणः बाहुलकादङ्कप्रत्ययश्छिलोपश्च। यद्वा, संपूर्वात् किरतेः क्रन्ततेर्वा 'अन्येष्वपि दृश्यते (३,

२, १०१)'—इति डः। सङ्कीर्त्यन्तेऽत्र योद्धारः, सम्यक् कृत्यन्ते छिद्यन्ते आयुधैर्वा। "इषुधिः सङ्का पृतनाश्च सर्वाः (ऋ० सं० ५, १, १६, ५)'—इति निगमः।

(१५) समितिः। सम्पूर्वादितेः क्तिन्। "राजानः समिताविव (ऋ० सं० ८, ५, ६, १)"—इति निगमः॥

(१६) समनम्। सम एम अवैक्लव्ये (भू० प०)। समन्ति विक्लवा भवन्त्यस्मिन् शूराः। "ज्या इयं समने पारयन्ती (ऋ० सं ५, १, १६, ३)"—इति "वि या सृजति समनं (ऋ० सं० १, ४, ४, १)"—इति च निगमौ॥

(१७) मीळ्हे। "मीळ्हम्"—इति ,धननामसु व्याख्यातञ्च (२३१ पृ०)। मीळ्हार्थत्वात् संग्रामोऽपि मीळ्हम्। यद्वा, मीळ्हमस्मिन्नस्तीति 'लुगकारेकाररेफाश्च (४, ४, १२८ वा० २)'—इति मत्वर्थीयस्य लुक्। "प्रधने"—इत्यपठितमपि संग्रामनाम। प्रकीर्णान्यस्मिन्निति आभरणरूपेण चूडामणिकटकादिक्षेपात्। "समीळ्हे नर आजा हवन्ते (ऋ० सं० १, ५, ५, १)"—इति निगमः। 'समीळ्हे। स्परिरयुदकनाम। उदकार्थे संग्रामे आजौ अन्यस्मिन्नपि संग्रामे'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्। "स जामिभिर्यत्समजातिमीळ्हे (ऋ० सं० १, ७, १०, १)"—इति च॥।

(१८) पृतनाः। 'पृङ् व्यायामे (तु० आ०)' 'पृपूर्तां नित्' —इति तनन्प्रत्ययः। व्याप्रियन्तेऽत्र योद्धारः। "रणाय निघ्नन् पृतनासु शत्रून्"—इति निगमः।

(१६) स्पृधः। स्पर्द्ध सङ्घर्षे (भ्‍वा० आ०)। क्विब्वचिप्रच्छि (३, २, १७८ वा०)'—इत्यत्र 'प्राक् प्रत्ययनिर्देशाद्विप्रसिद्धिः (३, २, १७८ भा०)'—इत्युक्तेः क्विप्। पृषोदरादित्वात् रेफस्य ऋकारोऽल्लोपश्च। शसि स्पृधः। स्पर्द्धन्तेऽत्र परस्परं योद्धारः। "जयेम संयुधि स्पृधः (ऋ० सं० १, १, १५ ३)"—इति निगमः। स्पृध इति संग्रामनाम, तत्करोति (३, १, २५ वा० २)'—इति णिजन्तात् क्विप्, संग्रामकारिण इत्यर्थः—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्।

(२०) मृधः। 'अमर्द्धन्ता सोमपेयाय देवा (ऋ० सं० ३, १, २५, ४)'—'मिहो न वातममृधम् (ऋ० सं० ३, १४, १)'—इत्यादौ 'मृधिर्हिंसार्थः'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्। तत्र पूर्ववत् क्विप् शस्। "अयं सुतः सुमखमा मृधस्कः (ऋ० सं० २, ६, २१, ४)"—"वि न इन्द्र मृधो जहि (ऋ० सं० ८, ८, १०, ४)"—इति निगमौ॥

(२१) पृत्सु। पृतनाशब्दश्च संग्रामनामसु पठितोऽपि 'नासिकापृतनासानूनां नसुपृत्स्नवो वाच्याः (६, १, ६ ३ वा०)—इति पृदादेशे विकृतत्वात् पुनः पाठः। "यमग्ने पृत्सु मर्त्यम् (ऋ० सं० १, २, २३, २)"—इति निगमः।

(२२) समत्सु। सम्पूर्वादत्तेः क्विप् समाश्नयन्ति योधॄणामायूंषि। सम्पूर्वान्मदी हर्षे इत्यस्माद्वा क्विपि समो मलोपः। संहृष्यन्ति तत्र सुभटाः। "समत्सु त्वा हवामहे (ऋ० सं० ५, ८, ३६, ३)"—"धन्वना तीव्राः समदो जयेम (ऋ० सं० ५, १, १६, २)"—इति निगमौ।

(२३) समर्ये। मर्यशब्दो मनुष्यनामसु व्याख्यातः (१६६ पृ०)। मर्यैः मरणधर्मिभिः सह वर्त्तते, सहशब्दस्य सभावः। "मास्मैताद्गपगूहः समर्ये (ऋ० सं० ७, ७, १६, ४)"—"तवस्यधाव इयमासमर्ये (ऋ० सं० १, ५, ७, १)"—इति निगमौ॥

(२४) समरणे। सम्पूर्वात् 'ऋ सृ गतौ (भू० प०)'—इत्यस्मात् ल्युट्। "मां वृताः समरणे हवन्ते (ऋ० सं० ३, ७, १७, ५)"—इति निगमः॥

(२५) समोहे। 'उहिर् दुहिर् अर्दने (भू० प०)'। नञ्पूर्वादुहेर्घञ्। सम्यग्गृह्यन्ते अर्द्यन्तेऽत्र मिथो योद्धारः। 'अभिगव ओहम् (ऋ० सं० १, ४, २७, १)'—इत्यादौ वहेरिदं रूपमिति स्कन्दस्वामी। स च सम्पूर्वादुहेर्वापि पृषोदरादित्वात् सम्प्रसारणे लघूपधगुणः। समुह्यन्तेऽत्र रथादिना सुभटाः, सुभटैर्वा कवचानि। "समोहे वा य आशत (ऋ० सं० १, १, १६, १)"—इति निगमः। 'अन्तोदात्तं संग्रामनाम, मध्योदात्तं णमुलन्तम्'—इति माधवः। "इयर्त्ति रेणुं मघवा समोहम् (ऋ० सं० ३, ५, २३, ३)"—इति णमुलन्तम्।

(२६) समिथे। सम्पूर्वादेतेः 'समीणः (उ० २, १०)'—इति थक्। "यदन्यरूपः समिथे बभूथ (ऋ० सं० ५, ६, २५, ६)—" "स इन्महानि समिथानि मज्मना (ऋ० सं० १, ४, १६, ५)—" इति निगमौ॥

(२७) सङ्गे। सम्पूर्वात् चक्षिङः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डः, 'बहुलं सञ्ज्ञाच्छन्दसोः (२, ४, ५४ वा०)'

—इति ख्याञादेशः, पृषोदरादित्वाद्यकारलोपः। सम्पूर्वश्चक्षिर्वर्जनार्थः। सञ्चक्ष्यते कातरैः। यद्वा, सम्पूर्वात् अश्नोतेः 'डिच्च'—इति खप्रत्ययः, टिलोपेन धातुलोपः। समश्नुवतेऽस्मिन्नन्योन्यं योद्धारः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२८) सङ्गे। सम्पूर्वाद् गमेर्डः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)"—इति डः, पूर्ववद् वा। "सङ्गे समत्सु वृत्रहा (ऋ० सं० ८, ७, २१, १)"—इति निगमः॥

(२६) संयुगे। 'युजिर् योगे (रु० उ०)'। अत्र उक्थादिषु युग शब्दस्य पाठात् निपातनादगुणत्वम्, 'विशेषेऽसौ निपातनमिष्यते, कालविशेषे रथाद्युपकरणे च';—इति वृत्तिः। सङ्गता रथयुगा यस्मिन्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(३०) सङ्गथे। सम्पूर्वात् 'गूथ यूथ प्रोथ पृष्ठादयः'—इति थप्रत्ययान्तो निपात्यते। "आ ये वामस्य सङ्गथे (ऋ० सं० २, ८, ६, ५)"—इति निगमः॥

(३१) सङ्गमे। सम्पूर्वाद् गमेः 'ग्रहवृद्दृनिश्चिगमश्च (३, ३, ५८)'—इत्यप्। "जैत्रं यन्ते अनुमदाम सङ्गमे (ऋ० सं० १, ७, १४, ३)"—इति निगमः॥

(३२) वृत्रतूर्ये। वृत्रशब्दो मेघनाम, अत्रासुरः शत्रुवचनः। मेघनामसु व्याख्यातः (१० पृ०) 'तुरि गतित्वरहिंसयोः (दि० आ०) अघ्न्यादित्वात् (उ० ४, १०८)। वृत्रतूर्यतेऽनेनास्मिन् वा। "इन्द्रो वृणीत वृत्रतूर्ये"—"यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्ये"—इति निगमौ॥

(३३) पृक्षे। 'पृची सम्पर्के (रु० प०)'। 'सुवृधिरत्यृपिभ्यः कित् (उ० ३, ६२)'—इतिबाहुलकात् सप्रत्ययो भवति। सम्पृच्यन्तेऽस्मिन् परस्परं योद्धारः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(३४) आणौ। 'अण रण कवण शब्दार्थाः (भ्वा० प०)'। 'अविशिविपलिग्रसिजम्यणिपनिभ्य इण्'। रणवदर्थः। "त्वं शुष्णं वृजने पृक्ष आणौ (ऋ० सं० १, ५, ४ ३)"—इति निगमः। 'आणौ इति संग्रामनाम'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्।

(३५) शूरसातौ। 'शु गतौ (सौत्रः)'—इत्यस्मात् 'शुसिचिमीनां दीर्घश्च (उ० २, २४)'—इति रनप्रत्ययः। 'षणु दाने (त० उ०)'। 'ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्त्तयश्च (३, ३, ६७)'—इति सनोतेः 'जनसनखनाम् (३, ४, ४२)'—इत्यात्वे कृते स्वरो निपात्यते। स्यतेर्वा 'द्यतिस्यति (७, ४, ४०)'—इतीत्वाभावश्च। शूराणां सातिः वेतनादानं मरणं वा येन। "यः शूरसाता परितक्म्ये (ऋ० सं० १, २, ३३, १)"—इति निगमः॥

(३६) वाजसातौ। वाजोऽन्नं दीयते येन। "वृधे च नो भवतं वाजसातौ (ऋ० सं० १, ३, ५, ६)"—इति निगमः॥

(३७) समनीके। 'अन प्राणने (अदा० प०)'। अनिहृषिभ्यां किच्च (उ० ४, १७)'—इति ईकनप्रत्ययः। अनित्यनीकम्। यद्वा, नञ्पूर्वान्नयतेः 'पिपीलिकादयश्च (उ० ४, २५)'—इति निपात्यते। न नीयते न चाल्यते अनीकम् सेनाविशेषः। सङ्गतान्यनीकानि यस्मिन्। "भोजः शत्रून्त्समनीकेषु जेता (ऋ० सं० ८, ६, ४, ५)"—इति निगमः॥

(३८) खले। 'खज मन्थे (भू० प०)'। पुंसि सञ्ज्ञायां घः (३, ३, ११८)'। व्यत्ययेन जकारस्य लकारः। मन्थ्यन्ते हि योध्दारस्तत्र। 'स्खल सञ्चलने (भू० प०)'—इत्यस्माद्वा घः। व्यत्ययेन सकारलोपः। स्खलन्ति तत्र कातराः। "खले न पर्षान् प्रति हन्मि भूरि (ऋ० सं० ८, १६, २)"—इति निगमः॥

(३९) खजे। 'खज मन्थे (भू० प०)'। पूर्ववत् साध्योऽर्थश्च। "कर्मन् कर्मन्त्स्छतमूतिः खजङ्करः (ऋ० सं० १, ७, १५, १)"—इति निगमः॥

(४०) पौंस्ये। बलनामसु व्याख्यातम् (२३५ पृ०)'। अभिवर्द्धतेऽनेन। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४१) महाधने। 'मह पूजायाम् (भू० प०)'। 'वर्त्तमाने पृषद्वृहन्महज्जगच्छतृवच्च (उ० २, २७)'—इति निपातनम्। धविः प्रीणनार्थः (भू० प०)। इदित्त्वान्नुम्। पचाद्यच्। वकारलोपः, इकारस्याकारश्च पृषोदरादित्वात्। धिनोतीति धनम् प्रीणयतीति संग्रामो यद्द्वारा। महच्चासौ धनञ्च महाधनम्। महद्धनमर्थोऽनेनेति वा। "इन्द्रं वयं महाधने (ऋ० सं० १, १, १३ ५)"—"नास्य वर्त्ता न तरुता महाधने (ऋ० सं० १, ३, २१ ३)"—इति निगमौ॥

(४२) वाजे। वाजशब्दो व्याख्यातो बलनामसु (२३१ पृ०)। "इन्द्र वाजेषु नो अव (ऋ० सं० १, १, १३, ४)"—"तं त्वा वाजेषु वाजिनम् (ऋ० सं० १, १, ८, ३)"—इति निगमौ।

(४३) अज्म। अज गति क्षेपणयोः (भू० प०)'। मनिन्। "अग्निर्नादीदेचित इद्धो अज्मन्ना (ऋ० सं० १, ७, १६, २)" —इति निगमः। 'यज्ञगृहे युद्धे वा'—इति माधवः॥

(४४) सद्म। सदेर्मनिन्। अवसायन्तेऽत्र प्राणिनः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४५) संयत्। सम्पूर्वाद् यमेर्यतेर्वा औणादिकः क्विप्। यमेरनुनासिकलोपः तुगागमः। संयतन्ते संयच्छन्ति हयादीन्। "इलानः संयतं करत् (ऋ० सं० ५, ७, २, २)"। 'संयत् संग्रामः'—इति हरदत्तः। "आसंयत मिन्द्रणः स्वस्तिम् (ऋ० सं० ४, ६, १४, ५)"—इत्यत्र 'संयतं युद्धम्'—इति माधवः॥

(४६) संवतः। सम्पूर्वाद् वनेः सम्पदादित्वात् क्विप्, अनुनासिकलोपे तुगागमः। संवननीयो हि शूरैः संग्रामः। "परस्या अधि संवतः (ऋ० सं० ६, ५, २६, ५)"—"स संवतो नवजातस्तु तुर्यात् (ऋ० सं० ४, १, ७, ३)"—इति निगमौ॥

इति षट्चत्वारिंशत् संग्रामनामानि॥ १७॥

इन्वति (१)। नक्षति (२)। आक्षाणः (३)। आनट् (४)। आष्ट (५)। आपानः (६)। अशत् (७)। नशत् (८)। आनशे (९)। अश्नुतः (१०)। इति दश व्याप्तिकर्माणः॥ १८॥

(१) इन्वति। अत्र वधकर्मसु ऐश्वर्यकर्मसु च अनेकार्थत्वादिगतिकर्मादावुक्तमनुसन्धेयम्। 'इवि व्याप्तौ (भू० प०)'। "सधीनां योगमिन्वति (ऋ० सं० १, १, ३५, २)"—इति निगमः।

(२) नक्षति। 'नक्ष रक्ष गतौ (भू० प०)'। नक्षद्दाभंततुरिं पर्वतेष्ठाम् (ऋ० सं० ४, ६, १३, २)"—"वृद्धस्य चिद्वर्द्धतो द्यामिनक्षत (ऋ० सं० १, ४, १०, ४)"—इति निगमौ। इन्वति नक्षतीति व्याप्तिकर्मसु पठितस्य इकार आगम छान्दसः'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्।

(३) आक्षाणः। अश्नोतेर्लेटि शानच्। 'सिब्बहुलं लेटि (३, १, ३४)'—इति बाहुलकात् सिपि, उपधादीर्घश्च, व्रश्चादिषत्वे 'षढोः कः सि (८, २, ४१)' आदेशप्रत्यययोः (८, ३, ५९)' षत्वम्। आक्षाणे शूर वज्रिवः (ऋ० सं० ७, ७, ८, १)"—इति निगमः। भाष्यं द्रष्टव्यम्॥

(४) आनट्। 'णश अदर्शने (दि० प०)'। लुङि च्लेः 'मन्त्रे घसह्वरणश (२, ४, ८०),—इति लुक्। संयोगान्तलोपे (८, २, २३), व्रश्चादिषत्वे (८, २, ३६), जश्त्वम्। 'छन्दस्यपि दृश्यते (६, ४, ७३),—इति आडागमः। "किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानट् (ऋ० सं ८, ६, ५, १)"—"धर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानट् (ऋ० सं० ८, २, १६, १)"—इति निगमौ॥ यद्वा अश्नोतेर्लेटि षत्वे व्यत्ययेन दशो लुक्, मश्चादिना षत्वम्, 'झलांजशोऽन्ते (८, २, ३९)' 'वाऽवसाने (६, ४, ५६)'। "उपांशुना सममृतत्वमानट् (ऋ० सं० ३, ८, १०, १)—इति निगमाः॥

(५) आष्ट। अश्नोतेर्लुङि आत्मनेपदप्रथमपुरुषैकवचनम्। "आष्ट प्रविदार्थगाधम्"—इति निगमः

(६) आपानः। 'आप्लृ व्याप्तौ (स्वा० प०)' शानच्। अन्तते-र्वधकर्मणः 'तद्रूपम्' इति स्कन्दस्वामी। "आपानासो विवस्वतः (ऋ० सं० ६, ७, ३४, ५)"—इति निगमः। भाष्यं द्रष्टव्यम् (निरु० ३, १०)॥

(७) अशत्। अश्नोतेर्व्यत्ययेन लुङि च्लेः पूर्ववत् लुक्। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (६, ४, ७५)'—इत्यड्भावः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(८) नशत्। नशयतेर्लेटि 'लेटोऽडाटौ (३, ४, ६४)' 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु (३, ४, ६७)'। "स धीतये ते नशत्"—"न किः शवांसि ते नशन् (ऋ० सं० ६, ५, २, ३)"—इति निगमौ॥

(९) आनशे। अश्नोतेर्लिटि रूपम्। "न किः स्वस्य आनशे (ऋ० सं० १, ६, ६, १)"—इति निगमः॥

(१०) अश्नुते। "अततनूर्नतदामो अश्नुते (ऋ० सं० ७, ३, ८, १)"—"व्यश्नुहि तर्पया काममेषाम् (ऋ० सं० १, ४, १८, ४)"—इति निगमौ॥

इति दश व्याप्तिकर्माणः॥ १८॥

दभ्नोति (१)। श्नथति (२)। ध्वरति (३)। धूर्वति (४)। वृणक्ति (५)। वृश्चति (६)। कृणवति (७)। कृन्तति (८)। श्वसिति (९)।

नभते (१०)। अर्दयति (११)। स्तृणाति (१२)। स्नेहयति (१३)। यातयति (१४)। स्फुरति (१५)। स्फुलति (१६)। निवपन्तु (१७)। अवतिरति (१८)। वियातः (१६)। आतिरत् (२०)। तलित्। (२१)। आखण्डल (२२)। द्रूणाति (२३)। रमृणाति (२४)। शृणाति (२५)। शम्नाति (२६। तृणेढ्वहि (२७)। ताढ्वहि (२८)। नितोशते (२६)। निबर्हयति (३०)। मिनाति (३१)। मिनोति (३२)। धमति (३३)। इति त्रयस्त्रिंशत् वधकर्माणः ॥१६॥

व्याप्तिकर्मसु शाकपूणेरतिरिक्ता एव "विव्याक:"—"उरुव्यचाः"—"विभ्रे"—इति स्कन्दस्वामी ॥

(१) दभ्नोति। "दम्भु दम्भे" स्वादिः (प०)। "न त्वा धेता आ दभ्नुवन्ति भूर्णयः (ऋ० सं० १, ४, २०, २)"—इति निगमः ॥

(२) श्नथति। श्नथ क्नथ क्रथ हिंसायाम् (भू० प०)। श्नथद्वृत्रमुत सनोति वाजम् (४, ८, २७ १)"—"नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम् (ऋ० सं० ५, ६, २३, ५)"—इति निगमौ।

(३) ध्वरति।

(४) धूर्वति। 'तुर्वे थुर्वे दुर्वे धुर्वे हिंसार्थाः (भू० प०)'। 'उपधायाश्च (८, २, ७८)'—इति दीर्घः। "धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व (य० वा० सं० १, ८)"—इति निगमः॥

(५) वृणक्ति। वृजी वर्जने रुधादिः। "नि चक्रेण रथ्या दुष्पदा वृणक् (ऋ० सं० १, ४, १६, ४)"—इति निगमः॥

(६) वृश्चति। 'व्रश्च छेदने' तुदादिः। ग्रहिज्या (६, १, १६)' —इत्यादिना सम्प्रसारणम्। 'वृश्चा मध्यं प्रत्यग्रं शृणीहि (ऋ० सं० ३, २, ४, २)"—"विवृश्च वज्रेण वृत्रमिन्द्रः (ऋ० सं १, ४, २८, ५)"—इति निगमौ॥

(७) कृण्वति। 'कृवि हिंसाकरणयोः (भू० प०)' व्यत्ययेन 'धिन्विकृण्व्योरच (३, १, ८०)'—इत्येतन्न भवति॥

(८) कृन्तति। 'कृती छेदने (पा०)' तुदादिः। 'शेमुचादीनाम् (७, १, ५९)'। "वि दस्यूँर्योनावकृतो वृथाषाट् (ऋ० सं० १, ५, ४, ४)"—इति निगमः॥

(९) श्वसिति॥

(१०) नमते। 'णभ तुभ हिंसायाम्' (भू०) आत्मनेपदी। "नभन्तामन्यके समे (ऋ० सं० ६, ३, २२, १)"—इति निगमः॥

(११) अर्दयति। 'अर्द हिंसायाम्' (भू० प०) आधृषीयः। "वृत्रं विपर्वमर्दयत् (ऋ० सं० २, ५, ६, १)"—इति निगमः॥

(१२) स्तृणाति। 'स्तृञ् आच्छादने' क्र्यादिः रुधादिः। 'कदु वृत्रघ्नो अस्तृतम् (ऋ० सं० ६, ४, ४६, ५)"—इति निगमः॥

(१३) स्नेहयति। 'ष्णिह स्नेहने' चुरादिः। "यः स्नीहितीषु पूर्व्यः (ऋ० सं० १, ५, २१, २)"—इति निगमः। 'स्नेहयतिर्वधकर्मा'—इति स्कन्दस्वामी॥

(१४) यातयति। 'यति निकारोपस्कारयोः' चुरादिः। "अयातयन्त क्षितयो नवग्वाः (ऋ० सं० १, ३, २, १)"—इति निगमः॥

(१५) स्फुरति। (१६) स्फुलति। 'स्फुर स्फुरणे' 'स्फुल सञ्चलने' तुदादिः, कुटादिः। "पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् (ऋ० सं० १, ६, ६, ३)"—"आर्त्नी इमे विस्फुरन्ती अमित्रान् (ऋ० सं० ५, १, १६, ४)"—इति निगमः। 'स्फुरतीति वधकर्मसु पाठात्'—इति स्कन्दस्वामी॥

(१७) निवपन्तु। 'टु वप बीजसन्ताने (भू० उ०)'—इत्यस्मात् लोट्। "अन्यन्ते अस्मन्निवपन्तु सेनाः (ऋ० सं० २, ७, १८, १)"—इति निगमः॥

(१८) अवतिरति। तरतेर्लट् 'बहुलं छन्दसि (७, ४, ७८)—इतीत्वम्। "अयातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि (ऋ० सं० ४, ५, ११, १)"—"यदिन्द्र शारदीरवातिरः (ऋ० सं० २, १, २०, ४)"—इति निगमः॥

(१९) वियातः। 'तत्र वियात इत्येतद् वियातयन इति वियातयेति वा (निरु० ३, १०)'—इति भाष्ये स्कन्दस्वामी तस्य समाधिमर्थं व्याचष्टे—'विपूर्वस्य यातयतेर्वा ये प्रत्यये वियातय इति भवति धारयः पारयः इतिवत्। तस्य सम्बोधनम् वियातयेति। वियातयितरिति वा पाठान्तरम्—इति। धारय-

धाय्येति दृष्टान्तप्रदर्शनेन 'व्यत्ययो बहुलम् (३, १, ८५)'—इति अस्मादपि 'अनुपसर्गाल्लिम्पविन्द (३, १, १३८)'—इति सूत्रेण शप्रत्यय इति दर्शयति॥

(२०) आतिरत्। आङ्पूर्वात्तरतेर्लङ् पूर्ववत् इत्वम्। "इन्द्रः पूर्भिरातिरत् दासमर्कैः"—इति निगमः॥

(२१) तलित्। अन्तिकनामसु व्याख्यातम् (२७५ पृ०)॥

(२२) आखण्डल। 'खड खडि कडि भेदे (प०)' चुरादिः। अस्मादाङ्पूर्वात् 'मङ्गेरलच् (उ० ५, ७२)'—इति बाहुलकादलच्। "आखण्डल प्रहूयसे (ऋ० सं० ६, १, २४, २)"—इति निगमः॥

(२३) द्रूणाति। 'द्रू हिंसायाम्, क्र्यादिः। "तूर्वी मनु प्रसितिं द्रूणानः (ऋ० सं० ३, ४, २३, १)"—इति निगमः॥

(२४) रम्णाति। 'रमु क्रीडायाम्' भ्वादिरात्मनेपदी, व्यत्ययेन श्ना, परस्मैपदम्॥

(२५) शृणाति। 'शृ हिंसायाम्' क्र्यादिः प्वादिश्च। "शृणाति वीळुरुजति स्थिराणि (ऋ० सं० ८, ४, १५, १)"—इति निगमः॥

(२६) शम्नाति। 'शमु उपशमे' दिवादिः। व्यत्ययेन श्ना "शिशिरं जीवनायकम् (निरु० १, १०)"—इति निगमः। 'शिशिरं शृणातेः शम्नातेर्वा'—इति निरुक्तम् (१, १०)। 'शम्नातेः हिंसार्थस्य'—इति स्कन्दस्वामी॥

(२७) तृणेढ्यहि। 'तृहि हिंसायाम्' रुधादिः। लटि तिपि एकारभावः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२८) ताव्हि। 'तड़ आघाते' चुरादिः। लण्मध्यमः। पृषोदरादित्वात् रूपसिद्धि। "वि श्रृम्नन्ताव्हि वि मृधो नुदस्व (ऋ० सं० ८, ८, ३८, २)"—इति निगमः॥

(२९) नितोशते। तोशते नैरुक्तो धातुः। "मन्दी मदाय तोशते (ऋ० सं० ७,५, १३, ४)"—"इन्दुरिन्द्राय तोशते नितोशते (ऋ० सं ७, ५, २१, ११)"—"सुनासीरा हविषा तोशमानाः"—इति निगमाः॥

(३०) निवर्हयति। 'वर्हि हिंसायाम्' चुरादिः, निपूर्वः। "वर्हिष्यते नि सहस्राणि वर्हयः (ऋ० सं० १, ४, १६, १)"—इति निगमः॥

(३१) मिनाति, (३२) मिनोति (३३) धमति। गतिकर्मसु व्याख्याताः (२५६ पृ०)। "न ता मिनन्ति मायिनो न धीराः (ऋ० सं० ३, ४, १, १)"—"न मिनन्ति वेधसः"—"उशिग्भ्यो नामिमीत वर्णाम् (ऋ० सं० २, ५, २४, ५)"—इति मिनातेर्निगमाः। अत्र 'मिनातिर्वधकर्मा'—इति स्कन्दस्वामी। "द्यावा वर्णं चरत आमिनाने (ऋ० सं० १, ८, १, २)"—"उत द्विवर्हा अमिनः सहोभिः (ऋ० सं० ४, ६, ७, १)"—इति मिनोतेर्निगमौ। अनयोः, 'मिनोतिर्वधकर्मा'—इति स एव। "वि सप्तरश्मिरधमत्तमांसि (ऋ० सं० ३, ७, २६, ४)"—इति निगमः॥

इति त्रयस्त्रिंशत् वधकर्माणः॥ १९॥

दिद्युत् (१)। नेमिः (२)। हेतिः (३)। नमः (४)। पविः (५)। सृकः (६)। वृकः (७)। वधः (८)। वज्रः (९)। अर्कः (१०) कुत्सः (११)। कुलिशः (१२)। तुजः (१३)। तिग्मम् (१४)। मेनिः (१५)। स्वधितिः (१६)। सायकः (१७)। परशुः (१८)। इत्यष्टादश वज्रनामानि ॥ २० ॥

(१) दिद्युत्। 'द्युतदीप्तौ (भू० आ०)'। द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च (३, २, १७८ वा० २)'—इति क्विपि द्वित्वे, 'द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम् (७, ४, ६७)' इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम्। द्योतते उज्ज्वलत्वात्। द्यतेर्वा क्विपि पृषोदरादित्वात् रूपसिद्धिः। द्यति शत्रून्। "अस्तुर्न दिद्युत्त्वेष प्रतीका (ऋ० सं० १, ५, १० ४)"—"यथा वो दिद्युद्दति (ऋ० सं० २, ४, २, १)"—"या ते दिद्युदवसृष्ट (ऋ० सं० ५, ४, १३, ३)"—इति निगमः।

(२) नेमिः। नयतेः 'नियोमिः (उ० ४, ४३)'—इति मि प्रत्ययः। नयति शत्रून् विनाशं, नीयन्तेऽनेन वा पेश्वर्यात्। यद्वा, 'णमु प्रह्वत्वे (भू० प०)'। उत्सर्गाच्छन्दसि गमादिभ्यो दर्शनात् (३, २, १७१ भा०)'—इति किप्रत्ययः। लिड्वद्भावाद् द्विर्वचने 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि (६, ४, १२०)' सन्तर्णी-

तृण्यर्थो नमिः। नमयति शत्रून्। "अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुम् (ऋ० सं० ८, ८, ३६, १)"—इति निगमः॥

(३) हेतिः। हन्तेर्हिनोतेर्वा 'ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्त्तयश्च (३, ३, ९७)'—इति क्तिनि हन्तेर्नकारस्येत्वम्, हिनोतेर्गुणश्च निपात्यते। हन्यन्तेऽनेन शत्रवः, गम्यतेऽनेन जयः, वर्द्ध्यते चैश्वर्य्यम्। "ब्रह्मद्विषे तपुषिं हेतिमस्य (ऋ० सं० ३, २, ४, २)"—इति निगमः॥

(४) नमः। नमतेरसुन्। नेमिवदर्थः। निगमोऽन्वेषणीयः।

(५) पविः। पवतिर्गतिकर्मा। 'अच इः (उ० ४, १३४)'। गन्ता शत्रून् गम्यतेऽनेन यश इति च। "सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मम् (ऋ० सं० ८, ८, ३८, २)'—इति निगमः। सृकतिग्मशब्दावत्र क्रियाशब्दौ।

(६) सृकः। 'सृ गतौ (भू० प०)'। सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक् (उ० ३, ३६)—इति कप्रत्ययः। दर्शितनिगमः (ऋ० सं० ८, ८, ३८, २)॥

(७) वृकः। 'वृक आदाने (भू० आ०)' इगुपधलक्षणः कः (३, १, १३५)। आदत्ते शत्रुप्राणान्। वृणक्तेर्वा के पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) रूपसिद्धिः। हेतिवदर्थः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(८) वधः। 'जनिवध्योश्च (७, ३, ३५)—इति वृद्धिप्रतिषेधः। हेतिवदर्थः। "वृत्रस्य यद् भृष्टिमता वधेन (ऋ० सं०

१, ४, १४, ५)"—"इन्द्रो अस्या अवधर्जभार (ऋ० सं० १, २, ३७, ४)"—इति निगमौ ॥

(९) घन्नः। 'व्रज गतौ (भू० प०)'। ऋज्रेन्द्र (उ० २, २७)'—इत्यादिना रन्प्रत्ययान्तो निपात्यते। यद्वा, वृणक्तेर्हेतुमण्ण्यन्तात् रक्, गुणे, प्राप्तस्य रेफस्य लोपः। घर्जयति प्राणैः शत्रून्। अन्ये घर्जयतिमेव विनाशार्थमाहुः विनाशयति शत्रून्। त्वष्टास्मै घन्न' स्वर्यन्ततक्षः (ऋ० सं० १, २, ३६, २)"—इति निगमः ॥

(१०) अर्कः। 'अर्च पूजायाम्' (भू० प०)। 'कृदाधाराचिकलिभ्यः कः (उ० ३, ३८)'—इति कप्रत्ययः। 'चोः कुः (८, २, ३०)। "इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैः (ऋ० सं० ३, २, १५, १)—इति निगमः ॥

(११) कृत्सः। कृन्ततेः। 'स्तुवृश्चिकृत्यृषिभ्यः कित् (उ० ३, ६३)'—इति सप्रत्ययः। कृन्ततेरकारस्य बाहुलकादुत्वम्। कृन्तति शत्रून्। यद्वा, 'कुत्स क्षेपणे' चुरादिरात्मनेपदी। घञ्। कुत्सयत्यनेन शत्रून्। "सद्यो दस्यून् प्रमृण कुत्स्येन। (ऋ० सं० ३, ५, १६, २)"—इति निगमः। यकार उपजनः ॥

(१२) कुलिशः। 'कुलपर्वतान् श्यति पक्षच्छेदेन तनूकरोति' —इति स्कन्दस्वामी। क्षीरस्वामी—कुलशब्दउपपदे श्यतेः 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)' पृषोदरादित्वात् अकारस्येकारः। यद्वा, कुलशब्दोपपदादन्तर्णीतण्यर्थात् 'शद्लृ शातने (भू० तु० प०)'—इत्यस्मात् 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डः,

पूर्ववदिकारः। मेघस्यान्तं पर्वतस्य वा समुच्छ्रिताः प्रदेशाः कुलानीव, तेषां शातनात्। "स्कन्धांसीव कुलिशेनाविवृक्णाहिः (ऋ० सं० १, २, ३६, ५)"—इति निगमः॥

(१३) तुजः। तुजेः पचाद्यच्। हेतिवदर्थः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१४) तिग्मम्। 'तिज निशाने' चुरादिः। 'युजिरुचितिजां कुश्च (उ० १, १४३)'—इति मक्प्रत्ययः कुत्वञ्च। तिज्यते तीक्ष्णीक्रियते। 'तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मणः तीक्ष्ण ह्यायुधं योद्धारमुत्साहयति तिग्मशातनः'—इति माधवः। "वि तिग्मेन वृषभेणा पुरोभेत् (ऋ० सं० १, ३, ३, ३)—इति निगमः।

(१५) मेनिः। मन्यतेः कान्तिकर्मणः 'उत्सर्गतश्छन्दसि गमादिभ्यो दर्शनात् (३, २, १७१ भा०)'—इति क्तिप्रत्ययः। नैमित्तन् प्रक्रिया। काम्यते हि आयुधम्। यद्वा, 'मिञ् हिंसायाम् (प्रया० उ०)' 'चीज्याहवरिम्यः (उ० ४, ४८)'—बाहुलकात् निप्रत्ययः। हेतिवदर्थः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१६) स्वधितिः। स्वशब्दोपपदात् 'धि धारणे (तु० प०)' इत्यस्मात् क्तिन्। स्वं धनं धीयतेऽनेन। "न स्वधितिर्वनन्वति (ऋ० सं० ६, ७, १२, ४)"—इति निगमः॥

(१७) सायः। 'षोऽन्तकर्मणि (दि० प०)'। ण्वुलि वृद्धौ 'आतो युक् चिण्कृतोः (७, ३, ३३)'। शत्रूणामन्तकरः। 'षिञ् बन्धने (स्वा० उ०)'—इत्यस्माद्वा ण्वुल्। बध्नाति स्थिरीकरोतीति सद्म ऐरावण्यादि। "पुरीविणं सायकेना हिरण्यम्

(ऋ० सं० ८, १, ५, ५)"—"न सायकस्य चिकिते जनासः (ऋ० सं० ३, ३, २३, ३)"—इति निगमौ ॥

(१८) परशुः। 'शृ हिंसायाम् (क्र्या० प०)'। 'आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च (उ० १, ३२)'—इति कुप्रत्ययः। डित्वाट्टिलोपः। 'परान् शृणातीति परशुः'—इति दण्डनाथवृत्तिः। 'परान् श्यतीति परशुः'—इति क्षीरस्वामी। तत्र मृगय्वादित्वात् (उ० १, ३६) कुः। "शिशीते ननं परशुं स्वायसम् (ऋ० सं० ८, १, १४, ३)"—अमीदु शक्रः परशुर्यथावनम् (ऋ० सं० ५, ७, ६, ४)"—इति निगमौ ॥

इत्यष्टादश वज्रनामानि ॥ २० ॥

इरज्यति (१)। पत्यते (२)। क्षयति (३)। राजति (४)। इति चत्वार ऐश्वर्यकर्माणः ॥२१॥

(१) इरज्यति। कण्ड्वादिः। "स पर्वतःर्पणी वसूनामिरज्यति (ऋ० सं० १, १, १४, ४)"—"मही नृमणस्य धर्मणामिरज्यसि (ऋ० सं० १, ४, १६, ३)"—इति निगमौ ॥

(२) पत्यते। नैरुक्तधातुः। दिवादौ 'तप ऐश्वर्ये वा' इत्यस्य स्थाने 'पत ऐश्वर्ये' इति केचित् पठन्ति। "उग्रं शवः पत्यते धृष्ण्वोजः (ऋ० सं० ३, २, १६, ४)"—"ऋतयामानियुतः पत्यमान (ऋ० सं० ४, ८, ५, ४)"—इति निगमौ ॥

(३) क्षयति। "सेदु राजा क्षयति चर्षणीनाम् (ऋ० सं० १, २, ३८, ५)"—इति निगमः ॥

(४) राजति। 'राजृ दीप्तौ (भ्वा० उ०)' स्वरितेत्। "श्रिया-विश्वा विराजति (ऋ० सं० १, १, ६, ३)"—"राजन्तमध्वराणाम् (ऋ० सं० १, १, २, ३)"—इति निगमौ॥

इति चत्वार ऐश्वर्यकर्माणः॥ २१॥

राष्ट्री (१)। अर्य्यः (२)। नियुत्वान् (३)। इनइन (४)। इति चत्वारीश्वरनामानि॥ २२॥

(१) राष्ट्री। राजतेरैश्वर्य्यकर्मणः (निघ० २, २१, ४)। "ष्ट्रन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, १५४)"—इति ष्ट्रन् प्रत्ययः। व्रश्चादिना (८, २, ३६) षत्वम्। षित्वात् ङीष् (४, १, ४१)। "राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा (ऋ० सं० ६, ७, ५, ४)"—इति निगमः॥

(२) अर्य्यः। 'ऋ गतौ (भ्वा० प०)'—इत्यस्मात् ण्यति प्राप्ते 'अर्य्यस्वामिवैश्ययोः (३, १, १०३)'—इति यन्निपात्यते। गम्यते हि सर्वैरीश्वरः। "समर्य्यो गा अजति यस्य वष्टि (ऋ० सं० १, ३, १, १)"—मंहिष्ठो अर्य्यः सत्पतिः (ऋ० सं० ६, १, २५, ६)"—इति निगमौ॥

(३) नियुत्वान्। नियुच्छब्दो व्याख्यातः 'नियुतो वायोः' इत्यत्र (१७१ पृ०)। नियुतोऽश्वाः ताभिस्तद्वान्। 'तसौ मत्वर्थे (१, ४, १९)'—इति भसंज्ञाया विधानाज्जश्त्वम् न भवति। "अतो नो यज्ञमवसे नियुत्वान् (ऋ० सं० ४, ७, १२, ५)"—इति निगमः॥

अस्य स्थाने "पति."—इति केचित् पठन्ति। तत्र 'पा रक्षणे (अदा० प०)' 'पातेर्डतिः (उ० ४, ५७)'। रक्षिता ईश्वरः। 'पिता पाता वा पालयिता वा'—इति भाष्ये (निरु० ४, २१) अत्र पातेर्ण्यन्ताद् बाहुलकात् डतिः रूपसिद्धिश्च स्कन्दस्वामिना उक्ता। "शिप्रिन् वाजानां पते (ऋ० सं० १, २, २७, २)"—इति निगमः॥

(४) इनः। एतेः सम्भाजनार्थे वर्त्तमानात् समुपसर्गार्थविशिष्टात् 'इण्सिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् (उ० ३, २)'—इति नक् प्रत्ययः। अर्थस्तु 'तत्रेन इत्येतरसनितः (निरु० ३, ११)'—इत्यत्र स्कन्दस्वामिना विस्तरेणोक्तः। "इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः (ऋ० सं० २, ३, १८, १)"—इति निगमः॥

इति चत्वारीश्वरनामानि॥ २२॥

इति श्रीदेवराजयज्वविरचिते नैघण्टुककाण्डनिर्वचने द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः॥ २॥

अपस्तुङ्मनुष्याआयरयग्नु वो वरुन्यन्ध आवयत्योजोमघमन्न्यारेलतेहेलोवर्त्ततेनुतलिद्रण इम्वतिदभ्नोतिदिद्यु दिरज्यति राष्ट्रीति द्वाविंशतिः॥

इति निघण्टौ द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः॥२॥

०—०—०

अथ तृतीयोऽध्यायः ।



उरु (१) । तुवि (२) । पुरु (३) । भूरि (४) शश्वत् (५) । विश्वम् (६) । परीणसा (७) । व्यानशिः (८) । शतम् (९) । सहस्रम् (१०) । सलिलम् (११) । कुवित् (१२) । इतिद्वादश बहुनामानि ॥ १ ॥

(१) उरु । उर्विति पृथिवीनामेति उरुशब्दो व्याख्यातः । आच्छाद्यते ह्यनेनाल्पम् । "उरु णस्तुरुणस्कृधि: (ऋ० सं० ६, ५, २६, १)"—इति निगमः ॥

(२) तुवि । तवतिर्वृद्ध्यर्थः । सौत्रो धातुः । 'अच इः (उं० ४, १३४)' । वृद्धिर्हि बहुः । "तुविजाता उरुक्षया (ऋ० सं० १, १, ४, ४)"—इति निगमः ॥

(३) पुरु । पृणातेः 'पृभिदिव्यधिगृधिधृषिभ्यः (उ० १, २३)'—इति कुप्रत्ययः । 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७, १, १०२)'—इति उत्वम् । "पुरुत्रेव बहुः पुरुभुजा चनस्यतम् (ऋ० सं० १, १, ५, १)"—निगमः ॥

(४) भूरि। भवतेः 'अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन् (उ० ४, ६५)' —इति क्रिन्प्रत्ययः। भवति तत् सर्वस्यानुग्रहदा। "यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः (ऋ० सं० २, २, २४, ५)"—इति निगमः॥

(५) शश्वत्। 'टु ओ श्वि गतिवृद्ध्योः (भू० प०)'। 'संश्च त्कृपद्बृहत् (उ० २,७१)'—इत्यादिना द्विर्वचनम्, अभ्यासवकारेकारेकारस्याकारो डित्त्वमाद्युदात्तत्त्वञ्च निपात्यते। परिवर्द्धते गम्यते वा। "अहं धनानि सञ्जयामि शश्वतः (ऋ० सं० ८, १, ५, १)"—"यच्चिद्धि शश्वता तना (ऋ० सं० १, २, २१, १)" —इति निगमौ॥

(६) विश्वम्। (७) परीणसा।

(८) व्यानशिः। विपूर्वादश्नोतेरुत्सर्गतश्छन्दसि गमादिभ्यो दर्शनात् (३, २, १७१ भा०)'—इति किः। द्वित्वम्। अत आदेः अश्नोतेश्च। विविधं व्याप्नोति। "व्यानशिः पवसे सोमधर्मभिः (ऋ० सं० ७, ३, १२, ५)"—इति निगमः॥

(९) शतम्। 'पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम् (५, १, ५९)'—इति दशदशांशमात्रस्त च निपात्यते। "दशदशतः" इति निरुक्तम् (३, १०)। निपातनसामर्थ्यात् बहुमात्रेऽपि वर्त्तते। "वाजयामः शतक्रतो (ऋ० सं० १, १, ८, ४)"—इति निगमः॥

(१०) सहस्रम्। सहो बलनामसु व्याख्यातम् (२३४ पृ०)। रो मत्वर्थीयः। अल्पापि भाविनी शक्तिरस्मिन्नस्ति। "सहस्राक्षरा परमे व्योमन् (ऋ० सं० २, ३, २२, १)"—इति निगमः॥

(११) सलिलम्। व्याख्यातमुदकनामसु (११७ पृ०)। गम्यते हि जलवत्। "प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् (ऋ० सं० ८, ७, १७, ३)"—इति निगमः। 'सलिलमिति बहुनाम। सलिलं कुविदिति पाठात्'—इति हरदत्तः॥

(१२) कुवित्। निपातोऽयम्। "कुवित् सोमस्यापामिति (ऋ० सं० ८, ६, २६, २)—इति निगमः॥

इति द्वादश बहुनामानि ॥ १ ॥

ऋहन् (१)। ह्रस्वः (२)। निघृष्वः (३)। मायुकः (४)। प्रतिष्ठा (५)। कृधु (६)। वम्रकः (७)। दभ्रम् (८)। अर्भकः (९)। क्षुल्लकः (१०)। अल्प (११)। इत्येकादश ह्रस्वनामानि ॥ २ ॥

(१) ऋहन्। 'रुह बीजजन्मनि (भू० प०)'—'रह त्यागे' (भू० प०)'। अनयोः 'संश्चत्तृपद्वेहदित्यादयः (उ० २, ७६)'—इति रेफस्य सम्प्रसारणम्, इतिप्रत्ययः, शतृवद्भावश्च निपात्यते। तत्र, दण्डनाथवृत्तिः—'आदिग्रहणाद्रिहद्वियदित्यादयो भवन्ति'—इति। आरुह्यते हि ह्रस्वो वृक्षादिः, त्यज्यते वा दीर्घार्थिभिः। "बृहन्तं चिदृहते रन्धयानि (ऋ० सं० ७, ७, २१, ३)"—इति निगमः॥

(२) ह्रस्वः। 'सर्वनिघृष्वरिष्वलष्वशिवपद्वप्रह्वेष्वा अतन्त्रे' —इति वन्प्रत्ययान्तो निपात्यते। ह्रसतिः शब्दार्थे पठितः, तथाप्यत्र न्यूनार्थे वर्त्तते। "नमो ह्रस्वाय च वामनाय च (य० वा० सं० १६, ३०)"—इति निगमः॥

(३) निघृष्वः। घृषु सङ्घर्षे (भ्वा० प०)'। अत्र न्यूनार्थः। इगुपधलक्षणः कः। ह्रस्ववदर्थः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४) मायुकः। 'डु मिञ् प्रक्षेपणे (स्वा० उ०)'। 'कृवापा (उ० १, १)'—इत्युण्। स्वार्थे कः। प्रक्षिप्यतेऽनायासेन। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(५) प्रतिष्ठा। प्रतिपूर्वात् तिष्ठतेर्न्यूनार्थात् 'घञर्थे कवि-धानम् (३, ३, ५८ वा०)'—इति वाहुलकात् कर्त्तरि कः। प्रतितिष्ठति। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(६) कृधु। 'कृती छेदने (रु० प०)'। 'पृभिदिव्यधिगृधि धृषिभ्यः (उ० १, २३)'—इत्यादिना बाहुलकात् कुप्रत्ययस्त-कारस्य धकारश्च। 'निकृत्तमिव हि तद् भवति ह्रस्वत्वादेव'—इति स्कन्दस्वामी। "यो अस्कृधोयुरजरः स्वर्वान् (ऋ० सं० ४, ६, १३, ३)"—इति निगमः॥

(७) वम्रकः। 'टु वम उद्गिरणे (भ्वा० प०)' न्यूनार्थः। 'स्फायितञ्चिवञ्चि (उ० २, १३)'—इत्यादिना बाहुलकाद्रक्। ततः स्वार्थे कः (५, ३, ६७)। "वम्रकः पद्भिरुपसर्पदिन्द्रम् (ऋ० सं० ८, ५, १५, ६)"—इति निगमः। "स्तवानो वम्रो विजयान मन्दिरः (ऋ० सं० १, ४, १०, ४)"—इत्यत्र 'वम्रः

ह्रस्वनामैतत् द्रष्टव्यम्। स्वार्थिककप्रत्ययान्तो ह्रस्वनामसु पठितम्' इति स्कन्दस्वामी॥

(८) दभ्रम्। दभतिर्न्यूनार्थः। 'स्फायितञ्चिवञ्चि (उ० २, १२)'—इति रक्। 'नेड्वशि कृति (७, २, ८)'—इतीत्व-प्रतिषेधः। दभ्रं पश्यद्भ्य उर्विया विचक्ष (ऋ० सं० १, ८, १, ५)"—इति निगमः॥

(९) अर्भकः।

(१०) क्षुल्लकः। क्षुधं लाति। 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)'। स्वार्थे कः। 'क्षुधं लाति क्षुल्लकः'—इति क्षीरस्वामी। "नमो महद्भ्यः क्षुल्लकेभ्यश्च क्षुल्लका शिपिविष्टका"—इति निगमः॥

(११) अल्पः। 'अलं भूषणपर्याप्तिवारणेषु'। 'अलितलि-शीङ्लूपाभ्यः पः'—इति पः। "अल्पा एनं पशवो भूजन्त उपतिष्ठेरन्—इति निगमः॥

इत्येकादश ह्रस्वनामानि॥ २॥

महत् (१)। ब्रध्नः (२)। ऋष्वः (३)। वृहत् (४)। उक्षितः (५)। तवसः (६)। तविषः (७)। महिषः (८)। अभ्वः (९)। ऋभुक्षाः (१०)। उक्षाः (११। विहायाः (१२)।

यह्वः (१३)। ववक्षिथः (१४)। विवक्षसे (१५)। अम्भृणः (१६)। माहिनः (१७)। गभीरः (१८)। ककुहः (१९)। रभसः (२०)। ब्राधन् (२१)। विरप्शी (२२)। अद्भुतम् (२३)। वंहिष्ठः (२४)। वर्हिषत् (२५) इति पञ्चविंशतिर्महन्नामानि ॥३॥

(१) महत्। 'माननेनान्यान् जहातीति शाकपूणिर्महनीयो भवतीति वा (निरु० ३, १३)'—इति भाष्यम्। 'मानेन स्वगुणेन परिमाणेन अन्यान्, यदपेक्ष्य तस्य महत्त्वं, तान् जहाति अतिक्रामति मानशब्दात् जहातेश्चेति शाकपूणिः। निर्वचनलाघवात् मंहतेः पूजाकर्मणो वदत्याचार्यः'—इति स्कन्दस्वामी। उभयत्रापि 'वर्त्तमाने पृषद्वृहन्महत् (उ० २, ३८)'—इत्यतिप्रत्यये निपातनाद्रूपसिद्धिः। "महत्तदुल्वं स्थविरं तदासीत् (ऋ० सं० ८, ५, १०, १)"—इति निगमः॥

(२) ब्रध्नः। व्याख्यातमश्वनामसु (१६५ पृ०)। बध्नाति स्वगुणैः सर्वान् वेतनदानेन भृत्यादीन्। "युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषञ्चरन्तम् (ऋ० सं० १, १, ११, १)"—इति निगमः॥

(३) ऋष्वः। 'ऋष गतौ (तु० प०)'। सर्वनिघृष्व (उ० १५१)'—इति वनप्रत्ययो गुणाभावश्च निपात्यते। गम्यते हि महान् सर्वैः गतो वा भूमिम्। इमावर्थौ गत्यर्थेषु योद्धव्यौ। 'ऋषिर्दर्शनात् (निरु० २, ११)'—इति भाष्यादपि दर्शनार्थम्

दर्शनीयो हि महान्। "ऋष्वात इन्द्र स्थविरस्य बाहू (ऋ० सं० ४, ७, ३१, ३)"—इति निगमः॥

(४) बृहत्। 'बृहि वृद्धौ (भू० प०)' 'वर्तमाने पृषद्बृहत् (उ० २, ७८)'—इति निपातनम्। परिवृद्धं भवति हि महत्त्वम् वर्द्धतेऽस्मिन्नैश्वर्य्यादि वर्द्धतेऽनेन समाश्रितः। वृद्ध्यर्थेष्वेव-मर्थो बोद्धव्यः। "बृहद्वदेम विदथे सुवीराः (ऋ० सं० २, ५, १६, ६)"—"उरोऋष्वस्य बृहतः (ऋ० सं० १, २, १७, ४,)"—इति निगमौ। उरोऋष्वस्येत्यत्र 'ऋष्वस्य महन्नाम बलवतः, बृहतः एतदपि महन्नामैव। वेगसम्बन्धेन न च पुनरुक्तिः। महतःवेगेन शीघ्रस्येत्यर्थः'—इतिस्कन्दस्वामिभाष्यम्॥

(५) उक्षितः। 'उक्षतिर्विध्यर्थः'—इतिस्कन्दस्वामी। निष्ठा-यामिडागमः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(६) तवसः। तवतिर्वृद्ध्यर्थः। 'अत्यविचमितमिनमिर-भिलभिनभितपिपतिपनिपणिमहिभ्योऽसच् (उ० ३, ११३)'। "रजस्तुरं तवसं मारुतं गणम् (ऋ० सं० १, ५, ८, २)"—"तन्त्वा गृणामि तवस मतव्यान् (ऋ० सं० ५, ६, २५, ५)"—इति निगमौ॥

(७) तविषः। तवतेरेव। 'तवेर्णिद्वा (उ० १, ४८)'—इति टिषच्प्रत्ययः। "सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः (ऋ० सं ४, ८, ३०, २)"—इति निगमः॥

(८) महिषः। महते 'अविमह्योष्टिषच् (उ० १, ४५)' महद-र्थः। यद्वा, महतेः क्विप्, सप्तम्येकवचनम्, सदेः 'अन्येष्वपि

दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डप्रत्ययः, 'तत्पुरुषेकृति बहुलम् (६, ३, १४)'—इति अलुक्, 'सुषामादिषु च (८, ३, ९८)'—इति षत्वम्। महि महति स्थाने सीदन्नास्ते महिषः। "महिषासो मायिनश्चित्रभानवः (ऋ० सं० १, ५, ७, २)"—इति निगमः॥

(९) अम्व। व्याख्यातमुदकनामसु (१४३ पृ०)। आ समन्तात् भवतीति कीर्तिमत्वात्। यद्वा, भवतेः सत्तार्थात् प्राप्त्यर्थाद्वा नञ्पूर्वात् 'नञिभुवो डित्'—इति क्नप्रत्ययः। न भवत्यनेनोपद्रवोऽस्मिन्निति वा न प्राप्यते लेशैः। "न ये वातस्य प्रमिनन्त्यभ्वम् (ऋ० सं० १, २, १४, १)"—आ यो नो अम्व ईयते (ऋ० सं० १, ३, १६, ३)"—इति निगमौ॥

(१०) ऋभुक्षाः। 'ऋ गतौ (भू० प०)। 'अर्त्तेर्भुक्षि नक्' —इति भुक्षिनक्प्रत्ययः। पथिमथ्यृभुक्षामात् (७, १, ८५)' 'इतोऽत् सर्वनामस्थाने (७, १, ८६)'। उरु विस्तीर्णं भाति, ऋतेन सत्येन यज्ञेन वा भाति भवति वा, ऋभुः मेधावी महत् स्थानं वा। उरुशब्दादुपपदाद् भातेर्भवतेर्वा 'मृगय्वादयश्च (उ० १, ३६)' —इति कुप्रत्ययः पूर्वपदस्य उवर्णादिलोपः सम्प्रसारणञ्च निपात्यते। क्षयतेरैश्वर्यकर्मणः क्षियतेर्वा 'वृतेश्छन्दसि (उ० ४, १३६)' —इति बाहुलकादिनि टिलोपश्च। ऋभूणां क्षयति ईष्टे, ऋभौ महति स्थाने निवसति वा। "त्वमृभुक्षानर्यस्त्वं पाद् (ऋ० सं० १, ५, ४, ३)—इति निगमः॥

(११) उक्षा। उक्षतेर्वृद्ध्यर्थात् 'श्वन्नुक्षन्पूषन् (उ० १, १५५)'—इति कनप्रत्ययान्तो निपात्यते। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१२) विहायाः। वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि (उ० ४, २१५)'—इति जहातेर्जिहीतेर्वा बाहुलकात् युगभावेऽपि युगागमो निपात्यते। "कृष्णादुदस्थादर्याऽ विहायाः (ऋ० सं० २, १, ४, १)"—इति निगमः॥

(१३) यह्वः। यजतेः 'शेवयह्वजिह्वाग्रीवाप्वामीवा (उ० १, १५२)'—इति वन्प्रत्ययो जकारस्य हकारश्च निपात्यते। यजते देवपूजादिकं करोति। यद्वा, 'यसु प्रयत्ने (दि० प०) 'यसोश्च'—इति कन्प्रत्ययः'—इति भोजदेवः। यस्यति प्रयत्यते शत्रुत्वाज्जयादौ। 'यह्व इति महतो नामधेयम् यातश्च, हूतश्च भवति'—इति (निरु० ८, ८) भाष्ये 'यातश्चासावाहूतश्च यार्थिभिः, हूतश्चासौ शरणार्थिभिः, द्विधातुजत्वं दर्शितम्' इति स्कन्दस्वामी। ततोऽत्र यातेर्ह्वयतेश्च 'गेहे कः (३, १, १४४)' इति बाहुलकात् भूते कप्रत्ययो ह्वयतेः सम्प्रसारणाभावश्च। "प्रवो यह्वं पुरूणाम् (ऋ० सं १, ३, ८, १)—इति निगमः।

(१४) ववक्षिथ। (१५) विवक्षसे। 'तत्र ववक्षिथ विवक्षस इत्यते (निरु० ३, १३)'—इत्यादि भाष्ये अनयोराख्यातयोर्महन्नामसु पठनीयत्वं महद्वाचकत्वं चोपपादितम् स्कन्दस्वामिना। ववक्षिथेत्यत्र 'सन्यत (८, ४, ७६)"—इतीत्वाभावः, एकवचनस्य स्थाने बहुवचनम्, क्षकारात् परस्याकारस्येत्वञ्च व्यत्ययेन। "अतिविश्वं ववक्षिथ (ऋ० सं० १, ६, १, ५)"—"शीरं पावकशोचिषं विवक्षसे (ऋ० सं० ७, ७, ४, १)"—इति निगमौ॥

(१६) अम्भृणः। अमतेः क्विप्। विभर्त्तेः 'इर्णसिभृजिदि- (उ० ३, २)'—इत्यादिना बाहुलकात् नप्रत्ययः। "पिशङ्गभृष्टि- मम्भृणम् (ऋ० सं० २, १, २२, ५)"—इत्यत्र 'अम्भृणस्य महतः फलस्य हेतुभूता'—इति स्कन्दस्वामी ॥

(१७) माहिनः। महतेः। 'महेरिनण् च (उ० २, ५३)' —इति इनण्प्रत्ययः। "प्रत्यो न हर्मिस्तोमं माहिनाय (ऋ० सं० १, ४, २७, १)"—इति निगमः ॥

(१८) गभीरः। षाड्नामसु व्याख्यातम् (६६ पृ०)। प्रति- ष्ठितो महति स्थाने लिप्यन्ते। "उरुव्यचा परिमिता गभीरम् (ऋ०- सं० १, ७, २६, २)"—इति निगमः ॥

(१९) ककुहः। 'ककु सहने'। 'ककेरुहः'—इति उह प्रत्ययः सहते अभिभवति शत्रून् सहते क्षमतेऽपराधान् वा। "यन्यन्ते वो ककुहासः (ऋ० सं० १, ३, २२, ३)"—इति निगमः। 'ककुहः इति महन्नाम'—इति स्कन्दस्वामी ॥

(२०) रभसः। 'रभ राभस्ये' (भू० आ०)। 'अत्यविच- मितमिनमिरमिलमिनगितपियतिपनियणिमहिभ्योऽसच् (उ० ३, ११३)'। रभते महान्ति कर्माणि, संरभ्यते वा शत्रुषु। "अपैनं वृका रभसासो अद्यः (ऋ० सं० ८, ५, ३, ४)"—इति निगमः ॥

(२१) बाधन्। बन्धतेः 'संश्चत्तृपद्वेहदित्यादयः (उ० २, ७६)' —इतीति प्रत्ययः आ आगमश्च निपात्यते। "स बाधतोनमृधो दंसुजूनः (ऋ० सं० २, १, २, ४)"—इति निगमः ॥

(२२) विरप्शी। 'रपलप व्यक्तायां वाचि (भू० प०)' विपूर्वः। 'रपभृकम्यमिकुस्यः शक्'—इति बाहुलकात् शक्। विविधं रपतीति विरप्शाः तेऽतारः, तोऽस्य सन्ति इति विरप्शी। यद्वा, विविधं रपणं तदस्यास्ति वा। महि महः इत्यसुप्नन्तपाठश्च। विरप्शी गोमती मही (ऋ० सं० १, १, १६ ३)"—इत्यादीनारान्तोपादानं सन्देहनिवृत्त्यर्थम्। "क्रत्वे अपिवो विरप्शीन् (ऋ० सं० ४, ७, १२, २)"—"विरप्शिने वज्रिणे शन्तमानि (ऋ० सं० ४, ७, ४, १)"—इति निगमौ।

(२३) अद्भुतम्। भू सत्तायाम् (भू० प०)। 'अदि भुवो डुतच् (उ० ५, १)'। 'अदित्याश्चर्य्यार्थोऽव्ययम्'—इति क्षीरस्वामी। तत्र सम्पूर्वाद् विभर्त्तेर्वा बाहुलकात् डुतन् प्रत्यये समोऽभावश्च। सम्यक् पोषितो धनादिभिः, सम्यक् विभर्त्या श्रितेनेति वा। "सदसस्पतिमद्भुतम् (ऋ० सं० १, १, ३५, १)"—वपट्कृतस्याद्भुतस्य दस्रा (ऋ० सं० १, २, २२, ४)"—इत्यत्र 'महन्नामाद्युदात्तः स्यादत्राश्चर्यभूतेऽन्तोदात्तः स्वरः'—इति माधवः। "तव स्तुतीपमद्भुतम् (ऋ० सं० २, २, ११, ४)"—इति निगमः॥

(२४) वंहिष्टः। 'वहि महि वृद्धौ' (भू० आ०)' लङ्कि वंहोर्नलोपश्च।(उ० १, २८)'—इति वहुपदम्, तत इष्ठन्प्रत्ययः। 'वंहतेर्वहुलम् मत्वर्थीयः—इति क्षीरस्वामी। अतिशयेन वहुलो वंहिष्ठः। 'प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुल (६, ४, १५७)'—इत्यादिना वंहादेशः। यद्वा, 'निचुलवञ्जुलवकुलमूलपृथुलविसस्थूलादयः'—इति वहिरु-

रुच्प्रत्ययो नलोपश्च निपात्यते। अन्यत् पूर्ववत्। "यद्दुर्वंहिष्ठम् नाति विधेसुदानू (ऋ० सं० ४, ४, ३१, ३)"—इति निगमः॥

(२५) बर्हिषत्। बृह बृहि वृद्धौ (भू० प०)'। बृंहेर्नलोपश्च (उ० २, १०२)'—इति इसिप्रत्ययः बर्हिःशब्द उपपदे सतः 'सत्सूद्विष (३, २, ६१)'—इत्यादिना क्विप्। पृषोदरादित्वाद् बर्हिषः सकारलोपः। सुषामादित्वात् (८, ३, ९८) षत्वम्। यद्वा 'अनिते (८, ३, १६)'—इति। 'सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'—इति इन्। अन्यत् पूर्ववत्। परिवृद्धे स्थाने स्यादसि हि महान्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

इति पञ्चविंशतिर्महन्नामानि॥ ३॥

गयः (१)। कृदरः (२)। गर्त्ताः (३)। हर्म्यम् (४)। अस्तम् (५)। पस्त्यम् (६)। दुरोणे (७)! नीलम् (८)। दुर्य्याः (९)। स्वसराणि (१०)। अमा (११)। दमे (१२)। कृत्तिः (१३)। योनिः (१४)। सद्म (१५)। शरणम् (१६)। वरूथम् (१७)। छर्दिः (१८)। छदिः (१९)। छाया (२०)। शर्म (२१)। अजम (२२)। इति द्वाविंशतिर्गृहनामानि॥४॥

गयः। व्याख्यातमपत्यनामसु (१६० पृ०)। गम्यते घासाय, गच्छत्यनेन सुखम्। गत्यर्थेष्वेवमर्थो बोद्धव्यः। गीयते स्तूयते स्वास्थ्यातिशयेन, श्रयन्त्यस्मिन् स्थिता देवा इति च। "अरक्ष-द्दाशुषे गयम् (ऋ० सं० १, ५, २१ २)"—इति निगमः॥

(२) कृदरः। 'कृती छेदने' (तु० रु० प०)'। 'कृदरादयश्च (उ० ५, ४४)—इति अरनप्रत्ययो गुणाभावश्च तकारस्य दकारश्च निपात्यते। कृत्यते छिद्यतेऽनेन क्लेशः परिच्छिन्न वा सुशास्त्र-मर्यादया। यद्वा, 'दृङ्आदरे (तु० आ०)'। 'ग्रहिवृदृनिश्चिग-मश्च(३, ३, ५८)'—इत्यप्। कृतो दर आदरोऽत्र कृतदरः। पृषो-दरादित्वात् (६, ३, १०६) तशब्दलोपः। निगमोऽन्वेषणीय॥

(३) गर्त्तः। 'गॄ शब्दे (क्र्या० प०)' स्तुतिकर्मा वा। हसि-मृग्रिण्वामिदमिलूपूधूर्विभ्यस्तन् (उ० ३, ८३)'—इति तन्प्रत्ययः। शब्दयते तस्मिन् स्तूयते वा। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४) हर्म्यम्। 'हृञ् हरणे' (भू० उ०)'। 'मघ्यविध्यशिक्य' इति क्यन्प्रत्ययो मुडागमो गुणश्च निपात्यते। हरति अनुह्रियते आह्रीयतेऽत्र धान्यादि। यद्वा, 'अम द्रम हम्म मीमृ गतौ (भू० प०)'। अघ्न्यादित्वाद् (उ० ४, १०८) यक्प्रत्ययः। "मन्योरियाय हर्म्येषु तस्थौ (ऋ० सं० ८, ३, ४, ४)"—इति निगमः॥

(५) अस्तम्। 'अस् भुवि (अदा० प०)' 'अस गतिदी-प्त्यादानेषु (भू० उ०)' 'असु क्षेपणे (दि० प०)'। 'हसिमृग्रिण्वामि (उ० ३, ८३)'—इति बाहुलकात् तन्।; द्वितीयैकवचनं

भवत्यङ्गनसुखं दीप्यते हि तत्। आदीयते स्वीक्रियते वा तदर्थिभिः, क्षियन्तेऽस्मिन् पदार्था: इति वा। "अस्तं न गावो नक्षन्त इद्धम् (ऋ० सं० १, ५, १०, ५)"—इति निगमः। "तमग्निमस्ते वसवो न्यृण्वन् (ऋ० सं० ५, १, २३, २)"—इति च।

(६) पस्त्यम्। 'मध्यविध्य'—इत्यादिनौणादिकः क्यच्, नुगागमश्च निपात्यते। पसन्त्यस्मिन्। यद्वा, पतॢ गतौ (भू० प०)'। निपातनात् सकार उपजनः। पस्त्या 'पसेः सङ्गत्यर्थे वा'—इति माधवः। "वरुणः पस्त्यास्वा (ऋ० सं० १, २, १७, ५)"—"प्रप्र दाश्वान् पस्त्याभिरस्थित (ऋ० सं० १, ३, २१, २)"—इति निगमौ। 'पस्त्यमिति गृहनाम। अजादित्वात् (४, १, ४) टाप्'—इति स्कन्दस्वामी।

(७) दुरोणे। 'राज्ञासाह्ना'—इत्यादिभोजसूत्रे आदिग्रहणात् दुरोणादयः'—इति वृत्तिः। दुःपूर्वात् अवतेर्नक्कि वहि गुणः। 'दुरोण इति गृहनाम। दुःखाभवन्ति दुस्तर्पाः (नि० ४, ५)'—इति भाष्ये दुशब्दपूर्वस्यावतेः रक्षणार्थस्य तर्पणार्थस्य वा ल्युटि छान्दसत्वात् सम्प्रसारणम्, आद्गुणश्च। गृहादयो दुःखाभवन्ति दुस्तर्पा इति पर्य्यायेणास्यार्थकथनम्'—इति स्कन्दस्वामी। "जुष्टोदमूना अतिथिर्दुरोणे (ऋ० सं० ३, ८, १८, ५)"—"सत्रे निषत्तोरण्वो दुरोणे (ऋ० सं० १, ५, १३, २)" इति निगमौ॥

(८) नीलम्। 'व्याङ्कोड्कुद्वोडादयः'—इति उड्प्रत्ययः, प्रत्ययादेर्लोपो गुणाभावश्च निपात्यते। नीयन्तेऽत्र पदार्थाः,

नयति मुखनिःश्वसनमिति वा। "आ यो मह: शूरः सनादनीलः (ऋ० सं० ८, १, १७, १)"—इति निगमः।

(६) दुर्य्याः। 'दुर्वी हिंसार्थी (भू० प०)'। 'अघ्न्यादित्वाद् यत्प्रत्यये वकारलोपे दीर्घाभावश्च निपात्यते। हिंसन्ति मीनाति हि तं दुःखम्। यद्वा, दुःशब्दपूर्वात् यातेः 'घञर्थे कविधानम् (३, ३,५८, वा २)'—इति कः। 'दुःखेन प्राप्यन्ते, दुरः गृहद्वाराणि अर्हन्तीति वा दुर्य्या गृहा उच्यन्ते'—इत्युवटः। "अवीरहा प्रचरा सोम दुर्य्यान् (ऋ० सं० १, ६, २२, ४)"—इति निगमः॥

(१०) स्वसराणि। व्याख्यातमहर्नामसु (७४ पृ०)। स्वेन स्वननेन स्त्रियते प्राप्यते स्वैर्गृहयतो ज्ञातिभिः श्रियते, सुष्ठु अस्यन्ते वास्मिन् पदार्थाः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(११) अमा। 'अम गतिभक्षशब्देषु (भू० प०)'। 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण (३, ३, ११८)'। गम्यन्तेऽस्मिन् भक्ष्यन्ते शब्दायन्ते वा। यद्वा, निपातोऽयम्। "अमात्यम् (ऋ० सं० ५, २, २०, १)"—इत्यत्र, उवटः—'अमा गृहवचनः सहवचनो वा। अव्ययात् त्यप् तत्र भव इत्यर्थे। गृहे सत्याहा भवति अमात्यः'—इति। "सा नो अमा सो अरणे निपातु (ऋ० सं० ८, २, ५, ७)"—"अमा सते वहसि भूरिवामम् (ऋ० सं० २, १, ६, २)—"अमाजूरिव पित्रोः सचासती (ऋ० सं० २, ६, २०, २)"—इति निगमाः॥

(१२) दमे। 'दम उपशमने (दि० प०)'। घञ्। 'नोदात्तोपदेशस्य (७, ३, ३४)'—इति वृद्धिप्रतिषेधः शाम्यतेऽनेन

शीतादि, दान्तः क्लेशः। "वर्द्धमानं स्वेदमे (ऋ० सं० १, १, २, ३)"
—"हस्कर्त्तारं दमेदमे (ऋ० सं० ३, ५, ६, ३)"—इति निगमौ ॥

(१३) कृत्तिः। 'कृती छेदने (तु० रु० प०)' क्तिन् छदरथ-दर्थः। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१४) योनिः। व्याख्यातमुदकनामसु (१३७ पृ०)। मिश्र्यतेऽनेन सुखम्, पृथग्भूयन्तेऽनेनानिष्टा इति परीवीतो वा प्राकारादिना जायेव। "जायेव योनावरं विश्वस्मै (ऋ० सं० १, ५, १०, ३)"— इति निगमः ॥

(१५) सद्म। सदेर्मनिन् सीदत्यस्मिन्। "सद्मेव धीराः सस्माय चक्रुः (ऋ० सं० १, ५, ११, ५)"—इति निगमः। 'सद्म गृहनाम'—इति स्कन्दस्वामी ॥

"वर्म" इति केचित् पठन्ति। वृणोतेर्मन्। व्रियते तेन सम्भज्यते वा गृहिभिः। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१६) शरणम्। शृणातेः 'युच् बहुलम् (उ० २, ७४)'—इति युच्। शृणाति शीतादिक्लेशम्, रक्षितवान् वा क्लेशेभ्यः 'शरिः प्राप्त्यर्थः'—इति माधवः। प्राप्यते हि तत्। "सोदस्येव शरण आ महस्व (ऋ० सं० २, २, ११, १)"—इति निगमः ॥

(१७) वरूथम्। 'वृञ् वरणे (स्वा० उ०)'। जॄवृभ्यामूथन् (उ० २, ५)'। वर्मवदर्थः। "मया वरूथं गृणते विभावो (ऋ० सं० १, ४, २४, ४)"—इति निगमः ॥

(१८) छर्दिः। 'छर्द सन्दीपने (चु० प०)' 'अर्चिशुचिहुसृपिच्छर्दिभ्य इसिः (उ० २, १०१)'। सन्दीप्यते शालया। "प्रनो

यच्छतादस्वकं पृथुच्छर्दिः (ऋ० सं० १, ४, ५, ५)"—"वरूथ मस्तियच्छर्दिः (ऋ० सं० ६, ४, ५२, १)'—इति निगमौ ॥

(१९) छर्दिः। 'छद आवरणे (चु० उ०)"। णिच्। पूर्व-वदिस्। 'छादेर्घे द्व्युपसर्गस्य (६, ४, ९६)'। 'इस्मन्त्रन्क्विषु च (६, ४, ९७)"—इति ह्रस्वः। णिलोपः। छाद्यते हि तत्। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२०) छाया। 'छो छेदने (दि० प०)'। माछ्यासमीसूभ्यो यः। वृत्तिवदर्थः। छायाकरत्वाद्वा छाया। "यस्य छाया मृतम् (ऋ० सं० ८, ७, ३, २)"—इति निगमः ॥

(२१) शर्म। शृणातेः शरेः श्रयतेर्वा मन्। श्रयतेर्बाहुलकाद्रूप सिद्धिः। श्रीयते हि तत्। अन्यत्र शरणवदर्थः। "स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि (ऋ० सं० १, १, ८, १)"—"त्रिधातुशर्म वहतं शुभस्पती (ऋ० सं० १, ३, ४, ६)"—इति निगमौ ॥

(२२) अज्म। अजेः 'अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्ष (उ० १, १३७) —'इत्यादिना बाहुलकात् मन्। अस्तवदर्थः। "येपामज्मेपु पृथिवी (ऋ० सं० १, ३, १३, ३)"—इति निगमः ॥

इति द्वाविंशतिर्गृहनामानि ॥ ४ ॥

इरज्यति (१)। विधेम (२)। सपर्यति (३)। नमस्यति (४)। दुवस्यति (५)। ऋध्नोति (६)। ऋणद्धि (७)। ऋच्छति (८)।

सपति (९)। विवासति (१०)। इति दश परि-
चरण कर्माणः॥ ५॥

(१) इरज्यति। 'इरज् ईर्ष्यायाम्' कण्ड्वादिः, गतिक मत्तु। अनेकार्थत्वात् इत्यादि यदुक्तं तस्मिन्नध्याये सर्वत्र धातुषु तद् बोद्धव्यम्॥

(२) विधेम। 'विध विधाने' तुदादिः। लिङुत्तमपुरुष-बहुवचनम्। "यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः (ऋ० सं० २, ७, २४, २)"—"हविष्मन्तो विधेम ते (ऋ० सं० १, ३, ८, २)" "—होतेव सद्म विधतो वितारीत् (ऋ० सं० १, ५, १, १)"—इति निगमः।

(३) सपर्यति। 'सपर पूजायाम्' कण्ड्वादिः। "दूतं देव सपर्यति। (ऋ० सं० १, १, २३, २)"—इति निगमः॥

(४) नमस्यति। 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच् (३, १, १९)'। नमसः सम्रायाम्। नमः करोति। "इन्द्रं नमस्यन्नुपमेभिरर्कैः (ऋ० सं० १, ३, १, २)"—"यं नमस्यन्ति कृष्टयः (ऋ० सं० १, ३, ११, ४)"—इति निगमौ॥

(५) दुवस्यति। 'दुवस् परिचरणे, परितापे च' कण्ड्वादिः। "दुवस्यन्ति स्वसारो अह्रयाणम् (ऋ० सं० १, ५, २, २)"—इति निगमः॥

(६) ऋध्नोति। "ऋधु वृद्धौ" स्वादिः। अतएव "आ ऋध्नोति हविष्कृतिम् (ऋ० सं० १, १, ३५, ३)"—इति निगमः॥

(७) ऋध्नद्धि। व्यत्ययेन श्नम्॥

(८) ऋच्छति। 'ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्त्तिभावेषु' (तु० प०)॥

(९) सपति। 'षप समवाये (भू० प०)'। "अविद्वांसो विदुष्टरं सपेम (ऋ० सं० ४, ५, १८, ५)"—इति निगमः॥

(१०) विवासति। नैरुक्तधातुः। 'विपूर्वात् वसेर्णिच्' 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—इति शपि आर्द्धधातुकत्वात् णिलोपः'—इति भट्टभास्करमिश्रः। हविष्मा आविवासति (ऋ० सं० १, १, २३, ३)"।

इति दश परिचरणकर्माणः॥ ५॥

शिम्बाता (१)। शतरा (२)। शातपन्ता (३)। शर्म (४)। स्यूमकम् (५)। शेवृधम् (६)। मयः (७)। सुग्म्यम् (८)। सुदिनम् (९)। शूषम् (१०)। शुनम् (११)। शग्मम् (१२)। भेषजम् (१३)। जलाषम् (१४)। स्योनम् (१५)। सुम्नम् (१६)। शेवम् (१७)। शिवम् (१८)। शम् (१९)। कम् (२०)। इति विंशतिः सुखनामानि॥ ६॥

(१) शिम्बाता। 'शिङ् निशाने (स्वा० उ०)'। 'निम्बबिम्ब-शिम्बहिम्बडिम्बस्तम्बसम्बादयः'—इति शिनोतेर्बप्रत्ययो मुम् निपात्यते। अततेर्घञ्। दुःखानि तनूकुर्वत् प्राथ्यते॥

(२) शतरा। शतं बहु, अनेकमिन्द्रियप्रसादादि राति ददाति 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)'॥

(३) शातपन्ता। 'शो तनूकरणे (दि० प०)' निष्ठा। पततेः 'हसिमृग्रि ण्वामि (उ० ३, ८३)'—बाहुलकात् तन्। शातेन दुःखानां तनूकरणेन पत्यते स्तूयते। त्रिष्वपि द्विवचनस्याकारः। "मित्रेव ऋदता शतरा शातपन्ता (ऋ० सं० ८, ६, १, ५)"—इति निगमः।

(४) शर्म। व्याख्यातं गृहनामसु (३१८ पृ०)। "ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छत (ऋ० सं० ४, २ २८, ७)"—इति निगमः॥—अस्य स्थाने "शिलुः"—इति केचित् पठन्ति। 'शल्ल गतौ (भू० प०)'। 'चलिफल्योर्गुक् च'—इति गुक्प्रत्ययो बाहुलकादकारस्येकारः। गम्यते पुण्यवद्भिः, गच्छत्यनेन तृप्तिम्, गच्छति वाल्यमनित्यत्वात्। एवमर्था गत्यर्थेषु बोद्धव्याः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(५) स्यूमकम्। 'षिवु तन्तुसन्ताने (दि० प०)'। 'अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन्'... 'अविसिविसिशुषिभ्यः कित् (उ० १, १४१)'—इति मन्प्रत्ययः। 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६, ४, १९)' यणादेशः, स्वार्थे कः। स्यूतं पुण्यवति। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(६) शेवृधम्। शेशब्दे उपपदे वृधेः इगुपधलक्षणः कः।

शोवस्य वर्द्धयितृ शेवृधम्। पृषोदरादित्वादुभयत्र रूपसिद्धिः। "सशेवृधमधिधाद्युम्नमस्मे (ऋ० सं० १, ४, १८, ६)"—इति निगमः॥

(७) मयः। 'मिञ् हिंसायाम् (स्वा० उ०)'। असुन्। हिनस्ति दुःखम्। "मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये (ऋ० सं० १, २, ३३, २)"—इति निगमः॥

(८) सुग्म्यम्। सुपूर्वात् गमेः अघ्न्यादित्वात् यत्प्रत्यय उपधालोपश्च। "उषा ददातु सुग्म्यम् (ऋ० सं० १, ४, ५, ३)" —"आ सुग्म्याय सुग्म्यम् प्राता (ऋ० सं० ६, २, ७, ५)"— इति निगमौ॥

(९) सुदिनम्। व्याख्यातमहर्नामसु (७५ पृ०), अत्र सुपूर्वम् सुष्ठु द्यति दुःखम्, खण्ड्यते वा भाग्यविपर्ययेण। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१०) शूषम्। व्याख्यातं वलनामसु (२३३ पृ०)। शुष्यत्यनेन दुःखम्, प्रियावहश्च सुखम्। "सास्माके भिरेतरी न शशैः (ऋ० सं० ४, ५, १४, ४)"—इति निगमः॥

(११) शुनम्। 'शुन गतौ (तु० प०)'। 'गेहे कः (३, १, १४४)'—इति बाहुलकात् कः। "शुनं नः फाला विकृषन्तु भूमिम् (ऋ० सं० ३, ८, १, ८)"—शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम् (ऋ० सं० ३, २, ४, ७)—इति निगमौ॥

(१२) शग्मम्। शंशब्दे उपपदे गमेः 'गेहे कः (३, १, १४४)'—इति कः। गमहनेत्युपधालोपः (६, ४, ९८)। पृषोदरा-

दित्वात् शमो मलोपः। सुखं गम्यतेऽनेन दुष्कृतादिशमनेन वा। यद्वा, शकेः 'युजितिजिरुजां कुश्च (उ० १, १४३)'—इति बाहुलकात् मक्प्रत्ययः, ककारस्य गकारश्च। शक्नोति तृप्तिं जनयितुम्। "वास्तोष्पते शग्मया संसदाते (ऋ० सं० ५, ४, २१, ३)"—इति निगमः॥

(१३) भेषजम् (१४) जलाषम्। व्याख्याते उदकनामसु (१४६ पृ०) भिषज्यतिरत्र सुखनाम। "रुद्रं जलाषभेषजम् (ऋ० सं० १, ३, २६, ४)"—इति निगमः॥ 'जलाषजं सुखादौषधम्'—स्कन्दस्वामिभाष्यम्॥

(१५) स्योनम्। 'षिवु तन्तुसन्ताने (दि० प०)'। 'सिवेष्टेर्यूट्च (उ० ३, ८)'—इति नप्रत्यये गुणः। स्यूमयदर्थः। स्योनमिति सुखनाम, 'स्यतेरवस्यत्येतत्'—इति (निरु० ८, ६) भाष्ये 'स्यतेः सेवतेश्च स्योनम्'—व्याख्यातं स्कन्दस्वामिना। तत्र बाहुलकान्नप्रत्यये टेर्यूट्। "देवेभ्यो अदितये स्योनम् (ऋ० सं० ८, ६, ८, ४)"—"स्योना पृथिवि भवान् (ऋ० सं १, २, ६, ५)"—इति निगमौ॥

(१६) सुम्नम्। 'राम्नासाम्नासम्नद्युम्नमिम्नेति भोजसूत्रम्। शोभनेन कर्मणा मीयते निमीयते, सुष्ठु मीयते परिच्छिद्यते मार्गेनेति वा। "क वः सुम्ना नव्यांसि (ऋ० सं १, ३, १५, ३)"—"सुम्नाय वर्त्तयामसि (ऋ० सं० ६, ४, ५५, १)"—इति निगमौ॥ .

(१७) शेवम्। (१८) शिवम्। 'शीङ् स्वप्ने (अदा० आ०)' 'इणशीभ्यां वन् (उ० १, १५०)'। 'सर्वनिघृष्व (उ० १, १५१)'

—इति शीङो ह्रस्वत्वं वन्प्रत्ययो गुणाभावश्च निपात्यते। 'शेवमिति सुखनाम (निरु० १०, १७)' इत्यादि भाष्ये। शिष्यते-र्व्युत्पादितावेतौ। तत्रार्थस्तु—शेपति हिनस्ति क्लेशं, शेपयति वा स्वाश्रयम्। "जने न शेव आहूर्य्यः सन् (ऋ० सं० १, ५, १३, २)"—"शिवाभिर्न स्मयमानाभिरागात् (ऋ० सं० १, ५, २७, २)"—इति निगमौ॥

(१६) शम्। निपातोऽयम्। यद्वा, शाम्यतेर्विन्। शामयितृ क्लेशानाम्। "शं ते सन्तु प्रचेतसे (ऋ० सं० १, १, १०, २)"—इति निगमः॥

(२०) कम्। अयमपि निपातनम्। "श्रियमेकं भानुभिः सम्मिमिक्षिरे (ऋ० सं० १, ६, १३, ६)"—"आ वो मक्षू तनाय कम् (ऋ० सं० १, ३, १६, २)"—इति निगमौ। "श्रद्धे कमिन्द्र चरतो वितर्तरम् (ऋ० सं० १, ७, १४, २)"—इत्यत्र 'कमिति सुखनामेदमव्ययम्'—इति हरदत्तः॥

इति विंशतिः सुखनामानि॥ ६॥

निर्णिक् (१)। वव्रिः (२)। वर्पः (३)। वपुः (४)। अमतिः (५)। अप्सः (६)। प्सुः (७)। अप्नः (८)। पिष्टम् (९)। पेशः (१०)। कृशनम् (११)। प्सरः (१२)। अर्जुनम् (१३)।

ताम्रम् (१४) । अरुपम् (१५) । शिल्पम् (१६) ।
इति षोड़श रूपनामानि ॥ ७ ॥

(१) निर्णिक् । 'णिजिर् शौचपोषणयोः (जु० उ०)' निशब्द-पूर्वः क्विप् । निर्णिक्तं हि तत्, पोषयति वा प्रीतिम् । "वरुणो वस्त निर्णिजम् (ऋ० सं० १, २, १८, ३)"—इति निगमः ॥

(२) वव्रिः । 'वृञ् वरणे (स्वा० उ०)' । 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च (३, २, १७१)' द्विर्वचनम्, कित्वाद् गुणाभावः, यणादेशः । तद्धि स्वाश्रयमावृणोति, व्रियते वा । "विद्युद् भवन्ती प्रति वव्रि मौहत (ऋ० सं० २, ३, १६, ४)"इति निगमः ॥

(३) वर्पः । 'वृङ् सम्भक्तौ' (क्या० आ०) । 'वृञ्शीङ् स्थाल्रुपस्वाङ्गयोर्युट् च (उ० ४, १९६)'—इत्यसुन् । भज्यते हि तत् । वृणोतेर्वा बाहुलकादसुन् युट् च । वव्रिवदर्थः । "मा वर्पो अस्मदप गूह एतत् (ऋ० सं० ५, ६, २५, ६)"—इति निगमः ॥

(४) वपुः । व्याख्यातमुदकनामसु (१४३ पृ०) । उप्यते स्वाश्रयः "वपुर्भिराचरतो अन्यान्या (ऋ० सं० २, ५, २, ३)" —इति निगमः ॥

(५) अमतिः ॥

(६) अप्सः । 'अप्स इति रूपनामाप्सातेः (निरु० ५, १३)' —इत्यादिभाष्ये स्कन्दस्वामिना अप्सशब्दो व्युत्पादितः । तत्

प्रकारेण निर्वचनं प्रदर्श्यते। नञ्पूर्वात् प्सातेरसुनि बाहुलका-दाकारलोपः आप्नोतेर्वा। 'वृतॄवदिहनिकमिकषिभ्यः सः (उ० ३, ५६)'—इति सप्रत्ययः। "उपाहस्तेव निरिणीते अप्सः (ऋ० सं० २, १, ८, २)"—"अप्सरसः परि जज्ञे वसिष्ठः (ऋ० सं० ५, ३, २४, २)"—"अप्सरसां गन्धर्वाणाम् (ऋ० सं० ८, ७, २४, ६)"—इति निगमाः॥

(७) प्सुः। 'स्फुर स्फुलने (तु० प०)'। मृगय्वादयश्च (उ० १, ३६)—इति कुप्रत्ययः, सकारपकारयोः फकारस्य च व्यत्ययश्च निपात्यते। स्फुरति हि तत्। "वहन्ते अह्रुत प्सवः (ऋ० सं० ६, १, ३७, २)"—"शुष्मा इन्द्र मवाता अह्रुत प्सवः (ऋ० सं० १, ४, १२, ४)"—इति निगमौ॥

(८) अमः। अपत्यनामसु व्याख्यातम् (१८१ पृ०)। तेन हि कृत्स्नमाश्रयं व्याप्नोति। "अभिसन्ति जम्भया ता अनप्नसः (ऋ० सं० २, ६, ३०, ४)"—इति निगमः॥

(९) पिष्टम्। 'पिश अवयवे (तु० प०)' 'पिस गतौ (भू० प०)'—इति क्षीरस्वामी। 'पिशो किच (उ० ३, ९२)'—इति क्तः, गुणाभावश्च, तितुत्र (७, २, ९)'—इतीट्प्रतिषेधः। 'पिशितम्, अवयवशो विभक्तमित्यर्थः'—इति स्कन्दस्वामी। 'पिश आश्लेषणार्थः'—इति माधवः। आश्लिष्यत्याश्रयम्। "पिष्टं रुक्मभिरञ्जिभिः (ऋ० सं० ४, ३, १६, १)"—इति निगमः॥

(१०) कृशनम्। (११) पेशः। व्याख्याते हिरण्यनामसु (४० पृ०) दीप्यते हि तत्, दीप्यतेऽनेन वा तद्वान्। पेशसः

पिष्टवदर्थः। कृशानस्य निगमोऽन्वेषणीयः। "पेशोमर्य्याअपेशसे (ऋ० सं० १, १, ११, ३)"—इति निगमः॥

(१२) प्सरः। 'स्फुर स्फुलने (तु० प०)'। असुन्। पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) सकारपकारयोर्व्यत्ययः। स्फुरति हि तत्। "महि प्सरो वरुणस्य (ऋ० सं० १, ३, २३, २)"—"घचो देव प्सरस्तमम् (ऋ० सं० १, ५, २३, १)"—इति निगमौ।

केचिदत्र महच्छब्दं पठन्ति। तद्धिरण्यनामसु व्याख्यातम् (४२ पृ०)। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१३) अर्जुनम्। व्याख्यातमुपोनामसु (६६ पृ०) अर्जुनीत्यत्र "अहश्च कृष्णमहरर्जुनञ्च (ऋ० सं० ४, ५, ११, १)"—इति निगमः॥

(१४) ताम्रम्। 'तमु कांक्षायाम् (दि० प०)'। 'अमितम्योर्दीर्घश्च (उ० २, १४)'—इति रक्प्रत्ययः। काङ्क्ष्यं हि तत्, तस्मात् ताम्रम्। "आपो दिवादा ताम्रः"—इति निगमः। "असौ यस्ताम्रो अरुण (य० वा० सं० १६, ६)"—इति च॥

(१५) अरुपम्। व्याख्यातमुपोनामसु अरुपीत्यत्र (७१ पृ०)। आ रोचते। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१६) शिल्पम्। 'शिश्लृ विशेषणे (रु० प०)'। 'खष्पशिल्पशष्पबाष्परूपतल्पाः (उ० ३, २६)'—इति पप्रत्ययः। पकारस्य लकारो बाहुलकात् गुणाभावश्च निपात्यते। विशेषयति तद्रूपम्। "ऋक्सामयोः शिल्पे स्थः (य० वा० सं० ४, ९)"—इति निगमः॥

इति षोडश रूपनामानि॥ ७॥

अस्रेमाः (१)। अनेमाः (२)। अनेद्यः (३)। अनवद्यः (४)। अनभिशस्ताः (५)। उक्थ्यः (६)। सुनीथः (७)। पाकः (८)। वामः (९)। वयुनम् (१०)। इति प्रशस्यस्य ॥८॥

(१) अस्रेमाः। 'स्रिवु गतिशोषणयोः (प०)' दिवादिर्नञ्पूर्वः, 'मनिन्, सार्वधातुभ्यः (उ० ४, १४०)'—इति मनिनि बाहुलकात् आडभावः, 'लोपोव्योर्वलि (६, १, ६६)'-इति वकारलोपः, गुणः। न गच्छत्यकीर्त्तिम्, अगम्यो सत्पुरुषाणाम्, न गच्छन्त्यस्माद् गुणाः। "अस्रेमाणं तरणिं वीळु जम्भम् (ऋ० सं० ३, १, ३४, ३)"—इति निगमः॥

(२) अनेमाः। नञ्पूर्वान्नयतेर्मनिन्। नेतुमशक्यो दुर्मार्गम्। निगमोऽन्वेषणीयः।

(३) अनेद्यः। 'णिदि कुत्सायाम् (भ्वा० उ०)' नञ्पूर्वः, आगमानित्यत्वान्नुम् न क्रियते, 'ऋहलोर्ण्यत् (३, १, १२४)' "माध्यन्दिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य (ऋ० सं० ६, ३, १६, १)"-इति निगमः॥

(४) अनवद्यः।

(५) अनभिशस्ताः। 'शस्त हिंसायाम् (अदा० प०)'। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(६) उक्थ्यः। 'वच परिभाषणे (अदा० प०)'। 'पातृतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक् (उ० २, ७)'-सम्प्रसारणञ्च। उक्थ-

शब्दस्तुतिपर्यायः। उक्थमर्हति। 'छन्दसि च (५, १, ६७)' —इति यः। स्तुत्यर्ह इत्यर्थः। "क्रतुर्भर्त्युक्थ्यः (ऋ० सं० १, १, ३२, ५)"—"गाय गायत्र मुक्थ्यम् (ऋ० सं० १, ३, १७, ४)"—इति निगमौ॥

(७) सुनीथः। नयतेः 'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् (उ० २, २,)'। नीथा स्तुतिः। शोभना नीथा यस्य सः। हिरण्य-हस्तो असुरः सुनीथः (ऋ० सं० १, ३, ७, ५)"—"गभीरवेपा असुरः सुनीथः (ऋ० सं० १, ३, ७, १)"—इति निगमौ॥

(८) पाकः। पातेः 'इणभीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन् (उ० ३, ४१)'—इति कन्। रक्ष्यते राजादिना गुणवत्त्वात्। "तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितः (ऋ० सं० ८, ६, १६, ४)"—इति निगमः। "यपाको विष्णुर्यशसे पुरूणि"—इति च॥

(६) वामः। वनपण सम्मक्तौ (मू० प०)'। 'इषियुधीन्धि-दसिश्यासुसूभ्यो मक् (उ० १, १४२)'—इति बाहुलकान्मक्प्रत्ययः, नकारस्याकारश्च। सम्भजनीयो हि प्रशस्यः। "न दूढ्ये ३ अनु-ददासि वामम् (ऋ० सं० २, ५, १२, ५)"—इति निगमः॥

(१०) वयुनम्। अजतेः 'अजियमिशीङ्भ्यश्च (उ० ३, ५८)'—इत्युनन्प्रत्ययः, वीभावः। अनेमवदर्थः। 'वयुनं वेतेः, कान्तिर्वा प्रज्ञा वा (निरु० ५, १४)'—इति भाष्यम्। तत्र बाहुलकादुनन्, मत्वर्थीयस्य लुक्, कान्तिमान् प्रज्ञावान् वा। "विमानमग्निर्व-युनञ्च वाघताम् (ऋ० सं० २, ८, २० ४)"—इति निगमः॥

॥ इति दश प्रशस्यनामानि॥ ८॥

केतः (१)। केतुः (२)। चेतः (३)। चित्तम् (४)। क्रतुः (५)। असुः (६)। धीः (७)। शची: (८)। माया (९)। वयुनम् (१०)। अभिख्या (११)। इत्येकादश प्रज्ञानामानि ॥९॥

(१) केतः। 'चायृ पूजानिशामनयोः (भू० उ०)'। 'चायः कीः (उ० १, ७५)'—इति तप्रत्ययो धातोः कीरादेशो गुणश्च। पूज्यते। "पुरूरवोऽनुतेकेतमायम् (ऋ० सं ८, ५, १, ५)"—इति निगमः॥

(२) केतुः।

(३) चेतः। (४) चित्तम्। 'चिती सञ्ज्ञाने (भू० प०)'। 'अञ्जिघृसिभ्यः (उ० ३, ८९)'—इति बाहुलकात् क्तः। केतवदर्थः "ऋतावानं विचेतसम् (ऋ० सं० ३, ५, ६, ३)"—"सन्त्याचित्तं चित्तेन मम्रृतम्" इति निगमौ॥

(५) क्रतुः। व्याख्यातं कर्मनामसु (१८३ पृ०) क्रियतेऽनया धर्मादिविचारः। "अग्निर्होता कविक्रतुः (ऋ० (सं० १, १, १, ५)"—इति निगमः॥

(६) असुः। अस्यतेः 'भृमृशीतॄचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः' 'शॄस्वृस्निहित्रप्यसिवसि (उ० १, १०)"—इति उप्रत्ययः। 'असुरिति प्राणनाम (निरु० ३, ८)'—इतिभाष्ये, अस्यति क्षिपत्यनर्थान्, अस्ताः क्षिप्ताः अस्यामर्थाः इत्यर्थप्राप्त्यनर्थपरिहारात्मकमुभयमपि प्राप्नोति॥

(७) धीः। (८) शची। व्याख्याते कर्मनामसु (१८५, १८६,

पृ०)। निधीयते द्रव्येषु, धारयत्यर्थान् ध्यायन्तेऽनया देवताः, गम्यन्ते अवगम्यन्तेऽनयार्थाः, गच्छत्यनया इष्टप्राप्तिमनिष्टपरिहारञ्च। "चिदसि मनासि धीरसि (य० वा० सं० ४, १९)"— "दोषावस्तुर्धियावयम् (ऋ० सं० १, १, २, १)"—"ऋणोरक्षं न शचीभिः (ऋ० सं० १, २, ३१, ५)"—इति निगमाः॥

(९) माया। 'माङ् माने (अदा० आ०)'। 'माछाससिभ्यो यः (उ० ४, १०६)'—इति यप्रत्ययः। मीयन्ते परिच्छिद्यन्तेऽनया पदार्थाः। "मायाभिरिन्द्र मायिनम् (ऋ० सं १, १, २१, ७)"—"इमामूनुकवितमस्य मायाम् (ऋ० सं० ४, ४, ३१, १)' —इति निगमौ॥

(१०) वयुनम्। व्याख्यातं प्रशस्यनामसु (३२६ पृ०)। गतौ शर्चार्थवदर्थः, क्षेपणेऽस्तुवत्। "चिद्वाँ अग्ने वयुनानि क्षितीनाम् (ऋ० सं० १, ५, १७, २)"—इति निगमः॥

(११) अभिख्या। 'ख्या प्रकथने (अदा० प०)'। आतश्चोपसर्गे (३, ३, १०६)'—इत्यङ्। प्रकर्षेण कथ्यन्तेऽनयार्थाः। "अभिख्या भासा बृहता शुशुक्वनिः (ऋ० सं० ६, २, ६, ५)" —इति निगमः। भाष्यं द्रष्टव्यम्॥

इत्येकादश प्रज्ञानामानि॥ ९॥

बट् (१)। श्रत् (२)। सत्रा (३)। अद्धा (४)। इत्था (५)। ऋतम् (६)। इति षट् सत्यनामानि॥ १०॥

(१) बट्। (२) श्रत्। (३) सत्रा। (४) अद्धा (५) इत्था। बडादयो निपाताः। "बण्महाँ असि सूर्य (ऋ० सं० ६, ७, ८, १)"—"श्रद्धयाग्निः समिध्यते (ऋ० सं० ८, ८, ६, १)"—"सत्रादावन्नपा वृधि (ऋ० सं० १, ३, १४, १)"—"सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान् (ऋ० सं० ६, ४, १४, ३)"—"मक्षिव १ त्था धिया नरा (ऋ० सं० १, १, ४, १)"—इति निगमाः॥

(६) ऋतम्। व्याख्यातमुदकनामसु (१३३ पृ०)। गच्छत्यनेन सुगतिम्। 'ऋतम् अर्तेः, प्राप्यते तदिन्द्रियैः'—इति माधवः। "ऋतेन मित्रावरुणौ (ऋ० सं० १, १, ४, २)"—इति निगमः॥

इति षट् सत्यनामानि॥ १०॥

चिक्यत् (१)। चाकनत् (२)। आचक्ष्म (३)। चष्टे (४)। विचष्टे (५)। विचर्षणिः (६)। विश्वचर्षणिः (७)। अवचाकशत् (८)। इत्यष्टौ पश्यतिकर्माणः॥ ११॥

(१) चिक्यत्। (२)। चाकनत्। (३) आचक्ष्म। (४) चष्टे। (५)। विचष्टे। इति चक्षिङो दर्शनार्थानि व्याख्यातानि। 'चिक्यदित्यादीनि चायत्यर्थनिगमानि'—इति स्कन्दस्वामिना भाष्यमुक्तम्। 'कित ज्ञाने (भू० ९०)' यङ्लुकि शतरि व्यत्ययेन 'नुगतोऽनुनासिकान्तस्य (७, ४, ८५)'—इति न भवति। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(३) आचक्षम। आङ्पूर्वस्य चक्षिङो लङि महिङो मसादेशो व्यत्ययेन। "अतश्चक्षार्थे अदिति दितिश्च (ऋ० सं० ४, ३, ३१, ३)"—इति निगमः॥

(४) चष्टे। (५) विचष्टे। केवलाद् विपूर्वाच्च आत्मनेपद-प्रथमपुरुषैकवचने संयोगादि लोपे ष्टुत्वे च रूपम्। "तेभिश्चष्टे वरुणो मित्रो अर्यमा (ऋ० सं० ८, ४, २४, १)"—"इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे (ऋ० सं० १, ७, ६, १)"—इति निगमौ॥

(६) विचर्षणिः। (७) विश्वचर्षणिः। विपूर्वाद् विश्वपूर्वाच्च 'कृष विलेखने (भू० प०)'—इत्यस्मात् 'कृषेरादेश्च चः (उ० २, १७)'—इति अनिप्रत्ययः, आदेः ककारस्य चकारश्च। यद्वा, चायतेरेव बाहुलकात् अनिप्रत्ययो धातोर्ह्रस्वः षभावश्च। विविधं द्रष्टा विचर्षणिः। विश्वस्य द्रष्टा विश्वचर्षणिः। "सप्रमन् पिपर्षि विदथे विचर्षणे (ऋ० सं० १, २, ३३, १)"—स्तोमेभिर्विश्वचर्षणे (ऋ० सं० १, १, १७, ३)"—इति निगमौ॥

(८) अवचाकशत्। 'काश्ट दीप्तौ (भू० आ०)' अवपूर्वः। यङ्लुकि शतरि व्यत्ययेन ह्रस्वत्वम्। जनानां धेना अवचाकशद् वृषा (ऋ० सं० ७, ८, २५, १)"—"उभे सोमावचाकशत् (ऋ० सं० ६, ८, २२, ४)"—इति निगमौ॥

इत्यष्टौ पश्यतिकर्माणः॥ ११॥

हिकम् (१)। नुकम् (२)। सुकम् (३)। आहिकम् (४)। आकीम् (५)। नकिः (६)।

माकिः (७)। नकीम् (८)। आकृतम् (९)।
इति नवोत्तराणि पदानि सर्वपदसमाम्नाय ॥१२॥

(१) हिकम्। (२) नुकम्। (३) सुकम्। (४) आहिकम्। (५) आकीम्। (६) नकिः। (७) माकिः। (८) नकीम्। एते निपाताः। "वसुर्वसु पतिर्हिकम् (ऋ० सं० ६, ३, ४०, ४)" —"इमा नु कम्भुवना (ऋ० सं० ८, ८, १५, १)"—"सीषधामातिष्यतेल्वतासुकम्"—"पृङ्क्तं हवी॑षि मधुना हि कं गतम् (ऋ० सं० २, ८, १, ५)"—"आकीं॑ सूर्यस्य रोचनात् (ऋ० सं० १, १, २७, ३)"—"न किरिन्द्र त्वदुत्तरो (ऋ० सं० ३, ६, १६, १)"—"माकिर्नेशन्माकीं रिषत् (ऋ० सं० ४, ८, २०, २)"—नकीं वृधीक इन्द्र ते (ऋ० सं० ६, ५, ३१, ४)"—इति निगमाः॥

(९) आकृतम्। निपातस्य कृताशब्दस्यात्र पाठात् सङ्गतेरयमपि निपातसमाहाररूपो निपातितः। कृतशब्दस्य विभक्तिप्रतिरूपकत्वात् निपातत्वमित्याहुः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

इति नव सर्वपदसमाम्नाय ॥ १२ ॥

इदमिव (१)। इदं यथा (२)। अग्निर्नये (३)। चतुरश्चिद्ददमानात् (४)। ब्रा मणा व्रतचारिणः (५)। वृक्षस्य नु ते पुरुहूतवया (६)। जार आ भगम् (७)। मेषो भूतो३भियन्नयः (८)।

तद्रूपः (९)। तद्वर्णः (१०)। तद्वत् (११)। तथा (१२)। इत्युपमाः ॥ १३ ॥

इदमिवादीनि भाष्यकारेणैव व्याख्यातानि (निरु० ३, १३—२८) ॥ १३ ॥

अर्चति (१)। गायति (२)। रेभति (३)। स्तोभति (४)। गूर्द्धयति (५)। गृणाति (६)। जरते (७)। ह्वयते (८)। नदति (९)। पृच्छति (१०)। रिहति (११)। धमति (१२) कृपायति (१३) कृपण्यति (१४)। पनस्यति (१५) पनायते (१६)। वल्गूयति (१७) मन्दते (१८)। भन्दते (१९)। छन्दति (२०) छदयते (२१)। शशमानः (२२)। रञ्जयति (२३)। रजयति (२४)। शंसति (२५)। स्तौति (२६)। यौति (२७)। रौति (२८)। नौति (२९)। भनति (३०)। पणायति (३१)। पणते (३२)। सपति (३३)। पपृक्षाः (३४)। महयति (३५) वाजयति (३६)।

पूजयति (३७)। मन्यते (३८)। मदति (३९)। रसति (४०)। स्वरति (४१)। वेनति (४२)। मन्द्रयते (४३)। जल्पति (४४)। इति चतुश्चत्वारिंशदर्चतिकर्माणः ॥ १४ ॥

(१) अर्चति। 'अर्च पूजायाम् (भू० प०)'। "अर्चन्त्यर्कमर्किणः (ऋ० सं० १, १, १६, १)"—इति निगमः॥

(२) गायति। 'कै गै शब्दे (भू० प०)'। "गायन्ति त्वा गायत्रिणः। (ऋ० सं० १, १, १६ १)"—इति निगमः॥

(३) रेभति। (४) स्तोभति। 'रेभृ शब्दे (भू० आ०)' 'ष्टुभ स्तम्भे (भू० आ०)'। आत्मनेपदिनो व्यत्ययेन परस्मैपदम्। "रेभन्तो वै देवाश्च ऋषयश्च स्वर्गं लोकमायन् (ऐ० ब्रा० ६, ५, ६)"—"सोमः पवित्रमभ्येति रेभन् (ऋ० सं० ७, ४, ७, १)" —"परिष्टोभत विंशतिः (ऋ० सं० १, ५, ३०, ४)"—इति निगमाः॥

(५) गूर्धयति। नैरुक्तधातुः। "तंगूर्धया स्वर्णरम् (ऋ० सं० ६, १, २६, १)"—इति निगमः॥

(६) गृणाति। 'गृ शब्दे' क्र्यादिः स्वादिश्च। "कण्वतमो नाम गृणाति नृणाम् (ऋ० सं० १, ४, ३, ४)"—इति निगमः॥

(७) जरते। नैरुक्तधातुः "पुरुणीथे जरते सूनृतावान् (ऋ० सं० १, ८, २५, ७)"—इति निगमः॥

(८) हयते। 'हिन्व् स्पर्द्धायाम् (भ्वा० उ०)'। "वाहिष्ठो वां हवानाम् (ऋ० सं० ६, २, २६, १)"—इति निगमः। 'हवाः स्तोमाः हयतेरर्चतिकर्मत्वात्'—इति स्कन्दस्वामी॥

(९) नदति। 'णद अव्यक्ते शब्दे (भ्वा० प०)'। "नदस्य मा रुधतः काम आगन् (ऋ० सं० २, ४, २२, ४)"—इति निगमः॥

(१०) पृच्छति। 'प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्' तुदादिः। 'ग्रहिज्या (६, १, १६)'—इत्यादिना सम्प्रसारणम्॥

(११) रिहति। 'रिह कत्थनादौ'—इति क्षीरस्वामी। तुदादिः। "शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति (ऋ० सं० ८, ७, ७, १)"—इति निगमः। अत्र भाष्ये तु "समानवृत्तित्वप्रदर्शनपरं लिहन्ति पर्यायवचनम्"—इति। "विप्रा रिहन्ति धीतिभिः (ऋ० सं० १, २, ६, ४)"—इत्यत्र 'रिहतिधमतीत्यर्चतिकर्मसु पाठात्'—इति स्कन्दस्वामी॥

(१२) धमति। गतिकर्मसु व्याख्यातः (२५८ पृ०)॥

(१३) कृपायति। (१४) कृपण्यति। (१५) पनस्यति। नैरुक्तधातवः। "सचेतसो ये कृपणन्त रत्नम् (ऋ० सं० ८, ३, ५, ३)"—'इत्यत्र कृपणन्त स्तुवन्ति'—इति भट्टभास्करमिश्रः। "त्वेषं पनस्युमर्किणम् (ऋ० सं० १, ३, १७, ५)"—इति निगमः। 'पनस्यतिरर्चतिकर्मा, स्तुत्यमित्यर्थः'—इति स्कन्दस्वामी॥

(१६) पनायते। 'पण व्यवहारे स्तुतौ च'—'पन च (भ्वा० आ०)'। गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः (३, १, २८)'। "अभीशूनां महिमानं पनायत (ऋ० सं० ५, १, २०, १)"—इति निगमः॥

(१७) वल्गूयति। 'वल्गु पूजामाधुर्य्ययोः' कण्ड्वादिः। "वल्गूयति वन्दते पूर्वभाजम् (ऋ० सं० ३, ७, २७, २)"—इति निगमः॥

(१८) मन्दते। 'मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु (भू०)' आत्मनेपदी। "प्र वो महे मन्दमानायान्धसः (ऋ० सं० ८, १, ६, १)"—इति निगमः॥

(१९) भन्दते। 'भदि कल्याणे सुखे च' आत्मनेपदी। "पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः (ऋ० सं० २, ८, २०, ४)"—इति निगमः॥

(२०) छन्दति। 'छदि संवरणे' चुरादिः। बहुलमन्यत्रापि सञ्ज्ञाच्छन्दसोः (उ० २, २१)'—इति लुक्। "वृषाच्छन्दुर्भवति हर्यतो वृषा (ऋ० सं० १, ४, १६, ४)"—इति निगमः॥

(२१) छदयते। 'छद अपवारणे' चुरादिः। 'सञ्ज्ञापूर्वको विधिरनित्यः (प० शे० ९३)'—इति वृद्ध्यभावः। 'अदन्तोद्रष्टव्यः' इति भट्टभास्करमिश्रः॥

(२२) शशमानः। 'शशमानः शंसमानः (निरु० ६, ८)'—इति भाष्ये 'शंसु स्तुतावित्यस्य शंशश्चित्यवगम्यते'—इति स्कन्दस्वामी। शंसेर्लटि पृषोदरादित्वाद्रूपसिद्धिः। यद्वा, 'शश प्लुतगतौ (भू० प०)'। 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् (३, २, १२९)'। "यो वां यज्ञैः शशमानोह दाशति (ऋ० सं० २, २, २१, २)"—इति निगमः॥

(२३) रञ्जयति। (२४) जरयति। 'रञ्ज रागे (भू० उ०)' 'जृष् वयोहानौ (दि० प०)' हेतुमतो णिच्॥

(२५) शंसति। 'शंसु स्तुतौ (भू० प०)'। "मा चिदन्यद्वि शंसत (ऋ० सं० ५, ७, १०, १)"—इति निगमः॥

(२६) स्तौति। 'ष्टु स्तुतौ' अदादिः। 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि (७, ३, ८९)'। "इदमित् स्तोतारं वृषणं सचासुतः"—इति निगमः॥

(२७) यौति। (२८) रौति। (२९) नौति। 'यु मिश्रणे' 'रु शब्दे' 'णु स्तुतौ' अदादयः। "रुवद्धोक्षापप्रथानेभिरेवैः (ऋ० सं० ३, ८, ८, १)"—इति निगमः। "द्युम्नैरभि प्रणोनुमः (ऋ० सं० १, ५, २६, १)"—इति निगमः॥

(३०) मनति। नैरुक्तधातुः।

(३१) पणायति। (३२) पणते। 'पण व्यवहारे स्तुतौ च (भू० आ०)'। 'गुपूधूप (३, १, २८)'—इत्यादिना आयः, छान्दसत्वात् आयप्रत्यये विकल्पिते पणते इति रूपम्। "देवो नयन् सविता सुपाणिः (ऋ० सं० ३, २, १३, १)"—इति निगमः। 'पाणि पणायतेः पूजाकर्मणः (२, २६)'—इति निरुक्तम्॥

(३३) सपति। 'षप समवाये (भू० प०)'। "मत्सरासः प्रसुपः साकमीरते (ऋ० सं० ७, २, २२, २)"। प्रसुपः सपतेरर्चतिकर्मणः'। "वि ये चृतन्त्यृता सपन्तः (ऋ० सं० १, ५, ११, ४)"—इति निगमौ॥

(३४) पपृक्षाः। पृक्षतिर्नैरुक्तधातुः। पृचेः सनि 'हलन्ताच्च (१, २, १०)'—इत्यत्र हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् 'अनिदिताम्

'(६, ४, २४)'—इति नलोपः गुणाभावश्च। सनन्तात् लेटि (३, ४, ७), सिपि (३, १, ३४), आडागमे (३, ४, ९४), 'इतश्चलोपः (३, ४, ९७)'। "वायो तव प्रपृञ्चती (ऋ० सं० १, १, २, ३)"—इत्यत्र 'पपृक्षाः, महयति,—इत्यर्चतिकर्मसु पाठात् पृञ्चतिः स्तुत्यर्थोऽपि'—इति स्कन्दस्वामी॥

(३५) महयति। 'मह पूजायाम्' चुरादिरदन्तः। "त्वंसु मेषं महया स्वर्विदम् (ऋ० सं० १, ४, १२, १)"—इति निगमः॥

(३६) वाजयति। वजेर्णिच्। "वाजयामः शतक्रतो (ऋ० सं० १, १, ८, ४)"—इति निगमः॥

(३७) पूजयति। 'पूज पूजायाम्' चुरादिः॥

(३८) मन्यते। 'मन ज्ञाने' दिवादिः। "इमा उ वां भूमयो मन्यमानाः (ऋ० सं० ३, ४, ६, १)"—इति निगमः॥

(३९) मदति। 'मदी हर्षग्लेपनयोः (दि० प०)'। "शुमन्तो याभिर्मदेम (ऋ० सं० १, २, ३०, ३)"—"इन्द्रं गोभिर्मदता वस्वो ऽअर्णवम् (ऋ० सं० १, ४, ६, १)"—इति निगमौ। 'मदति रसतात्यर्चतिकर्मसु पाठात्'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्॥

(४०) रसति। 'रस शब्दे (भू० प०)'।

(४१) स्वरति। 'स्वृ शब्दोपतापयोः (भू० प०)'। "स्वरेणाद्रिं स्वर्योऽनवग्वैः (ऋ० सं० १, ५, १, ४)"—"ऋषिस्वरं चरति यासु नाम ते (ऋ० सं० ४, २, २४, ३)"—इति निगमौ। "स्वरेणाद्रिम्"—इत्यत्र 'स्वरति येनतीत्यर्चतिकर्मसु पाठात्'—इति, "ऋषिस्वरम्"—इत्यत्र 'स्वरतिरर्चतिकर्मा'—इति च स्कन्दस्वामी॥

(४२) वेनति। (४३) मन्द्रयते। नैरुक्तधातुः। "अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वम् (ऋ० सं० २, ५, १२, १)"—इति निगमः। 'मन्द्रयतिरर्चतिकर्मा स्तुत्यर्थवाचकम्'—इति स्कन्दस्वामी॥

(४४) जल्पति। 'जल्प व्यक्तायां वाचि (भू० प०)'॥

इति चतुश्चत्वारिंशदर्चतिकर्माणः॥ १४॥

विप्रः (१)। विग्रः (२)। गृत्सः (३)। धीरः (४)। वेनः (५)। वेधाः (६)। कण्वः (७)। ऋभुः (८)। नवेदाः (९)। कविः (१०)। मनीषिः (११)। मन्धाता (१२)। विधाता (१३)। विपः (१४)। मनश्चित् (१५)। विपश्चित् (१६)। विपन्यवः (१७)। आकेनिपः (१८)। उशिजः (१९)। कीस्तासः (२०)। अद्धातयः (२१) मतयः (२२)। मतुथाः (२३)। वाघतः (२४)। इति चतुर्विंशतिर्मेधाविनामानि॥ १५॥

(१) विप्रः। 'डु वप बीजसन्ताने (भू० प०)'। 'विप क्षेपे'—इति क्षीरस्वामी। 'ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र (उ० १, २९)'—इत्यादिना रन्प्रत्यये इत्वं गुणाभावश्च निपात्यते। उप्यतेऽस्मिन्नतिशयेन मेधा। क्षिपत्यनया पापं वा। यद्वा, 'विपृ'—इति सङ्ग्राम-

नामसु व्याख्यातम् (२१० पृ०), सास्यास्तीति रो मत्वर्थीयः, पृषोदरादित्वात् जश्त्वाभावः। वाङ्मयी हि मेधा। यद्वा, 'प्रा पूरणे (अदा० प०)' विपूर्वः। 'आतोऽनुपसर्गे (३, २, ३)'—इति कः। 'आतो लोप इटि च (६, ४, ६४)'। विशेषेण पूरयति विद्यार्थिनामपेक्षाः। "गृणन्ति विप्र ते धियः (ऋ० सं० १, १, २६, २)"—इति निगमः॥

(२) विप्रः। विपूर्वात् गृणातेः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डः। विविधं गृणात्यर्थान्। "परे हि विप्रमस्तृतम् (ऋ० सं० १, १, ७, ४)"—इति निगमः॥

(३) गृत्सः। 'गृधु अभिकाङ्क्षायाम् (दि० प०)' ऋचिरुषिहृदिवृश्विशृगृदृभ्यः कित्'—इति सप्रत्ययः। अभिकाङ्क्ष्यते सर्वैः। यद्वा, गृणातेः स्तुतिकर्मणो बाहुलकात् सक्प्रत्ययो ह्रस्वत्वं तुगागमश्च। स्तुत्यो लोकस्य, स्तोता वा देवानाम्। गृत्सस्य धीरा स्तवसो वि वो मदे (ऋ० सं०७,७,११, ५)"—नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च (य० वा० सं० १६, २५)"—इति निगमौ॥

(४) धीरः। दधातेः सुसूधीगृधिभ्यः क्रन् (उ० २, २३)'—इति क्रन् प्रत्ययः, 'घुमास्थागापा (६, ४, ६६)'—इतीत्वम्। धत्ते श्रुतमर्थम्, ददाति वा विद्याः शिष्येभ्यः। यद्वा, धीः प्रज्ञा कर्म वा, रो मत्वर्थीयः। 'धियमीरयति'—इति क्षीरस्वामी। तत्र धीशब्द उपपदे 'कर्मण्यण् (३, २, १)'। "समाधीरः पाकमत्राविवेश (ऋ० सं० २, ३, १८, १)"—इति निगमः॥

(५) वेनः। अजतेः 'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३, ६)'—इति नप्रत्ययः, वीभावः। गच्छति सत्कारं लोके, अवगच्छत्यर्थान्, अवगच्छत्यस्मादर्थसंशयान्, गच्छन्त्येनं विद्यार्थिनः, क्षिपत्यनर्थान् पापं वा। यद्वा, वेलतेः कान्तिकर्मणो गतिकर्मणो धात्तिकर्मणो वा 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः (३, ३, ११८),। "गिरिं न वेनां अधिरोह तेजसा (ऋ० सं० १, ४, २१, २)'—इति निगमः॥

(६) वेधाः। दधातेर्विपूर्वात् 'विधाञो वेध च (उ० ४, २२६)'—इत्यसुन् वेधादेशश्च। विदधाति काव्यादिः। "मोपथा वृक्षं कपनेव वेधसः (ऋ० सं० ४, ३, १५, १)"—"सोमो न वेधा ऋत प्रजातः (ऋ० सं० १, ५, ६, ५)"—"आ पृच्छ्योचिश्यतिविश्ववेधाः (ऋ० सं० १, ४, २६, २)'—इति निगमाः॥

(७) कण्वः। 'कण शब्दे (भू० प०)' 'कण निमीलने (चु० प०)' वा। 'अशुप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन् (उ० १, १४६)'। कणति स्तोत्रलक्षणं शब्दं करोति, कण्यते स्तूयते वा, निमीलयति परान् वा स्वतेजसा। "कण्वा अभि प्रगायत (ऋ० सं० १, ३, १२, १)"—"कण्वतमो नाम गृणाति नृणाम् (ऋ० सं० १, ४, ३, ४)"—इति निगमौ॥

(८) ऋभुः। 'ऋभुक्षा इत्यत्र व्याख्यातम् (३०१ पृ०)'। "ऋभुर्ऋभुभिरभि वः स्याम (ऋ० सं० ५, ४, १५, ३)"इति निगमः॥

(९) नवेदाः। "प्र पां भूत नवेदा मतानाम् (ऋ० सं० २, ३, २६, ३)"—इत्यत्र नवेदेति न वेत्तीत्यस्मिन्नर्थे वर्त्तते। कुत

एतत्? निपातनात्, वैयाकरणा 'नभ्राण्नपान्नवेदा (६, ३, ७५)'—इति 'निपातयन्ति'—इति स्कन्दस्वामी। तत्र द्विनञ्पूर्वाद् विदेः कर्त्तव्यसुनि एकस्य नञो लोपोऽन्यस्य प्रकृतिभावश्च निपात्यत इति भावः। "त्रिश्चिन्नो अद्या भवतं नवेदसा (ऋ० सं० १, ३, ४, १)"—इति निगमः॥

(१०) कविः। 'कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा (निरु० १२, १३)'—इति भाष्ये 'क्रामतेः कवतेर्वा गति कर्मण इति रूपम्'—इति स्कन्दस्वामी। क्रामतेः कवतेश्च 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'—इतीन्प्रत्ययः क्रामतेर्मकारस्य वत्वं रेफलोपश्च वाहुलकात्। क्रान्तमस्यास्तीति मत्वर्थीयस्य लुक्। कविः क्रान्तदर्शनः। 'अतीतानागतविप्रकृष्टविषयं युगपत् ज्ञानं यस्य स क्रान्तदर्शनः—इत्युवटः। "कवी नो मित्रावरुणा (ऋ० सं० १, १, ४, ३)"—इति निगमः॥

(११) मनीषिणः। 'मनु अवबोधने (दि० आ०)'। 'कॄतॄभ्यामीषन् (उ० ४, २६)'—इति वाहुलकादीषन्। मनीषा प्रज्ञाऽस्यास्ति व्रीह्यादित्वादिनिः। यद्वा, मनस ईषा स्तुतिः प्रज्ञा वा मनीषा। पृषोदरादित्वाद्रूपसिद्धिः। पूर्ववदीषन्। "घृतपृष्ठं मनीषिणः (ऋ० सं० १, १, २४, ५)"—इति निगमः॥

(१२) मन्धाता। मन्यतेर्ल्युट्, दधातेस्तृच्। मानस्य ज्ञानस्य विधातयिता, पृषोदरादिः (६, ३, १०९)। "मन्धातासि द्रविणोदा ऋता वा (ऋ० सं० ७, ५, ३०, २)"—इति निगमः॥

(१३) विधाता। विपूर्वात् दधातेस्तृच्। वेधःशब्दवदर्थः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१४) विप्रः। 'विप क्षेपे (चु० प०)'। इगुपधलक्षणः कः (३, १, १३५)। विप्रवदर्थः। "अस्तृणाद् बर्हणा विपो (ऋ० सं० ६, ४, ४३, १)"—इति निगमः॥

(१५) मनश्चित्। मनःशब्दोपपदात् 'चिती संज्ञाने (भू० प०)'। इत्यस्मादौणादिकः क्विप्। मनसा चेतयते। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१६) विपश्चित्। विपो वाचश्चेतयते 'तत्पुरुषे कृति बहुलम् (६, ३, १४)'—इत्यलुक्। 'विपश्यंश्चेतयते'—इति क्षीरस्वामी। पृषोदरादित्वात् पश्यतेरूपम्। "धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे (ऋ० सं० ६, ७, १, १)"—इन्द्रं पृच्छा विपश्चितम् ऋ० सं० १, १, ७, ४)"—इति निगमौ॥

(१७) विपन्यवः। विपनेः 'कन्युच् क्षिपेश्च (उ० ३, ४८)' —इत्यत्र प्राक्प्रत्ययनिर्देशस्याधिकविध्यर्थत्वात् कन्युच्प्रत्ययः। यद्वा, विविधं पननं स्तुतिः 'मृगय्वादयश्च (उ० १, ३६)'—इति कुप्रत्ययः। "विपन्यवो विप्रासो वाजसातये (ऋ० सं० ६, ६, १०, ६)"—इति निगमः॥

(१८) आकेनिपः। आङ्शब्दे, केशब्दे, निशब्दे चोपपदे त्रिपूर्वात् पततेः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डः। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम् (६, ३, १४)'। के आत्मनि पतन्ति अध्यात्मज्ञाने पतन्त इत्यर्थः। "अप्यसौ यथा केनिपानामिनो वृधे (ऋ० सं० ७, ८, २६, ४)"—इति निगमः॥

(१९) उशिजः। 'वश कान्तौ (अदा० प०)' 'वशेः किच (उ० २, ६८)'—इति इजिप्रत्ययः। ग्रहिज्या (६, १, १६)'—इत्यादिना सम्प्रसारणम्। कामयते शास्त्राण्यभ्यसितुं व्याख्यातुं वा। "कक्षीवन्तं य औशिजः (ऋ० सं० १, १, ३४, १)"—इति निगमः॥

(२०) कीस्तासः। कीर्त्तयतेः पचाद्यचि (३, १, १३४) घञि वा। कीर्तयन्ति प्रशस्तानर्थान्। "कीस्तासो अभिद्यवः (ऋ० सं० २, १, १३, २)"—इति निगमः॥

(२१) अद्धातयः। अद्धेति सत्यनाम। अततेरतयः। सत्यं प्राप्नोति, गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः,सत्यं जानाति वा। "तदद्धतयऽइद्विदुः (ऋ० सं० ८, ३, २३, १)"—इति निगमः॥

(२२) मतयः। मन्यतेः क्तिन्। ज्ञायन्तेऽस्मादर्थाः। यद्वा, मतिरस्यास्ति मत्वर्थीयस्य लुक्। "अद्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम् (ऋ० सं० ४, ६, १३, २)"—"त्वामिन्द्र मतिभिः सुतम्"—इति निगमौ।

(२३) मतुथाः। 'गूथप्रोथपृष्ठादयः'—इति मनेस्थकि नकारस्य तुभावो निपात्यते। "तुथोऽसि विश्ववेदाः (य० वा० सं० ५, ३१)"। 'विभजत्यः ब्रह्म वै तुथः (श० ब्रा० ४, ३, ४, १५)'—इति श्रुतिः—इत्युवटः। मतं ज्ञानं तुथो मनुष्यैः। तेन मनतुथाः सन्तः पृषोदरादित्वेन मतुथाः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२४) वाघतः। वहेः 'संश्चत्तृम्पद्वेहत् (उ० २, ८९)'—इति प्रत्ययः, उपधावृद्धिः, हकारस्य घकारश्च निपात्यते।

नियहति अन्यार्थान्। "विप्रची शमी' तरणित्वेन घावतः (ऋ० सं० १, ७, ३०, ४)"—इति निगमः॥

इति चतुर्विंशतिर्मेधाविन इति मेधाविनामानि॥ १५॥

रेभः (१)। जरिता (२)। कारुः (३)। नदः (४)। स्तामुः (५)। कीरिः (६)। गौः (७)। सूरिः (८)। नादः (९)। छन्दः (१०)। स्तुप् (११)। रुद्रः (१२)। कृपण्युः (१३)। इति त्रयोदश-स्तोतृनामानि॥ १६॥

(१) रेभः। रेभतिरर्चतिकर्मा (३३६ पृ०)। अच्। स्तौति। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२) जरिता। जरतेरर्चतिकर्मणः (३३६ पृ०)। 'त्वाम च्छा जरितारः (ऋ० सं० १, १, ३, २)"—इति निगमः॥

(३) कारुः। करोतेः 'कृवापाजि (उ० १, १)'—इत्युण्। कर्ता "विदुष्टे तस्य कारवः (ऋ० सं० १, १, २१, ६)"—इति निगमः॥

(४) नदः। नदति स्तुतिकर्मा (३३७ पृ०)। अच्। "नदस्य मा रुधत काम आगन् (ऋ० सं० २, ४, २२, ४)"—इति निगमः॥

(५) स्तामुः। 'षम ष्टम अवैक्लव्ये (भू० प०)'। 'छन्द-सीणः (उ० १, २)'—इति बाहुलकादुण्। स्तोत्रकर्मणि "तामु"

—इति केचित् पठन्ति। 'तमु काङ्क्षायाम् (दि० प०)' पूर्ववद् बाहुलकादुण्। कांक्षति। स्तोतुम्। उभयोरेव निगमोऽन्वेपणीयः॥

(६) कीरिः। 'कै गै रै शब्दे (भू० प०)'। 'कायः कीः–इति इप्रत्ययः। आकारलोपः। स्तोत्रलक्षणं शब्दमारचयति। 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)' "कीरिश्चिन्मन्त्रं मनसा वनोषि तम् (ऋ० सं० १, २, ३४, ३)"—इति निगमः॥

(७) गौः। व्याख्यातं पृथिवीनामसु (२७ पृ०)। गीयन्ते सूयन्तेनेन देवताः। "यो अश्वानां गवां गोपतिर्वशी (ऋ० सं० १, ७, १२, ४)"—इति निगमः। 'गोपतिः स्तोत्रपतिः'—इति स्कन्दस्वामी॥

(८) सूरिः। 'सू प्रेरणे (तु० प०)'। 'सुसूः क्रिः (उ० ४, ६४)'—इति सुवतेः क्रिर्भवति। प्रकर्षेण ईरयति स्तोत्रम्। "सदा पश्यन्ति सूरयः (ऋ० सं० १, २, ७, ५)"—इति निगमः॥

(९) नादः नदतेर्घञ्। भवत्यस्मात् स्तुतिः। निगमोऽन्वेपणीयः॥

(१०) छन्दः। छन्दतिरर्चतिकर्मा (३३८ पृ०)। असुन्। 'छद आच्छादने (चु० प०)'। 'छदेश्च'—इत्यसुन्। आच्छादयति स्तोत्रैः। निगमोऽन्वेपणीयः॥

(११) स्तुप्। स्तोभतिरर्चतिकर्मा (३३६ पृ०)। क्विप्। निगमोऽन्वेपणीयः॥

(१२) रुद्रः। रौतेः क्विप्, रुत् शब्दः, मत्वर्थीयो रः। स्तोत्रलक्षणशब्दवानित्यर्थः। "क्राणा रुद्रेभिर्वसुभिः पुरोहितः (ऋ० सं० १, ४, २३, ३)"—इति निगमः॥

(१३) कृपण्युः॥

इति त्रयोदश स्तोतृनामानि॥ १६॥

यज्ञः (१)। वेनः (२)। अध्वरः (३)। मेधः (४)। विदथः (५)। नार्य्यः (६)। सवनं (७)। होत्रा (८)। इष्टिः (९)। देवताता (१०)। मखः (११)। विष्णुः (१२)। इन्दुः (१३)। प्रजापतिः (१४)। घर्मः (१५)। इति पञ्चदश यज्ञनामानि॥ १७॥

(१) यज्ञः। 'प्रख्यातं जयतिकर्मेति नैरुक्ताः (३, १९)—इत्यादि भाष्यकारेण, स्कन्दस्वामिना च यज्ञशब्दो बहुधा व्युत्पादितः। यजेः 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् (३, ३, ९०)' यजनम्। इज्यन्तेऽत्र देवताः। अन्येषु पृषोदरादित्वेन रूपसिद्धिः। "यज्ञो यज्ञेन उदध (ऋ० सं० ३, ८, २१, ४)"—इति निगमः॥

(२) वेनः। व्याख्यातं मेधाविनामसु (३४२ पृ०) गच्छत्यनेन स्वर्गम्, प्रक्षिप्यते देवतोद्देशेन यस्मिन् हव्यम्, तेनात्र देवता काम्यन्ते वा। निगमोऽन्वेषणीयः॥

—इति केचित् पठन्ति। 'तमु काङ्क्षायाम् (दि० प०)' पूर्ववद् धातुलकादुण्। कांक्षति। स्तोतुम्। उभयोरेव निगमोऽन्वेषणीयः॥

(६) कीरिः। 'कै गै रै शब्दे (भू० प०)'। 'कायः कीः—इति इप्रत्ययः। आकारलोपः। स्तोत्रलक्षणं शब्दमारचयति। 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)' "कीरेश्चिन्मन्त्रं मनसा वनोषि तम् (ऋ० सं० १, २, ३४, ३)"—इति निगमः॥

(७) गौः। व्याख्यातं पृथिवीनामसु (२७ पृ०)। गीयन्ते स्तूयन्तेनेन देवताः। "यो अश्वानां गवां गोपतिर्वशी (ऋ० सं० १, ७, १२, ४)"—इति निगमः। 'गोपतिः स्तोत्रपतिः'—इति स्कन्दस्वामी॥

(८) सूरिः। 'सू प्रेरणे (तु० प०)'। 'सुङः क्रिः (उ० ४, ६४)'—इति सुवतेः क्रिर्भवति। प्रकर्षेण ईरयति स्तोत्रम्। "सदा पश्यन्ति सूरयः (ऋ० सं० १, २, ७, ५)"—इति निगमः॥

(९) नादः नदतेर्घञ्। भवत्यस्मात् स्तुतिः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१०) छन्दः। छन्दतिरर्चतिकर्मा (३३८ पृ०)। असुन्। 'छद आच्छादने (चु० प०)'। 'छदेश्च'—इत्यसुन्। आच्छादयति स्तोत्रैः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(११) स्तुप्। स्तोभतिरर्चतिकर्मा (३३६ पृ०)। क्विप्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१२) रुद्रः। रौतेः क्विप्, रुत् शब्दः, मत्वर्थीयो रः। स्तोत्रलक्षणशब्दवानित्यर्थः। "क्राणा रुद्रेभिर्वसुभिः पुरोहितः (ऋ० सं० १, ४, २३, ३)"—इति निगमः॥

(१३) कृपण्युः॥

इति त्रयोदश स्तोतृनामानि॥ १६॥

यज्ञः (१)। वेनः (२)। अध्वरः (३)। मेधः (४)। विदथः (५)। नार्यः (६)। सवनं (७)। होत्रा (८)। इष्टिः (९)। देवताता (१०)। मखः (११)। विष्णुः (१२)। इन्दुः (१३)। प्रजापतिः (१४)। घर्मः (१५)। इति पञ्चदश यज्ञनामानि॥ १७॥

(१) यज्ञः। 'प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः (३, १९)—इत्यादि भाष्यकारेण, स्कन्दस्वामिना च यज्ञशब्दो बहुधा व्युत्पादितः। यजेः 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् (३, ३, ९०)' यज्ञनम्। इज्यन्तेऽत्र देवताः। अन्येषु पृषोदरादित्वेन रूपसिद्धिः। "यज्ञो यज्ञेन उद्व (ऋ० सं० ३, ८, २१, ४)"—इति निगमः॥

(२) वेनः। व्याख्यातं मेधाविनामसु (२४३ पृ०) गच्छत्यनेन स्वर्गम्, प्रक्षिप्यन्ते देवलोके येन यस्मिन् हव्यम्, तेनात्र देवता काम्यन्ते वा। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१३) इन्दुः। 'उन्दी क्लेदने (रु० प०)'। 'उन्देरिच्चादेः (उ० १, १२)'—इत्युप्रत्ययः। क्लिद्यते सूयतेऽस्मिन् सोमः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१४) प्रजापतिः। प्रजाशब्दः पतिशब्दश्च अपत्यनामसु (१११ पृ०) ऐश्वर्य्य कर्मनामसु (२११ पृ०) च व्याख्यातौ। प्रजापतिर्वृष्ट्यादिहेतुत्वात्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१५) घर्मः। 'घृ क्षरणदीप्त्योः (भ्वा० प०)'। मप्रत्ययः। क्षरत्यस्मिन् सोमः, दीप्यन्तेऽत्राग्नय इति वा। "घर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानट् (ऋ० सं० ८, २, १६, १)"—सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मणा (ऋ० सं० ७, ६, १८, ४)"—इति निगमौ॥

इति पञ्चदश यज्ञनामानि॥ १७॥

भारताः (१)। कुरवः (२)। वाघतः (३)। वृक्तबर्हिषः (४)। यतस्रुचः (५)। मरुतः (६)। सबाधः (७)। देवयवः (८)। इत्यष्टावृत्विङ्नामानि॥ १८॥

(१) भारताः। 'भृञ् भरणे (भ्वा० उ०)'। 'भृमृदृशियजिपर्विपच्यमितमिनमिहर्यिभ्योऽतच् (उ० ३, १०७)'। 'यज्ञद्वारेण नॄन्, सम्भरतीति' स्कन्दस्वामी। बिभर्तर्यातच्। 'पुष्यन्ते' दक्षिणाभिः। "अमन्थिष्टां भारता (ऋ० सं० ३, १, २३, २)" इति निगमः॥

(३) अध्वरः। ध्वरतेर्वधकर्मणः 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः (३, ४, ११८)'। नञ्पूर्वः ध्वरा हिंसा, तदभावो यत्र। अतएव शिष्टाः स्मरन्ति—'ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिण स्तथा। यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितां गतिम्'—इति। तस्मादुपपन्नं यज्ञे हिंसा स्वर्जित्यामेतद्यज्ञीयवचनाद्हिंसा प्रतीयते। अन्यत्र विस्तरेणोपपादितः। अथवा षष्ठ्यर्थे बहुव्रीहिः। अविद्यमानोऽध्वरो यस्य सोऽध्वरः, रक्षोभिरहिंसितः। "राजन्तमध्वराणाम् (ऋ० सं० १, १, २, ३)"—इति निगमः॥

(४) मेधः। व्याख्यातं धननामसु (२४२ पृ०)। गच्छन्त्यत्र देवता हविर्गृहीतुं, दक्षिणार्थं वा सदस्यात्, हिनस्त्यनेन पापं वा। 'कर्ता यज्ञो द्रव्याणामृतसामर्थ्याद्धविषश्च सारभूतात्'—इति माधवः। "मेधंजुषन्त वह्नयः (ऋ० सं० १, १, ६, ३)"—'तं मेधेषु प्रथमं देवयन्तीः (ऋ० सं० १, ५, २५, ३)"—इति निगमौ॥

(५) विदथः। 'विद ज्ञाने (अदा० प०)' विद विचारणे (रु० आ०)' 'विद्लृ लाभे (तु० उ०)' 'विद सत्तायाम् (दि० आ०)'। 'रुदिविदिभ्यां ङित् (उ० ३, ११३)'—इति अथप्रत्ययः। ज्ञायते हि यज्ञः, लभते हि दक्षिणादिरत्र विचार्यते हि विद्वद्भिः, भावयत्यनेन फलम्। "अधा जिव्री विदथमावदाथः (ऋ० सं० ८, ३, २५, २)"—इति निगमः॥

(६) नार्यः। 'णी नये' भ्वादिः। 'ऋहलोर्ण्यत् (३, १, १२४)'। नयति स्वर्गं कर्तारम्, नीयतेऽग्रमनुष्ठानेन वा। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(७) सवनम्। 'षुञ् अभिषवे (स्वा० उ०)'। 'सुयुरुवृञ्भ्यो युच् (उ० २, ७०)'। अभिषूयतेऽस्मिन् स्तोमः। "उप नः सवना गहि (ऋ० सं १, १, ७, २)"—इति निगमः॥

(८) होत्रा। व्याख्यातं वाङ्नामसु (१०५ पृ०)। हूयतेऽस्मिन् हविः। "होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः (ऋ० सं० ७, ६, १८, ४)"—इति निगमः॥

(९) इष्टिः। यजेरिषेर्वा क्तिन्। यजतेर्यज्ञवदर्थः, इष्यते हि सः। 'इष्टिशब्दो हविर्यज्ञे आद्युदात्तः यज्ञमात्रे नोदात्तः—इति माधवः। "यथातऽउश्मसीष्टये (ऋ० सं० १, २, ३०, २)"—इति निगमः॥

(१०) देवताता। 'दिवुक्रीडादौ (दि० प०)'। दीव्यन्ति स्तुवन्त्यत्र देवताः। देव एव देवता। 'सर्वदेवात्तातिल् (४, ४, १४२)' सप्तम्या आकारः (७, १, ३९)। "त्रिर्देवतातात्रिरु तावृतं धियः (ऋ० सं० १, ३, ४, ५)"—"आ देवताता हविषा विवासति (ऋ० सं० १, ४, २३, १)"—इति निगमौ॥

(११) मखः। 'मह पूजायाम् (भू० प०)'। 'महेः ख च' खप्रत्ययो हलोपश्च। महन्त्यत्र देवताः। यद्वा, 'मख गतौ' घः। येनवदर्थः। "मखःसहस्रवद्र्चति (ऋ० सं० १, १, १२, ३)" "विपक्तिभिः सपस्य ते मखः (ऋ० सं० ७, ६, १०, १)"—इति निगमौ॥

(१२) विष्णुः। 'विष्लृ व्याप्तौ (जु० उ०)'। 'विषेः किच्च (उ० ३, ३७)'—इति नुप्रत्ययः। विशेषेणाप्नोति स्वर्गम्। "शूरसि धृतमानसाजुष्टो विष्णवे तस्यास्ते"—इति निगमः॥

(८) देवयवः। देवशब्दोपपदात् यातेः 'मृगय्वादयश्च (उ० १, ३६)'—इति कुप्रत्ययान्तो निपात्यते। देवान् यान्ति मनसा हविःप्रदानसमये। निगमोऽन्वेषणीयः॥

इत्यष्टावृत्विङ्नामानि ॥ १८॥

ईमहे (१)। यामि (२)। मन्महे (३)। दद्धि (४)। शग्धि (५)। पूर्द्धि (६)। मिमिढ्ढि (७)। मिमीहि (८)। रिरिढ्ढि (९)। रिरीहि (१०)। पीपरत् (११)। यन्तारः (१२)। यन्धि (१३)। इषुध्यति (१४)। मदेमहि (१५)। मनामहे (१६)। मायते (१७)। इति सप्तदश याच्ञाकर्माणः॥ १९॥

(१) ईमहे। 'ई गतौ' दिवादिः। 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७३)'—इति शपो लुक्। "इतो वा सातिं मीमहे (ऋ० सं० १, १, १२, ५)"—इति निगमः॥

(२) यामि। 'या प्रापणे' अदादिः। "तत्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानः (ऋ० सं० १, २, १५, १)"—इति निगमः॥

(३) मन्महे। 'मनु अवबोधने' तनादिरात्मनेपदी। 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः (६, ४, १०७)'—इति उप्रत्ययस्य लोपः। "वयं

हि ते अमन्महि (ऋ० सं० १, २, ३१, ६)"—इति निगमः। 'ईमहे, यामि, मन्महे, इति याच्ञाकर्मसु पाठात्'—इति स्कन्दस्वामी ॥

(४) दद्धि। 'दद दाने' भ्वादिः। व्यत्ययेन शपः श्लुः। 'हुझल्भ्यो हेर्धिः (६, ४, १०१)'। भाष्यं द्रष्टव्यम् ॥

(५) शग्धि। 'शकॢ शक्तौ' स्वादिः। पूर्ववत् श्लुः। 'झलां जश् झशि (८, ४, ५३)' ॥

(६) पूर्द्धि। 'पॄ पालनपूरणयोः' क्र्यादिः प्वादिश्च। व्यत्ययेन शप्, 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७३)'—इति लुक्। 'श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि (६, ४, १०२)'—इति धिभावः। "शग्धि पूर्द्धि प्रयंसि च (ऋ० सं० १, ३, २५, ४)"—रायस्पूर्द्धि स्वधावोस्ति (ऋ० सं० १, ३, १०, २)"—इति निगमौ ॥ "शाकी भव यजमानस्य चोदिता (ऋ० सं० १, ४, १०, ३)"—इत्यत्र, "शग्धि पूर्द्धि (ऋ० सं० १, ३, २५, ४)"—इत्यत्र च 'शग्धिपूर्द्धीति याच्ञाकर्मसु पाठात् शकिपृणाती याच्ञाकर्माणौ—इति स्कन्दस्वामिभाष्ये उक्तम् ॥

(७) मिमिड्ढि। 'मिह सेचने (भ्वा० प०)'। 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७६)'—शपः श्लुः, छान्दसत्वात् ढलोपाभावश्च ॥

(८) मिमीहि। 'माङ् माने' जुहोत्यादिः। व्यत्ययेन हिः। 'भृञामित् (७, ४, ७६)'। 'ई हल्यघोः (६, ४, ११३)'। "यत् सीं वरिष्ठे बृहती विमिन्वन् (ऋ० सं० ३, ८, ८, १)"—इत्यत्र 'मिमीहि इति याच्ञाकर्मसु पठ्यते, तस्येदं रूपम्, विविधं याचन्'—इति हरदत्तभाष्ये दृष्टम् ॥

(९) रिरिढ्ढि। 'रिह कत्थने' तौदादिकः। पूर्ववत् श्लुः, ढलोपाभावश्च ॥

(१०) रिरीहि। 'रीङ् गतौ'। व्यत्ययेन परस्मैपदं, ह्रौ शपः श्लुः। "प्रजावतीं रिन्द्रागोष्ठे रिरीहि (ऋ० सं० ८, ८, २७, ३)" —इति निगमः ॥ 'सङ्गयेत्यर्थमवोचत्' भट्टभास्करमिश्रः ॥

(११) पीपरत्। पृणोतेर्णिचि, लुङि, उपधाह्रस्वत्वे, द्वित्वे, सन्वद्भावादित्वे, 'दीर्घो लघोः (७, ४, ९४)' 'ऋतश्च (७, ४, ९२)' 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (६, ४, ७५)'—इत्यड्भावः ॥

(१२) यन्तारः। 'यमु उपरमे (भू० प०)'। तृच्। जश्। "इन्द्र इन्द्रायः क्षयति श्रयन्ता (ऋ० सं० १, ४, ११, ४)"—इति निगमः ॥

(१३) यन्धि। 'यमु उपरमे (भू० प०)'। पूर्ववच्छपोलुक्, हेः 'वा छन्दसि (३, ४, ८८)'—इति हेरपित्वे, 'अङ्गितश्च (६, ४, १०३)'—इति धीभावो मकारलोपाभावश्च। "उरु णो यन्धि जीवसे (ऋ० सं० ६, ५, ३, २)"—इति निगमः ॥

(१४) इपुध्यति। 'इपु चरणे' कण्ड्वादिः। "विश्वो राय इपुध्यति (ऋ० सं० ४, ३, ४, १)"—इत्यत्र 'इपुध्यतिर्याच्ञाकर्मणः'—इत्युवटः ॥

(१५) मदेमहि। 'मदी हर्षग्लपनयोः' स्वरितेत्, लिङ् ॥

(१६) मनामहे। 'म्ना अभ्यासे' व्यत्ययेनात्मनेपदम्, पाघ्राध्मास्थाम्ना (७, ३, ७८)'—इत्यादिसूत्रेण मनादेशः। "स्वग्नयो मनामहे (ऋ० सं० १, २, २१, ३)"—इति निगमः ॥

(१७) मायते। नैरुक्तधातुः ॥

इति सप्तदश याच्ञाकर्माणः ॥ १९ ॥

दाति (१)। दाशति (२)। दासति (३)। राति (४)। रासति (५)। पृणक्षि (६)। पृणाति (७)। शिक्षति (८)। तुञ्जति (९)। मंहते (१०) इति दश दानकर्माणः ॥ २० ॥

(१) दाति। 'दाप् लवने' अदादिः, ददातेर्वा 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७३)'—इति शपो लुक्। "दाति प्रियाणि चिद्वसु (ऋ० सं० ३, ५, ८, ३)"—इति निगमः ॥

(२) दाशति। 'दाशृ दाने' स्वरितेत्। "धनं यस्ते ददाशमर्त्यः (ऋ० सं० १, ३, ८, ४)"—इति निगमः ॥

(३) दासति। 'दासृ दाने' स्वरितेत् ॥

(४) राति। 'रा दाने' अदादिः। "तस्य मे रास्व तस्य ते भक्षणाय"—इति निगमः ॥

(५) रासति। 'रासृ शब्दे' व्यत्ययेन परस्मैपदम्। सनो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्राः (ऋ० सं० ४, ८, ६, ३)"—इति निगमः ॥

(६) पृणक्षि। 'पृची सम्पर्के' रुधादिः। "पृणक्षि सानसिं क्रतुम् (ऋ० सं० ८, ७, २८, ४)"—इति निगमः ॥

(७) पृणाति। 'पॄ पालनपूरणयोः' क्र्यादिः स्वादिश्च। "यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति (ऋ० सं० २, १, १०, ५)"—इति निगमः ॥

(८) शिक्षति। शकेः 'सनि मीमा (७, ४, ५४)'—इति इस्। 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७, ४, ५८)' संयोगादिलोपः (८, २, २६) "यस्तु भ्यंदाशाद् यो धा ते शिक्षात् (ऋ० सं० १, ५, १२, ३)"—इति निगमः। 'शिक्षतिर्दानकर्मा पठितः'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्॥

(९) तुञ्जति। 'तुजि हिंसायाम् पालने च'। "तुञ्जे तुञ्जे य उत्तरे (ऋ० सं० १, १, १४, २)"—इति निगमः॥

(१०) मंहते। 'वृहि महि वृद्धौ' आत्मनेपदी। स्तोतृभ्यो मंहते मघम् (ऋ० सं० १, १, २१, ३)"—इति निगमः॥

इति दश दानकर्माणः॥ २०॥

परिस्रव (१)। पवस्व (२)। अभ्यर्ष (३)। आशिषः (४)। इति चत्वारोऽध्येषणाकर्माणः॥ २१॥

(१) परिस्रव। 'स्रु गतौ (भू० प०)' परिपूर्वः लोण्मध्यमैकवचनम्। "इन्द्रायेन्दो परिस्रव (ऋ० सं० ६, ६, १४, ३)"—इति निगमः॥

(२) पवस्व। 'पूञ् पवने (भू० उ०)'। "पवस्व सोम मन्दयन् (ऋ० सं० ७, २, १६, १)"—इति निगमः॥

(३) अभ्यर्ष। 'ऋष गतौ' तुदादिः। 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—इति शस्यार्द्धधातुकत्वे कित्त्वाभावाद् गुणः। "अभ्यर्ष स्वायुधा"—इति निगमः॥

(४) आशिषः। अश्नोतेर्लेट्। 'सिब्बहुलं लेटि (३, १, ३४)' इट्, 'लेटोऽडाटौ (३, ४, ९४)' ॥

इति चत्वारोऽध्येषणाकर्माणः ॥ २ ॥

स्वपिति (१)। सस्ति (२)। इति द्वौ स्वपितिकर्माणौ ॥ २२ ॥

(१) स्वपिति। 'ञि ष्वप शयने' अदादिः। तिपि 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके (७, २, ७६)'—इतीट्। "यो दीक्षितः स्वपिति"—इति निगमः ॥

(२) सस्ति। 'षस स्वप्ने' अदादिः। "सस्तु माता सस्तु पिता (ऋ० सं० ५, ४, २२, ५)"—इति निगमः ॥

इति द्वे स्वपितिकर्माणी ॥ २२ ॥

कूपः (१)। कातुः (२)। कर्त्तः (३)। वव्रः (४)। काटः (५)। खातः (६)। अवतः (७)। क्रिविः (८)। सूदः (९)। उत्सः (१०)। ऋश्यदात् (११)। कारोतरात् (१२)। कुशयः (१३)। केवटः (१४)। इति चतुर्दश कूपनामानि ॥२३॥

(१) कूपः। कुशब्दोपपदात् पिबतेः 'अन्येष्वपि दृश्यते ३, २, १०१)'—इति डः 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—

इति दीर्घः। कुत्सितं पानमत्र, कृच्छ्रसाध्यत्वाच्छौचासम्भवाद्वा। यद्वा, 'कुप क्रोधे' दिवादिः। इगुपधलक्षणः कः, पृषोदरादित्वात् दीर्घः। कुप्यन्त्यस्मै मनुष्याः दुरादानजलत्वात्। यद्वा, कवतेर्गतिकर्मणः, 'कुयुभ्याञ्च (उ० ३, २५)'—इति पप्रत्ययः, कित्त्वाद्दीर्घश्च। गम्यते जलार्थिभिः। "त्रितः कूपेऽवहितः (ऋ० सं० १, ७, २३, २)"—इति निगमः॥

(२) कातुः। 'कै गै शब्दे (भू० प०)'। सितनिगमिमसिसच्यविधाञ्क्रुशिभ्यस्तुन् (उ० १, ६७)'—इति बाहुलकात्तुन्। शब्द्यते बहुलत्वादिना। यद्वा, कशब्दे उपपदे अततेः 'छन्दसीणः (उ० १, २)'—इति बाहुलकादुण्। कमुदकमस्मिन् अत्यते अधिगम्यते। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(३) कर्तः। करोतेर्वा हिंसार्थात्। 'हसिमृग्रिण्वामिदमिलूपूधुर्विभ्यस्तन् (उ० ३, ८३)'—इति बाहुलकात्तन्। क्रियते उत्पाद्यते पुरुषैः, हिंसन्त्यत्र चौराः पथिकादीनर्थवतः, कस्य ऋतः प्राप्तिरत्रेति वा। "कर्त्तमन्वस्य वित्तमादाय घ्नन्ति"—इति निगमः॥

(४) वव्रः। 'वृञ् सम्भक्तौ (स्वा० उ०)'। 'घञर्थे कविधानम् (३, ३, ५८ वा० २)'—इति कः। 'कृञादीनां के द्वे भवतः (३, ३, ५८ वा० ३)। सम्भज्यते जलार्थिभिः। "वव्राँ अनन्ताँ अवसा पदीष्ट (ऋ० सं० ५, ७, ८, २)"—इति निगमः॥

(५) काटः। 'कटे वर्षावरणयोः (भू० प०)' घञ्। आव्रियते जलार्थिभिः। यद्वा, 'अट पट गतौ (भू० प०)' घञ्।

"काटे निबाल्ह ऋषिरह्व दूतये (ऋ० सं० १, ७, २४, ६)'
—इति निगमः ॥

(६) खातः । 'खनु अवदारणे (भू० उ०)' । निष्ठा । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(७) अवतः । अवपूर्वादततेः पचाद्यचि (३, १, १३४) शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् (६, १, ६४ वा०) । अवातति रूप्यमानोऽधोगच्छति "द्रोणाहावमवतमश्मचक्रम् (ऋ० सं० ८, ५, १६, १)"—"आवृतासोऽवतासो न कर्तृभिः (ऋ० सं० १, ४, २०, ३)"—इति निगमौ ॥

(८) क्रिविः । करोतेः कृणोतेर्वा 'कृविघृष्विछविस्थविकिकीदिवि (उ० ४, ५६)'—इतीन्प्रत्ययो गिद्वदेशश्च निपात्यते । कर्त्तचदर्थः । "आव इन्द्रं क्रिविं यथा (ऋ० सं० १, २, २८, १)"
—इति निगमः ॥

(९) सूदः । 'सूद क्षरणे हिंसायाञ्च (भू० आ०)' । क्षरत्यस्मात् जलं, हिंसायां कर्त्तचदर्थः । 'शोभनोदकः सुस्थिरोदको वा सूदः'—इति हरदत्तमिश्रः । 'उदकस्योदः सञ्ज्ञायाम् (६, ३, ५७)' । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१०) उत्सः । उत्पूर्वात् सर्त्तः सदेः स्यन्देर्वा डप्रत्ययः । स्यन्देर्यलोपो बाहुलकात् । [उन्देर्वा 'उन्देर्नलोपश्च'—इति सप्रत्ययः । उद्गच्छत्यस्मात् जलम्, स्यन्दते आर्द्रीक्रियते वा जलेन । "उत्सं न कञ्चिज्जनपानमक्षितम् (ऋ० सं० ७, ५, २२, ५)—इति निगमः ॥

व्यत्ययेन। वियोजयत्यर्थैरर्थतः, वियुज्यते वा प्राणैः। निगमो-ऽन्वेषणीयः॥

(६) रिहायाः। 'रिह कत्थनादौ'—इति क्षीरस्वामी। 'परत्रिकुसुधाविहायस्'—इत्यादिनाऽसुनि आयुडागमो गुणा-भावश्च निपात्यते। रिपुवदर्थः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(७) तायुः। 'तायृ सन्तानपालनयोः (भू० आ०)'। 'छन्दसीणः (उ० १, २)'—इति बाहुलकाद् गुणः। पाल्यते यस्मात् सर्वम्। यद्वा, तसेरुपक्षयार्थात् पूर्ववदुणि बाहुलकात् सकारस्य यकारः। 'उपक्षीणोऽसाविह लोके आयुषा, यदा तदा राज्ञामारिप्यमाणत्वात्, परलोकेऽपि भ्रमणधर्मकत्वात्' —इति स्कन्दस्वामी। "अपत्ये तायवो यथा (ऋ० सं० १, ४, ७, २)"—उत स्मैनं वस्त्रमथिनं तायुम् (ऋ० सं० ३, ७, ११, ५)"—इति निगमौ॥

(८) तस्करः। तत्करोतीति विगृह्य दिवाविभानिशाप्रभा (३, २, २१)'—इत्यादिना टप्रत्ययः। 'करोति यत् पापकम्' —इति नैरुक्ताः। तच्छब्देन प्रकरणसामान्यादर्थप्राधान्याच्च पापकर्मनिर्देशमभिप्रेतमित्याह—'यत् पापकमितिनैरुक्ताः'— इति। वैयाकरणास्तु शब्दपरत्वात् सामान्येऽप्याहुः 'तद्बृहतोः करपत्योश्चौरदेवतयोः सुट् तलोपश्च (६, १, १५७ ग० सू०)' —इति। तनोतेर्वा स्यात् सन्तानकर्मेति सम्मतम्। तच्च सन्ततकर्मत्वं दर्शयति—'दिवा पथि मोषणेन, रात्रौ सन्धिच्छेदनेन'—इति स्कन्दस्वामी। तनोतेः क्विपि नलोपे

तुकि चर्त्यम्। यद्वा, 'त्यजियजितनिभ्यो डित् (उ० १, १३१)'—इति अद्रिप्रत्यये तत्। कर्मशब्दस्य मकारलोपः। पृषोदरादित्वात् रूपम्। "तनूत्यजे च तस्करा वनर्गू (ऋ० सं० ७, ५, ३२, ६)"—"तस्कराणां पतये नमः (य० वा० सं० १६, २१)"—इति निगमौ॥

(९) वनर्गुः। वनशब्दोपपदात् गमेः 'मृगय्वादयश्च (उ० १, ३६)'—इति डुप्रत्ययो रुडागमश्च निपात्यते। तस्करो हि मोषणार्थं सदा वनं गच्छति। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१०) ह्वरश्चित्। 'ह्वृच्छी कौटिल्ये (भू० प०)'। क्विप्। 'राल्लोपः (६, ४, २१)'—इति छकारलोपः। 'चिती सञ्ज्ञाने (भू० प०)'। क्विप्। ह्वरः कौटिल्यानि चेतयते। यद्वा, हरतेः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)—इति विचि गुणः, पृषोदरादित्वात् अकारस्योकारः। ह्वरः अर्थानामाहर्तृन्, चेतयतेः चिनोतेर्वा क्विप्। ह्वरः हृतानर्थान् सञ्चिनोति। अपिशब्दाद् च कर्मणि विच्। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम् (६, ३, १४)'—इत्यलुक्। "अपप्रोथन्तः सनुतर्हुरश्चितः (ऋ० सं ७, ४, २४, ५)"—इति निगमः॥

(११) मुषीवान्। 'मुष स्तेये (क्र्या० प०)'। अच्। 'कृदिकारादक्तिनः (४, १, ४५ वा०)'—इति ङीप्। मुषी मोषणमस्यास्ति। 'छन्दसीवनिपौ (५, २, १२२ वा० २)'—इति वनिप्। "मुषीवाणं हुरश्चितम् (ऋ० सं० १, ३, २४, ३)"—इति निगमः। अत्र 'परोक्षहर्ता चौरो मुषीवान्, प्रत्यक्षहर्ता हुरश्चित्'—इति माधवः॥

(१२) मलिम्लुचः। मलमस्यास्ति। 'ज्योत्स्नातमिस्राशृङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जस्वलगोमिन्मलिनमलीमसाः (५, २, ११४)' —इति मलिनो निपात्यते। म्लुच स्तेयकरणे (भ्र० प०)'। 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (३, १, १३५)'। मलिमश्चासौ म्लुचश्च मलिम्लुचः। पृषोदरादित्वेन नलोपः। निगमोऽन्वेषणीयः।

(१३) अघशंसः। आङ्पूर्वात् हन्तेः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डः। पृषोदरादित्वात् आङो ह्रस्वत्वं हकारस्य घत्वञ्च। शंसेः पचाद्यच्। आहन्ता, वधस्वभावः, आशंसमानश्च। "अघशंसस्य कस्यचित् (ऋ० सं० १, ३, २४, ४)"—इति निगमः॥

(१४) वृकः। व्याख्यातमृत्विङ्नामसु (३५३ पृ०)। चारको मार्गस्य। "यो नः पूषन्नघो वृकः (ऋ० सं० १, ३, २४, २)" —इति निगमः॥

इति चतुर्दश स्तेननामानि॥ २४॥

निण्यम् (१)। सस्वः (२)। सनुतः (३)। हिरुक् (४)। प्रतीच्यम् (५)। अपीच्यम् (६)। इति षट् निर्णीतान्तर्हितनामधेयानि॥ २५॥

(१) निण्यम्। निर्शब्दपूर्वात् नयतेः 'अघ्न्यादयश्च (उ० ४, १०८)'—इति यत्प्रत्ययष्टिलोपो रेफलोपश्च निपात्यते। निर्णीतं बहिर्नीतम्, निर्गतमन्तर्हितं वा। "वृत्रस्य निण्यं वि-

चरन्त्यापः (ऋ० सं १, २, ३७, ५)"—"निण्यः सन्न ज्ञो मनसा चरामि (ऋ० सं० २, ३, २१, २)"—इति निगमौ ॥

(२) सस्वः। सम्पूर्वात् स्वरतेर्गतिकर्मणो विचि स्वरगुणः। समोऽन्तलोपः। सम्यगन्तर्गतं विनिर्गतं वा। "सस्वर्हे यन्मरुतो गोतमो वः (ऋ० सं० १, ६, १४, ५)"—"यत् सस्वर्त्ता जिहीळिरे यदाविः (ऋ० सं० ५, ४, २८, ५)"—इति निगमौ ॥

(३) सनुतः। (४) हिरुक्। स्वरादिः। "सनुतर्युहि तं ततः (ऋ० सं० ६, ६, ३६, ३)"—"य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् (ऋ० सं० २, ३, २०, २)"—इति निगमौ ॥

(५) प्रतीच्यम्। (६) अपीच्यम्। अपीच्यमपगतमपचितम् (निरु० ४, २५)'—इत्यादिभाष्ये 'प्रत्यपचितं स्थितम्' इति स्कन्दस्वामी। प्रतिपूर्वात् अपमात्रपूर्वाच्च चिनोतेः अघ्न्यादित्वात् यप्रत्ययष्टिलोपादि च निपात्यते। प्रतीच्यस्य निगमोऽन्वेषणीयः॥ "नाम त्वष्टुरपीच्यम् (ऋ० सं० १, ६, ७, ५)"—"(य उस्राणामपीच्यासु (ऋ० सं० ६, ३, २६, ५)"—इति निगमौ॥ 'य उस्राणामपीच्या'—इत्यत्र 'अपिपूर्वादञ्चतेः 'ऋत्विगित्यादिना (३, २, ५९)' क्विन्प्रत्ययः, ततो 'भवे छन्दसि च (४, ४, ११०)'—इति यत्, 'अचः (६, ४, १३८)'—इत्यकारलोपः' 'चौ (६, ३, १३८)'—इति पूर्वपदस्य दीर्घः। 'अपीच्योऽप्रकाशः'—इति भट्टभास्करमिश्रः॥

इति षट् निर्णीतान्तर्हितनामानि ॥ २५ ॥

आके (१)। पराके (२)। पराचैः (३)। आरे (४)। परावतः (५)। इति पञ्च दूरनामानि ॥ २६ ॥

(१) आके। (२) पराके। आङ्पूर्वात् परापूर्वाच्च एते 'पिनाकादयश्च (उ० ४, १५)'—इति आकप्रत्ययो धातुलोपश्च निपात्यते। यद्वा, आङ्पूर्वात् परापूर्वाच्च किरतेः 'अन्येष्वपि (३, २, १०१)'—इति डः। आकीर्णं पराकीर्णं च तद् विक्षिप्तमिव भवति आके निगमोऽन्वेषणीयः॥ "क्षयन्तमस्य रजसः पराके (ऋ० सं० ५, ६, २५, ५)"—इति निगमः॥

(३) पराचैः। 'नीचैरिति यद्वत्रयं पराचैः'—इति भट्टभास्करमिश्रः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४) आरे। अव्ययम्। "न हि त्वदारे निमिषश्च नेशे (ऋ० सं० २, ७, १०, १)"—इति निगमः॥

(५) परावतः। ईरयतेर्वहतेर्गतिकर्मणो वा संसाधनेऽर्थे वर्तमानात् प्रोपसर्गात् परोपसर्गाद्वा 'उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे (५, १, ११८)'—इति वतिः। पृषोदरादित्वात् प्रशब्दस्य पराभावः। प्रकर्षेण ईरति विक्षिप्तं परागतमिव वा तद् भवति। "परावतं परमां गन्तवा उ (ऋ० सं० ८, ५, ३, ४)"—"ससारसीं परावतः (ऋ० सं० ३, ६, २१, १)"—इति निगमौ॥

इति पञ्च दूरनामानि ॥ २६ ॥

प्रत्नम् (१)। प्रदिवः (२)। प्रवयाः (३)। सनेमि (४)। पूर्व्यम् (५)। अह्नाय (६)। इति षट् पुराणनामानि ॥ २७ ॥

(१) प्रत्नम्। 'नश्च पुराणे प्रात् (५, ४, २५ वा० २)'—इति नप्रत्ययः। "तम् प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा (ऋ० सं० ४, २, २३, १)"—इति निगमः॥

(२) प्रदिवः। "यदीमनु प्रदिवः (ऋ० सं० २, २, ८, ३)"—इत्यत्र पुंलिङ्गद्विवचनान्तेन, "क्षत्रं राजाना प्रदिवः (ऋ० सं० ३, २, २३, ५)"—इत्यत्र, षष्ठ्येकवचनान्तेन, "इन्द्राय सोमाः प्रदिवः (ऋ० सं० ३, २, १६, २)"—इत्यत्र प्रथमाबहुवचनान्तेन च प्रदिव इत्येव सामानाधिकरण्यदर्शनात् सकारान्तमेतदव्यय-मित्याहुः। इन्द्रार्थत्वेनानादिकालप्रवृत्ता इत्यभाषयत्। तेन प्रगतानि दिनान्यस्य पृषोदरादित्वाद्वकारस्य वकारः इत्यादि व्युत्पत्तिः। निगमेषु वचनव्यत्ययश्चाश्रयणीयः॥

(३) प्रवयाः। प्रगतं वयो यस्य। वयः कालमात्रमत्र। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४) सनेमि। अव्ययम्। "सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः (ऋ० सं० ५, ४, ५, ७)"—"सनेमि सख्यं स्वपस्यमानः (ऋ० सं० १, ५, २, ४)"—"सनेम्यस्य मरुतो जुनन्ति (ऋ० सं० २, ४, ८, ३)"—इति निगमः॥

(५) पूर्व्यम्। 'पूर्व पूरणे (भ्वा० ५०)'। पचाद्यच् (३, १, १३४)। वयःप्रभृतिं पूरयतीति, पूर्वस्मिन् काले भवं पूर्व्यम्

'भवे छन्दसि (४, ४, ११०)'—इति यत्। यद्वा, 'पूर्वैः कृतमिनयौ च (४, ४, १३३)'—इति यः। "पूर्व्यहोतरस्य नः (ऋ० सं० १, २, २०, ५)"—"यः स्तोमेभिर्वावृधे पूर्व्येभिः (ऋ० सं० ३, २, ११, ३)"—इति निगमौ॥

(६) अह्नाय। अव्ययम्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

इति षट् पुराणनामानि॥ २७॥

नवम् (१)। नूत्नम् (२)। नूतनम् (३)। नव्यम्(४)। इदा(५)। इदानीम्(६)। इति षडेव नवनामानि॥ २८॥

(१) नवम्। यद्वा, 'णु स्तुतौ (अदा० प०)'। 'ऋदोरप् (३, ३, ५७)'। नूयते स्तूयते, अचिरकृतत्वेन रमणीयत्वादिति। "नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम"—इति निगमः॥

(२) नूत्नम्। नौतेरेव। 'रास्नासास्ना (उ० ३, १३)'—इत्यादिना नप्रत्ययो दीर्घश्च निपात्यते। "नूत्नाऽइदिन्द्र ते वयमूती (ऋ० सं० ६, २, २, २)"—इति निगमः॥

(३) नूतनम्। नवस्य नू—आदेशः 'चिरन्तनपरुत्परारिभ्यस्त्नाश्च प्रत्यया वक्तव्याः (५, ४, २५ वा० १)'—इति तनप्प्रत्ययः। "ईड्यो नूतनैरुत (ऋ० सं० १, १, १, २)"—इति निगमः॥

(४) नव्यम्। नवमेव नव्यम्। 'शाखादिभ्यो यत् (५, ३, १०३)'—इति स्वार्थे यत्। यद्वा, नौतेः 'अचो यत् (३, १, ९७)'—'धात्वोर्यि प्रत्यये (६, १, ७९)'।

"इन्द्राग्नी स्तोम जनयामि नव्यम् (ऋ० सं० १, ७, २८, २)" —इति निगमः॥

(५) इदा। 'तयोर्दाहिलौ च च्छन्दसि (५, ३, २०)'—इति इदंशब्दात् सप्तम्यन्तात् दाप्रत्ययः। "इदा हि व उपस्तुतिम् (ऋ० सं० ६, २, ३३, १)"—इति निगमः॥

(६) इदानीम्। 'दानीञ्च (५, ३, १८)'—इति तस्मादेव दानींप्रत्ययः। "इदानीमह्नऽउपवाच्यो नृभिः (ऋ० सं० ३, ८, ५, १)"—इति निगमः॥

इति षडेव नवनामानि ॥ २८ ॥

प्रपित्वे (१)। अभीके (२)। दभ्रम् (३)। अर्भकम्(४)। तिरः(५)। सतः (६)। त्वः(७)। नेमः(८)। ऋक्षाः(९)। स्तृभिः(१०)। वम्रीभिः (११)। उपजिह्विका (१२)। उर्दरम् (१३)। कृदरम् (१४)। रम्भः (१५)। पिनाकम् (१६)। मेना (१७)। ग्नाः (१८)। शेपः (१९)। वेतसः (२०)। अया(२१)। एना(२२)। सिषक्तु(२३)। सचते (२४)। भ्यसते (२५)। रेजते(२६)। इति षड्विंशतिर्द्विश उत्तराणि नामानि ॥२९॥

[1] प्रपित्वे इत्यादीनि भाष्यकारेणैव निरुक्तानि (निरु० ३, २०, २१) ॥ २९ ॥

स्त्रधे (१)। पुरन्धी (२)। धिषणे (३)। रोदसी(४)। क्षोणी(५)। अम्भसी(६)। नभसी (७)। रजसी(८)। सदसी(९)। सद्मनी (११)। घृतवती (११)। बहुले (१२)। गभीरे (१३)। गम्भीरे (१४)। ओण्यौ (१५)। चम्वौ (१६)। पार्श्वौ (१७)। मही (१८)। उर्वी (१९)। पृथ्वी (२०)। अदिती (२१)। अह्नी (२२)। दूरेअन्ते (२३)। अपारे (२४)। अपारे इति चतुर्विंशतिर्द्यावापृथिवीनामधेयानि नामधेयानि ॥३०॥

उर्व्यृहन्महद्गयद्रज्यतिशिम्वातानिर्णिगस्त्रमाकेतुर्वट्चिक्यद्धिकमिदमिवार्चतिविप्रोरेभोयज्ञोभरताईमहेदाति परिस्रवस्वपितिकूपस्तृपुर्निण्यमाकेप्रत्नन्नवम्प्रपित्वेस्वधे त्रिंशत् ॥

इति निघण्टौ तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

(१) स्वधे। व्याख्यातमन्ननामसु (१४५ पृ०। २२५ पृ०)। स्वेनात्मना भूतग्रामं धारयतः, स्वं धनं धीयते अनयोरिति वा। द्यावापृथिवीनामसु सर्वत्र द्विवचनान्तत्वम्। तथाच, "आदु वृषाते मिथुनानि नाम (ऋ० सं० ३, ३, २५, २)"— इत्यत्र, स्कन्दस्वामी—'मिथुनानि द्विवचनसंयुक्तानि नामानि 'स्वधे पुरन्धी'—इत्यादीनि स्तोतृभ्यः'—इति॥

(२) पुरन्धी। पुराणि धीयन्तेऽनयोः। 'कर्मण्यधिकरणे च (३, ४, ९३)'—इति किप्रत्ययः। पृषोदरादित्वान्मकार उपजनः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(३) धिषणे। व्याख्यातं वाङ्नामसु (१०८ पृ०)। स्वं रक्षितुं प्रगल्भे समर्थे, धारयित्र्यौ वा देवमनुष्यादीन्, शब्द्यते स्तूयते वा। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४) रोदसी। 'इतीदमस्ति स्त्रीलिङ्गद्विवचनान्तम्, द्यावापृथिव्योर्वर्त्तमानं चास्ति नपुंसकद्विवचनान्तम्, अस्ति चाव्ययम्। तत्र निगमानां साधारण्यात् तेषां त्रयाणामपि साधारणोऽयं पाठः'—इत्याहुः। 'प्रस्तरस्यापि विभुत्वात्, "रोदस्यौ रोदसी च ते"—इत्यत्र आद्य ईवन्तो दिवि भुवि च वर्त्तते, अन्त्यः सान्तः'—इति क्षीरस्वामी। तत्र रुधेरसुन्, पृषोदरादित्वात् धकारस्य दकारः, स्त्रीलिङ्गे तु 'उगितश्च (४, १, ६)'—इति ङीप्, 'वा छन्दसि (६, १, १०६)'—इतिपूर्वसवर्णः। आभ्यां हि विविधं रुद्धानि सर्वभूतानि। "नमो दिवे बृहते रोदसीभ्याम (ऋ० सं २, १, २६, ६)"—"होतारं

सत्ययजं रोदस्योः (ऋ० सं० ३, ४, २०, १)"—"इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे (ऋ० सं० ३, २, १, ५)"—इति निगमाः। "विपितस्तुका रोदसी नृमणाः (ऋ० सं० २,४,४,५)"—इत्यादौ अन्तोदात्तौ रोदसीशब्दो रुद्रपत्नीवचनः'—इति माधवः।

(५) क्षोणी। व्याख्यातं पृथिवीनामसु (३१पृ०)। "अधः क्षोणी सचते माहिना याम् (ऋ० सं० २, ४, २३, ५)"—इति निगमः।

(६) अम्भसी। व्याख्यातमुदकनामसु (११७ पृ०)। बाहुलकादत्रापि नुम्। यद्वा, अम्भ उदकमनयोरस्ति, मत्वर्थीयस्य लुक्। एकत्रावशिष्टमपरत्रावशिष्यमाणमादित्यमण्डलस्थम्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(७) नभसी। 'णह बन्धने (दि० उ०)'। 'नहेर्दिवि भश्च (उ० ४, २०१)'—इति असुन्। साहचर्य्यात् उभे अपि नभःशब्देनोच्यते। सम्बध्यते पुण्यवद्भिः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(८) रजसी। 'रञ्ज रागे (भू० उ०)'। 'भूरञ्जिभ्यां कित् (उ० ४, २११)'—इत्यसुन्। 'रजकरजनरजसीनि घा नलोपः, रजके स्वगुणे भूतानां 'रजोरजतेर्गतिकर्मणः'—इति माधवः। गम्यते पुण्यवद्भिः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(९) सदसी। सदेरसुन्। सीदन्त्यनयोर्देवमनुष्यादयः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१०) सद्मनी। सदेरेव मनिन्। "पुराण्योः सद्मनोः केतुरन्तः (ऋ० सं० ३, ३, २८, २)"—इति निगमः। भाष्यं द्रष्टव्यम्॥

(११) घृतवती। उदकवत्यौ। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१२) बहुले। 'बंहिष्ठः'—इति महन्नामसु व्याख्यातम् (२१२ पृ०) बहुभिः पदार्थैस्तद्वत्यौ। "उर्वी पृथ्वी बहुले दूरे-अन्ते (ऋ० सं० २, ५, ३, २)'—इति निगमः॥

(१३) गभीरे। (१४) गम्भीरे। व्याख्याते वाङ्नामसु (६६ पृ०)। गम्यते सत्पुरुषैः, प्रतितिष्ठन्त्यनयोर्वैधमनुष्यादयः। निगमावन्वेषणीयौ॥

(१५) ओण्यौ। 'ओणृ अपनयने (भू० प०)'। 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'। 'कृदिकारादक्तिनः (४, १, ४५ वा०)'—इति ङीप्। अपनयतः स्वाश्रितानां क्लेशान्। यद्वा, अवतेर्लुटि, छान्दसत्वात् सम्प्रसारणे गुणश्च, त्रिघात् ङीप्। "अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः (य० वा० सं० ४, २५)"—इति निगमः॥

(१६) चम्वौ। 'चमु अदने (भू० प०)'। 'कृषिचमितनिधनिसर्जिस्वर्जिभ्य ऊः (उ० १, ७८)'—इति ऊप्रत्ययः। चमन्त्यनयोः। "उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तः (ऋ० सं० २, ३, २०, ३)"—इति निगमः।

(१७) पार्श्वौ। 'स्पृश संस्पर्शने (तु० प०)'। 'स्पृशे श्वण्-शुनौ पृ च (उ० ५, २७)'—इति श्वणप्रत्ययो धातोः पृभावश्च। णित्वाद्वृद्धिः व्यत्ययेन पुलिङ्गता। "पार्श्वे"—इति पाठान्तरम्। संस्पृशतो व्याप्नुतः सर्वान् पदार्थान्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१८) मही। एतदादीनि चत्वारि पृथिवीनामसु व्याख्यातानि

(३२ पृ०)। महत्यौ पूजनीये वा। "वेपेते भियसा मही (ऋ० सं० १, ५, ३१, १)"—इति निगमः॥

(१९) उर्वी। विस्तीर्णे, आच्छादयित्र्यौ वा स्वर्गाधःस्थितलोकस्य। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२०) पृथ्वी। प्रथिता विस्तारिता ब्रह्मणा सृष्टिकाले। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२१) अदिती। देवमनुष्यादिसकलप्रपञ्चधारणेऽप्यदीने इत्यर्थः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२२) अही। मेघनामसु गोनामसु च व्याख्यातम् (८७ पृ०। २४५ पृ०)। गम्यते प्राणिभिः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२३) दूरेअन्ते। दुःशब्दोपपदात् एतेः 'दुरीणो लोपश्च (उ० २, १८)'—इति रक्प्रत्ययो धातोर्लोपश्च। 'रोरि (८, ३, १४)'—इति रेफलोपः, लोपे पूर्वस्य दीर्घः (६, ३, १११)। 'अन्तो अततेः (निरु० ४, २५)'—इति भाष्यम्। तत्र बाहुलकात्तन् मकारस्यान्तादेशः। 'दुःखेन गम्यते दूरमतोऽस्यादेर्मध्याद्य सततगतो भवति, न कदाचिदादौ मध्ये चास्ति'—इति स्कन्दस्वामी। दूरे अन्तमवसानगतिर्ययोः। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम् (६, ३, १४)'—इत्यलुक्। "समान्या वियुते दूरेअन्ते (ऋ० सं० ३, ३, २५, २)"—इति निगमः॥

(२४) अपारे। 'पार तीर कर्मसमाप्तौ' जुहोत्यादिरदन्तः। घञ्। समाप्तिरिति वा समाप्यतेऽनेनेति वा पारः। 'अपारे दूरपारे (निरु० ६, १)'—इति भाष्ये। 'अविद्यमानं पारमन्तं

ययोः ते अपारे। दूरत्वेन पराभवं दर्शयति पुराणदृष्ट्या वा लोकपर्यन्तताम्'—इति स्कन्दस्वामी। निगमोऽन्वेषणीयः॥

अध्यायपरिसमाप्तिसूचकद्विर्वचनमिति सिद्धम्॥

इति देवराजयज्वविरचिते नैघण्टुककाण्डनिर्वचने
तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

इति नैघंटुकं नामाद्यं काण्डं समाप्तम्॥

—००—

(नैघण्टुक-टीका-परिशिष्टम्)

स्वरादीनीति पूर्वमुक्तस्य प्रकरणत्रयस्य (५१ पृ०, ३३५ पृ०, ३७१ पृ०), निगमदैवतकाण्डयोश्च निर्वचनं भाष्यस्कन्दस्वामिभ्यां प्रदर्शितं तदत्र क्रमेण लिख्यते। तत्र, निगमव्याख्यानादि यदत्रानुसंहितं, तत् तत्रैव द्रष्टव्यम्॥

(१) स्वः। सुपूर्वादर्तेरीरयतेर्वा 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति विचि कृद्ग्रहणस्य प्रयोगानुसरणार्थत्वात् कर्त्तर्यपि भवति। ईरयतेरीकारस्याकारो व्यत्ययेन, गुणः। 'स्वरादिनिपातमव्ययम् (१, १, ३७)' सुपो लुक् (२, ४, ७१), रेफस्य विसर्जनीयः (८, ३, १५)। शोभनमरणं गमनं सुखाय हिताय वा यस्य, शोभनं वा प्रेरणं तमसां यस्य, सुष्ठु वा

कृतो रश्मिभिः रसानादातुम्, भासं वा ज्योतिषां नक्षत्रादीनां, भासा सुष्ठु कृतः प्राप्त इति वा, स्वरादित्यः द्यौश्च। सु सुष्ठु शोभनमरणमस्यांशरूपैर्वा पुण्यवद्भिरर्य्यते, सुष्ठु वा पुण्यकृत ईरयति स्वृतो रसैः स्वृतो भाभिर्ज्योतिषा, स्वयमेव वा दीप्तम्। "भूर्भुवः स्वः (य० वा० सं ३, ३७)"—इति दिव उदाहरणम्। "ए भिर्नो अर्कैर्भवानो अर्वाङ् स्व१ र्ण ज्योतिः (ऋ० सं० ३, ५, १०, ३)"—इत्यादित्यस्य॥

(२) पृश्निः। प्रपूर्वादश्नोतेः स्पृशतेर्वा 'घृणिपृश्निपार्ष्णिचूर्णिभूर्णि (उ० ४, ५२)'—इति निप्रत्ययः, प्राशेः स्पृशेश्च पृशभावो निपात्यते। प्राश्नुत एनं शुक्लो वर्णः संस्पृष्टा रसान्। इतव्याख्यानमन्यत् पूर्वेण। संस्पृष्टा भासं ज्योतिषामस्पृष्टो भासेति वा पृश्निरादित्यः। द्यौस्तु संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च 'सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि यन्नक्षत्राणि (ऋ० सं० १, ४, ७, २, मा० भा०)'—इति श्रुतेः। "पृश्नेः पुत्रा उपमासो रभिष्ठाः (ऋ० सं० ४, ३, २३, ५)"—इति निगमो दिवः। "अयं वेनश्चो दयत्पृश्निगर्भाः (ऋ० सं० ८, ७, ७, १)"—इत्यादित्यस्य॥

(३) नाकः। नयतेः 'पिनाकादयश्च (उ० ४, १५)'—इत्याकप्रत्ययष्टिलोपश्च निपात्यते। नेता रसानाम्, नेता भासामात्मीयानाम्, ज्योतिषां प्रणायकश्चादित्यः। द्यौस्तु, कमिति सुखनाम, न कम् अकम् असुखम्, न अकं यत्र स नाकः। 'नभ्राण्नपान्नवेदा (६, ३, ७५)'—इत्यादिना नञः प्रकृतिभावः।

"न वा अमुं लोकं जग्मुषे किञ्च नाकम् (निरु० २, १४)"—इति ब्राह्मणम्। अत्यन्तसुखमित्यर्थः। "नाकस्य पृष्ठे अधितिष्ठति श्रितः (ऋ० सं० २, १, १०, ५)"—इति दिवः। तत्र अधि नाके अस्मिन् (ऋ० सं० ८, ७, १८, २)"—इति निगम आदित्यस्य॥

(४) गौः। व्याख्यातं पृथिवीनामसु (७७ पृ०)। गमिरन्तर्णीतण्यर्थः। गमयति रसान् मण्डलं प्रति रश्मिभिः, गच्छति वान्तरिक्षे इति गौरादित्यः। यत् पृथिव्या उपरि दूरं गता, यद्वास्यां ज्योतींषि गच्छन्तीति गौः द्यौः। "गवामभि गोपतिरेक इन्द्र (ऋ० सं० ५, ६, २३, ६)"—इति दिवः। "उ ताद: परस्ये गवि (ऋ० सं० ४, ८, २२, ३)"—इत्यादित्यस्य॥

(५) विष्टप्। 'ष्टभि प्रतिबन्धे (क्र्या० सौ० ५०)'। विपूर्वात् क्विपि भकारस्य पकारो व्यत्ययेन। विष्टभिराविशतेऽर्थे वर्त्तते। यद्वा, विशेरेव बाहुलकाद्रूपसिद्धिः। पृथिवीतो रसानादातुमाविष्टोऽभिनिविष्ट इत्यर्थः। एवमेव भासां ज्योतिषां भासा वाविष्टो व्याप्तः आदित्यः। द्यौराविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च। "उदग्रब्रध्नस्य विष्टपम् (ऋ० सं० ६, ५, ६, १)"—इत्याद्युदाहरणम्॥

(६) नभः। नयतेरसुनि गुणे 'नयः' इति स्थिते बाहुलकात् यकारस्य भकारः। नाकशब्देन समानोऽर्थः। अथवा भासनशब्दस्य ह्रस्वत्वं, सकारलोपः, भकारयकारयोश्च, स्थान-

विपर्य्ययः, सान्तत्वञ्च। सर्वत्र सूत्रप्राप्त्यनुक्तौ पृषोदरादित्वात् द्रष्टव्यम्। यद्वा, न भाति 'नभः'। असुनि भातेष्टिलोपश्च। एतेन द्यौर्व्याख्याता। "ज्योतिष्मति प्रतिमुञ्च ते नभः"—"स्वर्जज्ञानोनभसा (ऋ० सं० ७, ३, १४, ५,)"—इत्युदाहरणम्॥

इति षट् साधारणानि दिवश्चादित्यस्य॥ १, ४॥

इदमाद्युपमानामानि। भाष्यकारेण स्कन्दस्वामिना च विस्तरेण व्याख्यातानि (निरु० ३, १३—१८)। निपातप्रायत्वात् शब्दनिर्वचनस्यावक्तव्यत्वात् उदाहरणमात्रमत्र प्रदर्श्यते।—

(१) इदमिव। (२) इदं यथा। अत्र इदंशब्द उपमानशब्दसन्निधानाय प्रयुक्तः। इवादयश्च निपाताः पराश्रयस्योपमानत्वस्य धर्मस्य प्रतिपादनार्थाः। "इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठ (ऋ० सं० ८, ८, ३१, २)"—"यथा वातो यथा वनम् (ऋ०सं० ४, ४, २० ४)"॥

(३) अग्निर्न ये। अत्र नशब्द उपमानार्थः। "अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसः (ऋ० सं० ८, ३, १२, २)"॥

(४) "चतुरश्चिद्ददमानात्" (ऋ० सं० १, २, २३, ४)। अत्र चिच्छब्दः॥

(५) "ब्राह्मणा व्रतचारिणः (ऋ० सं० ५, ७, ३, १)"। उपमाप्रतिपादनेनादिलोपाल्लुप्तोपमः॥

(६) "वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः (ऋ० सं० ४, ६, १७, ३)"। अत्र नू शब्दः॥

(७) जार आ भगम्। उदीरय पितरा जार आ भगम् (ऋ० सं० ७, ६, १०, १)"। अत्र आकारः॥

(८) "मेषो भूतो ३ भि यन्नयः (ऋ० सं० ५, ७, २४, ५)"। अत्र भूतशब्देनोपमोच्यते॥

(९) तद्रूपः। (१०) तद्वर्णः। रूपशब्देन वर्णशब्देन चोत्तरपदेन समासादुपमा प्रतीयते॥

(११) तद्वत्। पूर्ववत्तच्छब्दस्यार्थः। "प्रियमेधवदत्रिवत् (ऋ० सं० १, ३, ३१, ३)"। 'तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिः (५, १, ११५)॥

(१२) तथा। तम्प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा (ऋ० सं० ४, ३, २३, १)"। प्रत्नपूर्वविश्वेमात् थाल् छन्दसि (५, ३, १११)' —इति इवार्थेऽयं थाल् विहितः॥

इति द्वादशोपमानामानि॥ ३, १३॥

"तथा"—इत्यस्यानन्तरं "सिंहः"—इति केषुचित् कोशेषु दृश्यते, तत्र पठनीयम्, अथ लुप्तोपमानि (निरु० ३, १८)'—इत्यादिभाष्यस्य तु "ब्राह्मणा व्रतचारिणः (५)"—इति पूर्वमुक्तस्य लुप्तोपमस्य प्रपञ्चत्वात्॥

(१) प्रपित्वे। (२) अभीके। इत्यासन्नस्य। प्रपूर्वादाप्नोतेर्निष्ठायां प्राप्तशब्दस्य प्रपित्वभावः। यथा, 'इत्यनादयोऽन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते'—इतीत्यन्प्रत्यये धातुलकारादाकारलोपः। पित्वशब्द

आसन्नार्थः। प्रकृष्टदेशकालयो. प्राप्तिः प्रपित्वे इति॥ अभिपूर्वादञ्चतेः 'अलीकादयश्च (उ० ४, २५)—इतीकन्प्रत्ययो धातुलोपश्च निपात्यते। अभ्यक्ते आसन्ने इत्यर्थः। सोपसर्गौ सप्तम्यन्तौ यथाद्रष्टाविति पठितौ॥ "आपित्वे नः प्रपित्वे तूय मागहि (ऋ० सं० ५, ७, ३०, ३)"—"अभीके चिदु लोककृत् (ऋ० सं० ८, ७ २१, १)"—इत्यपि निगमौ॥

(३) दभ्रम्। (४) अर्भकम्। इत्यल्पस्य। दभ्रमिति दम्भोतेर्वधकर्मणः 'स्फायितञ्चि (उ० २, १२,)'—इत्यादिना रक्, 'अनिदिताम् (६, ४, २४)'—इति नलोपः। सुदभ्रं सुच्छेद्म् अल्पत्वात्॥ हरतेः 'अर्भकश्च पृथुकपाका वयसि' —इति कप्रत्यये, हकारस्य भकारे गुणे रपरत्वे अकारे चोपजने च अर्भकमिति निपात्यते। अवद्धतमूनपरिमाण इत्यर्थः॥ "मा मे दभ्राणि मन्यथाः (ऋ० सं० २, १, ११, ७)"—"नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यः (ऋ० सं० १, २, २४, ३)"॥

(५) तिरः। (६) सतः। इति प्राप्तस्य। अप्राप्तस्येत्यपरः पाठः। तरतेरसुनि बाहुलकादकारस्येकारः। तीर्णं प्राप्तमागतम्॥ सर्त्तेरसुनि रेफस्य यकारः। सतः संसृतम्॥ अप्राप्तस्येति पाठे पराजितं तरणं सरणं च द्रष्टव्यम्॥ "तिरश्चिदर्यया परि (ऋ० सं० ४, ४, १६, २)"—"पात्रेवभिन्दनत्सत एति रक्षसः (ऋ० सं० ५, ७, ६, १)"॥

(७) त्वः। (८) नेमः। इत्यर्द्धस्य। अर्द्धशब्दोऽत्र सम्प्रविभागवचनः, अर्द्धं हरते इति नपुंसकनिर्देशात्। त्वः अप-

गतः अपेत्य समुदायान् गतः पृथग्भूतः। तनोतेरुपधाया: पूर्व उकारः, यणादेशः, नकारस्य विसर्जनीयः इति स्कन्दस्वामी। तनोतेः 'सर्वनिघृष्वरिष्वलष्व (उ० १, १५१)' इति वन्प्रत्ययष्टिलोपो निपात्यते॥

नेमशब्दोऽर्धनामसु व्याख्यातः (२२५ पृ०)। सर्वादिरयम्। समुदायादपनीतः पृथग्भूत इत्यर्थः॥ "पीयति त्वो अनुत्वो गृणाति (ऋ० सं० २, २, १६, २)"—"प्र नेमस्मिन् ददृशे सोमो अन्तः (ऋ० सं० ८, १, ६, ५)"॥

(९) ऋक्षाः। (१०) स्तृभिः। इति नक्षत्राणाम्। ऋष गतौ (तु० प०)'। ऋषेः 'इगुपधात् कित् (उ० ४, ११६)'—इति किदिन्प्रत्ययः। ऋषिरत्र उदर्थविशिष्टः। उद्गतानि ऊर्ध्वमीरितानीव प्रकाशन्ते॥ 'स्तृञ् आच्छादने (क्र्या० उ०)'। कर्मण्यौणादिकः क्विप्, बाहुलकात्तुग् न भवति। स्तीर्णानि प्रसारितानि विस्तीर्णानि च प्रकाशन्ते हि। तस्य पाठो यथादृष्टम्॥ "अमी य ऋक्षा निहिता स उच्चा (ऋ० सं० १, २, १४, ५)"—"पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः (ऋ० सं० ३, ५, ६, ३)"॥

(११) वम्रीभिः। (१२) उपजिह्विका। इति सीमिकानाम्। वम्रशब्दो हस्वनामसु व्याख्यातः (३०४ पृ०)। 'जातेरस्त्रीविषयात् (४, १, ६३)' इति ङीप्। जातिशब्दत्वाय स्त्रीपुंसयोर्द्वयो लोके स्त्रीलिङ्गो प्रसिद्ध इति स पठितः॥ वसन्ति हि ते मृदमुपजिह्विकाः। 'शीयहजिह्वा (उ० १, १५२)'—इति

आसन्नार्थः। प्रकृष्टदेशकालयोः प्राप्तिः प्रपित्वे इति ॥ अभिपूर्वादञ्चतेः 'अलीकादयश्च (उ० ४, २५)—इतीकन्प्रत्ययो धातुलोपश्च निपात्यते। अभ्यक्ते आसन्ने इत्यर्थः। सोपसर्गौ सप्तम्यन्तौ यथादृष्टाविति पठितौ ॥ "आपित्वे नः प्रपित्वे तूय मागहि (ऋ० सं० ५, ७, ३०, २)"—"अभीके चिदु लोककृत् (ऋ० सं० ८, ७ २१, १)"—इत्यपि निगमौ ॥

(३) दभ्रम्। (४) अर्भकम्। इत्यल्पस्य। दभ्रमिति दभ्नोतेर्वधकर्मणः 'स्फायितञ्चि (उ० २, १२,)'—इत्यादिना रक्, 'अनिदिताम् (६, ४, २४)'—इति नलोपः। सुदम्भं सुच्छेदम् अल्पत्वात् ॥ ऋतेः 'अर्भकश्च पृथुकपाका वयसि' —इति कप्रत्यये, ऋकारस्य भकारे गुणे रपरत्वे अकारे चोपजने च अर्भकमिति निपात्यते। अवहृतमृतपरिमाण इत्यर्थः ॥ "मा मे दभ्राणि मन्यथाः (ऋ० सं० २, १, ११, ७)"—"नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यः (ऋ० सं० १, २, २४, ३)" ॥

(५) तिरः। (६) सतः। इति प्राप्तस्य। अप्राप्तस्येत्यपरः पाठः। तरतेरसुनि बाहुलकादकारस्येकारः। तीर्णं प्राप्तमागतम् ॥ सर्त्तेरसुनि रेफस्य वकारः। सतः संसृतम् ॥ अप्राप्तस्येति पाठे पराजितं तरणं सरणं च द्रष्टव्यम् ॥ "तिरश्चिदर्यया परि (ऋ० सं० ४, ४, १६, २)"—"पात्रेव भिन्दन्त्सत एति रक्षसः (ऋ० सं० ५, ७, ६, १)" ॥

(७) त्वः। (८) नेमः। इत्यर्द्धस्य। अर्द्धशब्दोऽत्र समप्रविभागवचनः, अर्द्धं हरते इति नपुंसकनिर्देशात्। त्वः अप-

सामान्येन। "अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासाः (य० वा० सं० ३, ६१)" ॥

(१७) मेना। (१८) ग्नाः। इति स्त्रीणाम्। उभावपि शब्दौ व्याख्यातौ चाङ्लामनु (६६ पृ० । १०७ पृ०)। नामयन्ति हि ताः पतिश्वशुरमातुलादयः पूज्या भूपयितव्याश्चेति स्मरणात्। गच्छन्त्येना अपत्यार्थिनः। "अमेनांश्चिज्जनिवतश्चकर्थ (ऋ० सं० ४, १, २१, २)"—"ग्नास्त्वाकृन्तं तपसोऽतन्वत (ता० ब्रा०)" ॥

(१९) शेपः। (२०) वैतसः। इति सुप्रजननस्य। शेपः—सपतेरसुनि बाहुलकात् सशब्दस्य शेभावः। स्पृशत्यनेन स्त्रीन्द्रियम्। तद्धेतुश्च विशिष्टानन्दलक्षणं स्त्रीसुखं स्पर्शशब्देनोच्यते। त्वगिन्द्रियस्पर्शमात्रकं शेपमित्युदाहरणेऽव्याप्तत्वेन दर्शनात्, करणे घञन्त इति केचित्, सकारलोपो वा तत्र द्रष्टव्यः। यद्यपि 'वृद्धशिम्यां रुपस्याङ्गयोः पुट् च (उ० ४, १६६)'—इति शीङः असुनागमेन कथञ्चिच्छेपः सिध्यति तथापि तत्रार्थानौचित्यात् "मुष्कयोरदधात् सपः"—"मुष्कयोर्निहिता सपः"—"मा नो मघेव निष्पपि"—इत्यादौ सपशब्देन मेहनस्याभिधानादर्थौचित्याच्च सशब्दस्य शेभावेन कथञ्चिन्निर्योक्तुं युक्तमिति सपतेरित्युक्तम्। तथा-यौतम्—'अर्थो नित्यः परीक्षेत न संस्कारमाद्रियेत'—इति ॥ विपूर्वात् 'तसु उपक्षये (दि० प०)'—इत्यस्मात् पचाद्यचि (३, १, १३४) वितसः। वितस एव वैतसः। प्रज्ञादित्वा-

जिघ्रतेर्जिघ्रतेर्वा वप्रत्ययान्तं निपात्यते जिह्वा, 'सञ्ज्ञायां कन् (५, ३, ८७)' 'प्रत्ययस्थात् (७, ३, ४४)'—इतीत्वम्। उपजिघ्नन्ति काष्ठम्, उपरक्षणाद्वोदकस्य उपजिह्विका॥ "यदत्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति (ऋ० सं० ६, ७, १२, ६)" वम्रशब्दस्यायमेव निगमः॥ "वम्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानम् (ऋ० सं० ३, ६, २, ४)"—इति स्त्रीलिङ्गस्य॥

(१३) ऊर्दरम्। (१४) कृदरम्। इत्यावपनस्य। ऊर्दरं— उत्पूर्वात् 'दॄ विदारणे (क्र्या० प०)'—इत्यस्मात् 'ईर गतौ (अदा० आ०)'—इत्यस्माद्वा 'ऋदोरप् (३, ३, ५७)' घञि च उर्दरमुदीरं वा सदूर्दरम्। ऊर्ध्वञ्च तद्दीर्णञ्च मध्यतः, ऊर्ध्वमीर्णं गतं वा दीर्णमिति ल्वादित्वान्निष्ठानत्वम् (८, २, ४४)॥ कृदरम्, गृहनामसु व्याख्यातम् (३१४ पृ०)। कृतदरम्। "तमूर्दरं न पृणता यवेन (ऋ० सं० २, ६, १४, ५)"— "समिद्धो अञ्जन् कृदरं मतीनाम् (य० वा० सं० २१, १)"॥

(१५) रम्भः। (१६) पिनाकम्। इति दण्डस्य। 'रभ राभस्ये (भ्व० आ०)' अत्रालमने वर्त्तते। कर्मणि घञ्। 'रभेरशब्लिटोः (७, १, ६३)'—इति नुम्। आरभन्ते आश्रयन्ते ह्यवष्टम्भाय दण्डः। "आ त्वा रम्भन्त जिव्रयः (ऋ० सं० ६, ३, ४५, ५)"॥ पिनाकं—'पिष सञ्चूर्णने (रु० प०)'। 'पिनाकादयश्च (उ० ४, १५)'—इति आकप्रत्ययः, षकारस्य नकारो गुणाभावश्च निपात्यते। प्रतिपिनष्टि हिनस्त्यनेन शत्रून्, दण्डाकारं धनुरुच्यते, तच्च रूढितो महादेवीयमेव

सामान्येन। "अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासाः (य० वा० सं० ३, ६१)" ॥

(१७) मेना। (१८) ग्नाः। इति स्त्रीणाम्। उभावपि शब्दौ व्याख्यातौ वाङ्नामसु (६६ पृ०। १०७ पृ०)। नामयन्ति हि ताः पतिश्वशुरमातुलादयः पूज्या भूयिष्ठव्याश्चेति स्मरणात्। गच्छन्त्येना अपत्यार्थिनः। "अमेनांश्चिज्जनिवतश्च-कर्थ (ऋ० सं० ४, १, २६, २)"—"ग्नास्त्वाकृन्तं नपसोऽतन्वत (ता० ब्रा०)" ॥

(१९) शेपः। (२०) वैतसः। इति सुप्रजननस्य। शेपः—स्पतेरसुनि बाहुलकात् सशब्दस्य शेभावः। स्पृशत्यनेन स्त्रीन्द्रियम्। तद्धेतुतश्च विशिष्टानन्दलक्षणं स्त्रीसुखं स्पर्शशब्देनोच्यते। त्वगिन्द्रियस्पर्शमात्रकं शेपमित्युदाहरणेऽकारान्तत्वेन दर्शनात् करणे घप्रन्त इति केचित्, सकारलोपो वा तत्र द्रष्टव्यः। यद्यपि 'वृद्धशीम्यां रुपसाद्वयोः पुट् च (उ० ४, १९६)'—इति शीङः असुनागमेन कथञ्चिच्छेपः सिध्यति तथापि तत्रार्थानौचित्यात् "मुष्कयोरदधात् सपः" —"मुष्कयोर्निहिता सपः"—"मा नो मघेव निष्षपि"—इत्यादौ सपशब्देन मेहनस्याभिधानादर्थौचित्याच सशब्दस्य शेभावेन कथञ्चिन्निर्वाहे युक्तमिति स्पतेरित्युक्तम्। तथा-गौतम—'अर्थौ नित्यः परीक्षेत न संस्कारमाद्रियेत'—इति ॥ विपूर्वात् 'तनु उपकृते (दि० प०)'—इत्यस्मात् पचाद्यच्न (३, १, १३४) वितसः। वितस एव वैतसः। प्रज्ञादित्वा-

दण्। विशेषेण तस्यति क्षीणीभवति प्राक् सम्भोगकालात्। यद्वा, विमक्षिकमितिवत् विशब्दः प्रतिषेधार्थीयः। न तस्यति अक्षीणम् सेकसामर्थ्यस्यानुपक्षीणत्वात्। "यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम् (ऋ० सं० ८, ३, २७, २)"—"त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेन (ऋ० सं० ८, ५, १, ५)"॥

(२१) अया। (२२) एना। इत्युपदेशस्य। प्रत्यक्षाभिधानमिहोपदेशोऽभिमतः। सामान्येन चैते त्रिष्वपि लिङ्गेषु। अनयेति पदस्य नशब्दलोपेन अया। "अया ते अग्ने समिधा विधेम (ऋ० सं० ३, ४, २५, ५)"—इति स्त्रिया समिधा सामानाधिकरण्यात्॥ एना 'द्वितीयाटौस्स्वेनः (२, ४, ३४)"—इति इदमेतदोरन्वादेशविषये एनादेशः तृतीयैकवचनस्याकारः। "एना वो अग्निन्नमसा (ऋ० सं० ५, २, २१, १)"—इति नपुंसकस्य नमसो सामानाधिकरण्यात्। "एना पत्या तन्व १ संसृजस्व (ऋ० सं० ८, ३, २५, २)"—इति पुंसः पत्युः सामानाधिकरण्यात्॥

(२३) सिषक्तु। (२४) सचते। इति। सिषक्त्वित्वति कर्त्तुरभिधानम्। तस्य प्रत्ययार्थत्वेन प्राधान्यादत आह सेवमानस्येति। वैयाकरणसिद्धान्तप्रसिद्ध्यर्थमेवमवोचत्, परमार्थतस्तु धात्वर्थप्रतिपादनपरतयैवाख्यातपदोपादानमर्थाभिगमत्वञ्च। अतश्चैतदुक्तं भवति। सिषक्तु सचत इति सेवार्थौ धातू इति। तथाहि :—"भावप्रधानमाख्यातम्"—इति हि स्वसिद्धान्तः। सिषक्तुः सचते। 'षच समवाये' भ्वादिः स्वरितेत्, अत्र

सेवार्थः। सिषक्तिवति लोटि तिपि शप्। तस्य 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७६)'—इति श्लुः। 'अर्त्तिपिपर्त्योश्च'। 'बहुलं छन्दसि (७, ४, ७८)'—इत्यभ्यासस्येत्वम्। "स नः सिषक्तु यस्तुर (ऋ० सं० १, १, ३४, २)"—"सचस्वा नः स्वस्तये (ऋ० सं० १, १, २, ४)"—इति तु यथानिगममुदाहरणम्॥

(२५) भ्यसते। (२६) रेजते। इति। भयवेपनयोर्धातुः भ्यसते इति। रेजते इति नैरुक्तो धातुः। उभावप्युभयोरर्थयोः। "यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेताम् (ऋ० सं० २, ६, ७, १)"—"रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः (ऋ० सं० ५, १, ८, ४)"—इति॥

इति षड्विंशतिर्द्विशनामानि॥ ३, २६॥

(इति नैघण्टुकटीकापरिशिष्टं समाप्तम्)

अथ चतुर्थोऽध्यायः



अथ नैगमं नाम द्वितीय काण्डं व्याख्यायते—

जहा (१)। निधा (२)। शिताम (३)। मेहना (४)। दमूनाः (५)। मूषः (६)। इषिरेण (७)। कुरुतन (८)। जठरे (९)। तितउ (१०)। शिप्रे (११)। मध्या (१२)। मन्दू (१३)। ईर्मान्तासः (१४)। कायमानः (१५)। लोधम् (१६)। शीरम् (१७)। विद्रधे (१८)। द्रुपदे (१९)। तुग्वनि (२०)। नंसन्ते (२१)। नसन्त (२२)। आहनसः (२३)। अद्मसत्(२४)। इष्मिणः (२५)। वाहः (२६)। परितक्म्या (२७)। सुविते (२८)। दयते (२९)। नूचित् (३०)। नूच (३१)। दावने (३२)। अकूपारस्य (३३)।

शिशीते (३४)। सुतुकः (३५)। सुप्रायणाः (३६)। अप्रायुवः (३७)। च्यवनः (३८)। रजः (३९)। हरः (४०)। जुहुरे (४१)। व्यन्तः (४२)। क्षणाः (४३)। वाशी (४४)। विपुणः (४५)। जामिः (४६)। पिता (४७)। शंयोः (४८)। अदितिः (४९)। एरिरे (५०)। जसुरिः (५१)। जरते (५२)। मन्दिने (५३)। गौः (५४)। गातुः (५५)। दंसय (५६)। तूताव (५७)। चयसे (५८)। वियुते (५९)। ऋधक् (६०)। अस्याः (६१)। अस्य (६२)। इति द्विषष्टिः पदानि ॥ १ ॥

(१) जहा। हन्तेर्लिडुत्तमैकवचने णलि, द्विवचने, अभ्यासवर्त्वे, कुत्वाभावो नकारलोपश्छान्दसत्वात्। जघानेत्यर्थः। "जहा को अस्मदीषते (ऋ० सं० ८, ३, ४१, २)" ॥

(२) निधा। निपूर्वाद्धधातेः 'आतश्चोपसर्गे (३, १, १३६)' —इति कः। निधीयते स्थाप्यते मृगपक्षिग्रहणाय। निधा पाशसमूहः। "समुग्ध्यस्मन्निधयेव बद्धान् (ऋ० सं० ८, ३, ४, ६)" ॥

(३) शिताम। श्रितशब्दस्य रेफलोपोऽतो दीर्घत्वं मशब्दश्चोपजनः। अङ्गं श्रितत्वाद् दोः शिताम। सितशब्दस्य वा सकारस्य शकारः, अन्यत् पूर्ववत्। योनिः शिताम। योनिर्गुदम्। विषितः। विविधं सितो बद्धो भवति पुरीषोत्सर्गवेलायां विकसति सङ्कोचः। "पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः (य० वा० सं० २१, ४३)"॥

(४) मेहना। मंहतेर्दानकर्मणो ल्युट्, बाहुलकादकारस्यैकारो नकारलोपश्च। सुपां सुलुगित्यादिना सोराकारादेशः। मंहनीयं धनादि। छन्दोगानां 'मइहना'—इत्येवं रूपं पाठः। प्रसङ्गेन च वेदान्तरार्थोतस्य व्याख्यानं भाष्यकारेण कृतम् (निरु० ४, ४)। "यदिन्द्र चित्र मेहना (ऋ० सं० ४, २, १०, १)"॥

(५) दमूनाः। 'दम उपशमे दाने वा'। दान्ते पुरुषे वा, दमे यज्ञगृहे वा मनो यस्य स दमूनाः। दन्तमशब्दस्य नलोपः। दमदान्तशब्दयोर्द्भावः, मनःशब्दे मकारात्परस्याकारस्य ऊकारादेशः। दमशब्दो व्याख्यातो गृहनामसु (३१६ पृ०)। ददातेर्ल्युटि दानं, दमेर्निष्ठायां मतुपि दन्तमः। 'दमेरूनसिः (उ० ४, २२८)'—इति वैयाकरणाः। "जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोणे (ऋ० सं० ३, ८, १८, ५)"॥

(६) मूषः। 'मुष स्तेये (क्र्या० प०)'। क्विब्वचिप्रच्छि (३, २, १७८ वा०)'—इत्यत्र 'प्राक् प्रत्ययनिर्देशादिष्टसिद्धिः (भा०)'—इति क्विप् दीर्घश्च। जस्। मूषिकाः। सुगुसमपि

मुष्णन्ति हरन्ति। "मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः (ऋ० सं० १, ७, २१, ३)" ॥

(७) इषिरेण। 'इषु इच्छायाम् (तु० प०)'। इषिमदिमुदि (उ० १, ५१)'—इत्यादिना किरच्प्रत्ययः। यद्वा, ईषयतेर्गतिकर्मणः ईषेर्दर्शनार्थस्य वा बाहुलकात् किरच् ह्रस्वभावश्च। मनो विशेषणमेतत्। "इषिरेण ते मनसा सुतस्य (ऋ० सं० ६, ४, १२, २)" ॥

(८) कुर्त्तन। करोतेर्लोण्मध्यमपुरुषबहुवचनस्य तशब्दस्य 'तप्तनप्तनथनाश्च (७, १, ४५)'—इति छान्दसस्तनादेशः। तत्र तशब्द एवार्थवान् नशब्दस्तूपजनोऽनर्थकः। कुर्त्तनेत्यस्य प्रतिपादनार्थमाह भाष्यकारः—'कर्त्तनहन्तनयातनेत्यनर्थका उपजना भवन्ति (निरु० ४, ७)'—इति। अत्र बहुवचनमन्येऽप्येवंरूपा उपजनाः सन्तीति प्रतिपादनार्थम्। 'क्त्वो यक्' 'आज्जसेरसुक्'—इत्येवमादयः। "स्त्रिण तपसा कुर्त्तन" —"अध्वर्यवः कर्त्तना श्रुष्टिमस्मै (ऋ० सं० २, ६, १४, ३)" —"तपिष्ठेन हन्मना हन्तना तम् (ऋ० सं० ५, ४, ३०, २)"— "प्रयातन सखीं रच्छा सखायः (ऋ० सं० २, ३, २६, ३)"— "हन्ताय शत्रून् विभजस्व वेदः (ऋ० सं० ८, ३, २१, २)"— "ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः (ऋ० सं० ५, १, २०, ५)" ॥

(६) जठरम्। जग्धशब्दोपपदात् धूञो दधातेर्वा 'रुदराक्षपश्च (उ० ५, ४२)'—इति अरच्प्रत्ययो जग्धशब्दस्य जभावो धकारस्य ठकारश्च निपात्यते। जग्धं भक्षितमन्नमस्मिन्

ध्रियते तिष्ठति, धीयते प्रक्षिप्यत इत्यर्थः। "आसिञ्चस्व जठरे मध्वऊर्मिम् (ऋ० सं ३, ३, ११, १)" ॥

(१०) तितउ। तनोतेस्तुदेश्च निष्ठायां मतुपि उपधाया इत्वं दकारलोपो वकारस्य सम्प्रसारणं तलोपश्च। तिलमात्रं तुन्नं वा। तिलशब्दात् तिः, तुन्नशब्दात् उकारतकारौ। मत्वर्थे बहुव्रीहिः। ततेन मध्येन, तुन्नैश्छिद्रैः, तिलमात्रैश्च तैस्तद्वत्। तनोतेः क्तान्ताद्वतिर्वैयाकरणाः। ततं तितउ। "सक्तुमिव तितउना पुनन्तः (ऋ० सं० ८, २, २३, २)" ॥

(११) शिप्रे। 'सृप्लृ गतौ (भू० प०)'। 'स्फायितञ्चिवञ्चिशकिक्षिपिक्षुदिसृपितृपि (उ० २, १२)'—इति रक्, बाहुलकात् सृशब्दस्य शिभावः। अन्नं गन्धनं प्रति सृप्ते भवतः। "विष्यस्व शिप्रे विसृजस्व धेने (ऋ० सं० १, ७, १३, ४)" ॥

(१२) मध्या। मध्यशब्दात् सप्तम्येकवचनस्य 'सुपां सुलुक् (७, १, ३९)'—इत्यादिना आकारः। मध्ये इत्यर्थः। "मध्या-कर्त्तोर्विततं संजभार (ऋ० सं० १, ८, ७, ४)" ॥

(१३) मन्दू। मन्देस्तृप्त्यर्थात् 'भृमृशीतृचरि (उ० १, ७)'—इत्यादिना बाहुलकादुप्रत्ययः। मदेर्वा उप्रत्ययो नुम् च। प्रथमाद्विवचनम्। तृतीयैकवचनस्य वा 'सुपां सुलुक् (७, १, ३९)'—इत्यादिना पूर्वसवर्णः। मदिष्णू मदिष्णुना वा। "मन्दू समानवर्चसा (ऋ० सं० १, १, १२, २)" ॥

(१४) ईर्मान्तासः। 'ईर प्रेरणे (चु० प०)'। 'अर्त्तिस्तुसुहु-सृधृक्षि (उ० १, १३७)'—इति मन्प्रत्ययः। अन्तशब्दो व्याख्यातः

(२ अ० १६ ख० ६)। आदित्याश्वा उच्यन्ते। ते च सप्त। तेषां ये अन्तान् ईर्त्ते, ईरिताः प्रेरिता विरुद्धा इत्यर्थः। अथवा अश्वस्य अन्तो जघनं सर्वपार्श्वमिः पृथुरित्यर्थः। "ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः (ऋ० सं० २, ३, १२, ५)" ॥

(१५) कायमानः। 'चायृ पूजानिशामनयोः' भ्वादिः, स्वरितेत्। चायमानः। चकारस्य ककारः। यद्वा, कमेर्णिङ्, ततो लटः शानच्। कामयमान इत्यस्य मकारलोपः। "कायमानो वना त्वम् (ऋ० सं० ३, १, ५, २)" ॥

(१६) लोधम्। 'लुभ् धाप्यूर्वी' क्तः। लुब्धशब्दस्य बलोप उकारस्यौत्वञ्च। लुब्धमित्यर्थः। "लोधं नयन्ति पशुमन्यमानाः (ऋ० सं० ३, ३, २३, ३)" ॥

(१७) शीरम्। शिङः 'स्फायितञ्चिवञ्चिशकि (उ० २, १३)'—इत्यादिना बाहुलकाद्रक्। अश्नोतेर्वा पूर्ववद्रक् धातोः शीभावश्च। अयमग्निरुच्यते। अनुशायिनमाशिनं वा। अनुशय्यन्ते भूतानि जङ्गमानि जाठरात्मना, स्थावराणि च सूक्ष्मेण अनभिव्यक्तरूपात्मना यः शेते व्यवतिष्ठते, अश्नोति वा। व्यश्नोतेः। "शीरं पावकशोचिषम् (ऋ० सं० ३, १, ६, ३)" ॥

(१८) विद्रधे। विपूर्वात् 'द्रमी भये' इत्यस्मात् अनेकार्थत्वेन हिंसार्थात् क्तः। विद्रब्धा इति स्थिते अकारस्य एकारादेशो बकारलोपश्च। बहुवचनस्य स्थाने एकवचनम्। विविधं हिंसितेषु कुपितेषु इत्यर्थः। "कनीनकेव विद्रधे (ऋ० सं० ३, ६, २०, ७)" ॥

(१९) द्रुपदे। द्रुशब्दो द्रुमपर्य्यायः। द्रुममयेषु पदेषु पादुकाख्येषु इत्यर्थः। वचनव्यत्ययः पूर्ववत्। "नवे द्रुपदे अर्भके (ऋ० सं० ३, ६, ३०, ७)" ॥

(२०) तुग्वनि। तूर्णशब्दोपपदात् गमेः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति वनिपि तूर्णशब्दस्य तुभावो गमेष्टिलोपश्च। लुठतीत्यर्थः। तद्विवपानायावगाहनाय वा क्षिप्रमागच्छन्ते। सप्तम्येकवचनम्। "सुवास्त्वा अधि तुग्वनि (ऋ० सं० ६, १, ३५, ७)" ॥

(२१) नंसन्ते। नमेर्मकारात् परः सुगागमः, व्यत्ययेनात्मनेपदम्। नमन्ति इत्यर्थः। "कुचिन्नंसन्ते मरुतः पुनर्नः (ऋ० सं० ५, २, ८, ५)" ॥

(२२) नसन्त। 'नस कौटिल्ये' भ्वादिरात्मनेपदी, अत्राप्नोतिर्नमतेर्थार्थे वर्त्तते। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (३, ४, ६)'—इति वर्त्तमाने लङ्। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (६, ४, ७५)—' इत्यड्भावः। प्राप्नुवन्ति नमन्ति वा। "घृतस्य धाराः समिधो नसन्त (ऋ० सं० ३, ८, ११, ३)" ॥

(२३) आहनसः। आहन्तेरसुन्, मत्वर्थीयस्य लुक्। 'स्त्री इदमाहतम्' 'ब्राह्मणे इदमाहतम्'—इत्यादिप्रयोगदर्शनात् आहन्तिवचनार्थः। आहनवन्तो वचनवन्त इत्यर्थः। "ये ते मदा आहनसो विहायसः (ऋ० सं० ७, २, २३, ५)" ॥

(२४) अभ्रसत्। 'अदेर्मन्'—इति मनिन्। अद्यते इत्यश्म अश्मन्। तस्मिन् सीदन्ति सनोति वा सत्। अश्मन्युपपदे सदेः

सनोतेर्वा 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—'क्विप् च (३, २ ७६)'—इति क्विपि रूपम्। सनोतेर्नकारलोपे ह्रस्वत्वे पिति तुक्। "अग्रसद्म ससतो बोधयन्ती (ऋ० सं० २, १, ७, ४)" ॥

(२५) इष्मिणः। 'इषेरिच्छार्थात् (तु० प०)' 'इषियुधीन्धि (उ० १, १४२)'—इति मक्प्रत्ययः। ईषतेरिषतेर्वा बाहुलकात् मकि धातोरिष्भावः। इच्छा, गमनं, दर्शनं वा इष्म। 'अत इनिठनौ (५, २, ११५)'। यद्वा, उणादिको मिनप्रत्ययः। एषितारो हविषां स्तुतीनाञ्च गन्तारः, द्रष्टारो वा सर्वार्थानाम्। "ते वा शीमन्त इष्मिणो अभीरवः (ऋ० सं० १, ६, १३, ६)" ॥

(२६) वाहः। वहतेः 'वहश्च'—इति णिदसुन्। देवताः प्रत्युह्यमानत्वात् वाहः स्तुतिः। अथवा, यदेतत् कूपसमीपे तदुदकस्योद्धृतस्य स्थानमावाह इति लोके प्रसिद्धं, तत्सदृशत्वात् सोमरसस्यपूर्णमधिषवणं चर्म वाह इत्युच्यते। "इन्द्राय वाहः कृणवाव जुष्टम् (ऋ० सं० ३, ३, १६, ३)" ॥

(२७) परितक्म्या। परिपूर्वात् तकतेर्गतिकर्मणो मनिन्। परितः सर्वतो गच्छति, सर्वस्मिन् देशे रात्रिरस्ति। अथवा तक्मेत्युष्ण नाम, तक इति मत इति तेन परितक्मा सति यकारोपजनेन परितक्म्या'। "कस्मै हितिः का परितक्म्यासीत् (ऋ० सं० ८, ६, ५, १)" ॥

(२८) सुविते। सुपूर्वादितेः क्तप्रत्ययः। 'षुङ् प्राणिगर्भमोचने'—इत्यस्माद्वा क्ते छान्दसत्वादिडागमः, उवङ् च। सप्तमी-

कवचनम्। शोभनं गम्यते यत्र स्वर्गादौ तत्, प्रसूते प्रजायां वा। "सुविते माधाः (य० वा० सं० ५, ५)"॥

(२९) दयते। 'दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु (भ्० आ०)' अनेकार्थत्वात् विभागदहनगमनेष्वपि वर्त्तते। "महोधनानि दयमानः (ऋ० सं० २, १, ११, २)"—इति दाने। "नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम (निरु० ४, १७)"—इति रक्षणे। "य एक इद्विदयते (ऋ० सं० १, ६, ६, २)"—इति दाने विभागे वा। "दुर्वर्त्तुर्भीमो दयते वनानि (ऋ० सं० ४, ५, ८, ५)"—इति दहने। "विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून् (ऋ० सं० ३, २, १५, १)"—इति हिंसायाम्। "मां वायसो दोषा दयमानो अबूबुधत् (निरु० ४, १७)"—इति गतिकर्मा॥

(३०) नूचित्। (३१) नूच। अनयोः पदद्वययोः। "अद्या चिन्नूचित्तदपो नदीनाम् (ऋ० सं० ४, ७, २, ३)"—"नूच पुरा च सदनं रयीणाम् (ऋ० सं० १, ७, ४, २)"॥

(३२) दावने। ददातेः 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च (३, २, ७४)'—इति व्यत्ययेन कर्मणि वनिप्। ततः षष्ठ्यर्थे द्वितीयार्थे वा चतुर्थी (२, ३, ६२ वा०), *अल्लोपाभावश्छान्दसः* (६, ४, १३४)। देवस्य देवं वेत्यर्थः॥

(३३) अकूपारस्य। 'पृ पालनपूरणयोः (जु० प०)'। घञ्। पारः पालनं पूरणं वा। अकुत्सितं पालनं पूरणं वा यस्य तद्कुपारं सत् कोर्दीर्घत्वेनाकूपारम्। तस्य दावने इति सम्बन्धः। "अकूपारस्य दावने (ऋ० सं० ४, २, १०, २)"। आदित्य-

समुद्रावप्यकूपारौ। पूर्ववत्। कच्छपोऽप्यकूपारः। कूपशब्दे कर्मण्युपपदे अर्त्तेः कर्मण्यण्। न कूपारः अकूपारः। कच्छपो हि सति सम्भवे ह्रद गच्छति न कूपमल्पोदकत्वात्। त्रयाणां निगमाः पर्य्येष्याः ॥

(३४) शिशीते। 'शो तनूकरणे' दिवादिः परस्मैपदी। व्यत्ययेन शपः श्लौ ओकारस्येत्वमात्मनेपदञ्च। श्यतीत्यर्थः। 'शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे (ऋ० सं० ३, ८, १५, ३)" ॥

(३५) सुतुकः। सुपूर्वात्तकतेर्गतिकर्मणः 'गेहे कः (३, १, १४४)'—इति बाहुलकात् कप्रत्ययोऽकारस्योकारश्च। सुपूर्वाद्वा तुच्छब्दस्याकार उपजनः चकारस्य जकारस्य वा ककारभावश्च। सुगमनः सुप्रजा वा। "अग्निः सुतुकः सुतुकेभिरश्वैः (ऋ० सं० ७, ५, २१, ७)" ॥

(३६) सुप्रायणाः। सुप्रपूर्वादयतेर्ल्युट्। 'उपसर्गस्यायतौ (८, २, १६)'—इति लत्वाभावश्छान्दसः। सुप्रगमना इत्यर्थः। "सुप्रायणा अस्मिन् यज्ञे विश्रयन्तामृतावृधः (य० वा० सं० २८, ५)"

(३७) अप्रायुवः। प्र-आ-इत्युपसर्गद्वयपूर्वात् 'यु मिश्रणे (अदा० प०)'—इत्यस्मात् 'गेहे कः (३, १, १४४)'—इति बाहुलकात् कप्रत्ययः, उवङि कृते अन्त्यस्याकारस्य लोपे च जसि रूपम्। 'सुपां सुलुक् (७, ३, ३६)'—इति जसः स्थाने सुः। न प्रायुवोऽप्रायुवः। अप्रगतमनस्काः न प्रमाद्यन्त इति। "अप्रायुवो रक्षितारौ दिवे दिवे (ऋ० सं० १, ६, १५, १)" ॥

(४७) पिता। 'नप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृभ्रातृजामातृमातृपितृदुहितृ (उ० २, ८८)'—इत्यादिना पातेः केवलकात् ण्यन्ताद्वा तृच्प्रत्ययान्तो निपात्यते। पतिशब्दत्वेन च नामार्थो व्याख्यातः (३०१ पृ०)। "द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र (ऋ० सं० २, ३, २०, ३)"॥

(४८) शंयोः। शाम्यतेः क्विप् शम्। 'यु पृथग्भावे' इत्यस्माद् विच्। अन्ये पदद्वयमिति वर्णयन्ति। 'शमनं रोगाणां यावनं च भयानाम्'। "अथानः शंयोररपो दधात (ऋ० सं० ७, ६, १७, ४)"। प्रसङ्गेन श्रुतिसारूप्यात् भाष्ये 'अथापि शंयुर्बार्हस्पत्यः (निरु० ४, २१)'—इत्युक्तम्॥

(४९) अदितिः। पृथिवीनामसु व्याख्यातम् (३३ पृ०)। ऐतिहासिकानां मते देवमाता, नैरुक्तानां मते अदीनादिगुणः अथवात्मपक्षे प्रकृतिः। "अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम् (ऋ० सं० १, ६, १६, ५)"॥

(५०) एरिरे। प्रोपसर्गार्थद्रयाङ्पूर्वात् 'ईर गतौ (चु० प०)'—इत्यस्माल्लिटि झस्येरे च। प्रेरितवन्त इत्यर्थः। "यमेरिरे भृगवो विश्ववेदसम् (ऋ० सं० २, २, १२, ४)"॥

(५१) जसुरिः। 'जसु ताडने (चु० प०)'। 'जसिसहोरुरिन् (उ० २, ६९)'—इति उरिन्प्रत्ययः। यद्वा, अस्यतेर्बाहुलकादुरिन्प्रत्यये जुडागमश्च धातोः। ताडितो वज्रमुक्तो द्रुतवेगश्रान्तो जसुरिः। "नीचायमानं जसुरिं न श्येनम् (ऋ० सं० ३, ७, ११, ५)"॥

(५२) जरते। नैरुक्तधातुः। यद्वा, 'गॄ स्तुतौ (क्र्या० प०)'—इत्यस्य गकारस्य जकार इति स्कन्दस्वामी। "इन्धान एनं जरते स्वाधीः (ऋ० सं० ७, ८, २८, १)" ॥

(५३) मन्दिने। मन्दतेः स्तुतिकर्मणो यञि मन्दः स्तुतिः। छान्दसत्वादत इनिठनौ नेष्यते हि एकाक्षरात्, ततो जाते, सप्तम्याश्च। "प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचः (ऋ० सं० १, ७, १२, १)" ॥

(५४) गौः। व्याख्यातं रश्मिनामसु (५२ पृ०)। "अत्राह गोरमन्वत (ऋ० सं० १, १, ७, ५)" ॥

(५५) गातुः। व्याख्यातं पृथिवीनामसु (३६ पृ०)। अत्र भावे तुन् गमनमित्यर्थः। "गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये (निरु० ४, २१)" ॥

(५६) दंसयः। दंस इति कर्मनामसु व्याख्यातम् (१७० पृ०)। अत्र तु 'अच इः (उ० ४, १३४)' जस्। दंसयः कर्माणि दंसयन्त्येनानि। "कुत्साय मन्मन्नह्यश्च दंसयः (ऋ० सं० ८, ७, २६, १)" ॥

(५७) तूताव। तवतेर्वृद्धिकर्मणो लिटि णलि 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य (६, १, ७)'। "स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिः (ऋ० सं० १, ६, ३०, २)" ॥

(५८) चयसे। 'चय गतौ' भ्वादिरात्मनेपदी। अत्र चातयतेर्नाशनार्थस्यार्थे वर्त्तते। यद्वा, चातयतेरेव विकृतं रूपम्। "बृहस्पते चयस इत् पियारुम् (ऋ० सं० २, ५, १२, ५)" ॥

(५९) वियुते। यौतिरेव पृथग्भावार्थो विपूर्वः। "समान्या वियुते दूरे अन्ते (ऋ० सं० ३, ३, २५, २)"॥

(६०) ऋधक्। अव्ययमिदं पृथग्भावस्य वाचकम्। "यदिन्द्र दिवि पार्ये यदृधक् (ऋ० सं० ४, ७, १२, ५)"। अथाप्यृध्नोत्यर्थे दृश्यते, तदा 'ऋधु वृद्धौ (स्वा० प०)' अस्मात् 'प्रथः कित् (उ० १, १३०)'—इति बाहुलकादजिप्रत्ययः किच्च। ऋध्नुवन् ऋद्धं कुर्वन्। "ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः (य० वा० सं० ८, २०)"॥

(६१) अस्याः। (६२) अस्य। शब्दान्तरेणानादिष्टस्य सन्निधि-विशिष्टपदार्थलक्षणस्याभिधेयस्योच्चारणं प्रथमादेशः आदिष्टमस्य तस्योच्चारणमन्वादेशः। तत्र प्रथमादेशविषयत्वादुदात्तं पदद्वयं तीव्रार्थतरमतिस्फुटप्रयोजनम्, अन्यानादिष्टस्वार्थत्वात्। अन्वादेशविषयतामस्त्वानुदात्तं पदद्वयमल्पीयोऽर्थतरमतिशयेनास्फुटप्रयोजनम्, अन्यादिष्टस्वार्थत्वात्। "अस्या ऊ षु ण उप सातये भुवः (ऋ० सं० २, २, २, ४)"—"दीर्घायुरस्या यः पतिः (ऋ० सं० ८, ३, २७, ४)"॥ "अस्य वामस्य पलितस्य होतुः"—"तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्य (ऋ० सं० २, ३, १४, १)"॥

इति द्विपष्टिः पदानि ॥ १ ॥

सस्निम् (१)। वाहिष्ठः (२)। दूतः (३)। वावशानः (४)। वार्य्यम् (५)। अन्धः (६)।

असश्चन्ती (७)। वनुष्यति (८)। तरुष्यति(९)। भन्दनाः (१०)। आहनः (११)। नदः (१२)। सोमो अक्षाः (१३)। श्वात्रम् (१४)। ऊतिः (१५)। हासमाने (१६)। पड्भिः (१७)। सस्रम् (१८)। द्विता (१९)। व्राः (२०)। वराहः (२१)। स्वसराणि (२२)। शर्य्याः (२३)। अर्कः (२४)। पविः (२५)। वक्षः (२६)। धन्व (२७)। सिनम् (२८)। इत्था (२९)। सचा (३०)। चित् (३१)। आ (३२)। द्युम्नम् (३३)। पवित्रम् (३४)। तोदः (३५)। स्वञ्चाः (३६)। शिपिविष्टः (३७)। विष्णुः (३८)। आघृणिः(३९)। पृथुज्रयाः (४०)। अथर्युम् (४१)। काणुका(४२) अध्रिगुः (४३)। आङ्गूषः (४४)। आपान्तमन्युः (४५)। श्मशा (४६)। उर्वशी (४७)। वयुनम् (४८)। वाजपस्त्यम् (४९)। वाजगन्ध्यम् (५०)। गध्यम् (५१)। गधिता (५२)।

कौरयाणः (५३)। तौरयाणः (५४)। अह्रयाणः (५५)। हरयाणः (५६)। आरितः (५७)। व्रन्दी (५८)। निष्षपी (५९)। तूर्णाशम् (६०)। क्षुम्पम् (६१)। निचुम्पुणः (६२)। पदिम् (६३)। पादुः (६४)। वृकः (६५)। जोषवाकम् (६६)। कृत्तिः (६७)। श्वघ्नी (६८)। समस्य (६९)। कुटस्य (७०)। चर्षणिः (७१)। शम्बः (७२)। केपयः (७३)। तूतुमाकृषे (७४)। अंसत्रम् (७५)। काकुदम् (७६)। वीरिटे (७७)। अच्छ (७८)। परि (७९)। ईम् (८०)। सीम् (८१)। एनम् (८२)। एनाम् (८३)। सृणिः (८४)। इति चतुरुत्तरमशीतिः पदानि ॥ २ ॥

(१) सस्निम्। 'ष्णा वेष्टने (अदा० प०)' 'ष्णा शौचे (अदा० प०)'। 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च (३, २, १७१)'—इति किन्प्रत्ययः। लिड्वद्भावाद् द्विर्वचनादिः। 'आतो लोप इटि च (६, ४, ६४)'। अपवेष्टयिताभिरन्तःप्रविष्टाभिः शोधितो वा मेघः सस्निः। "सस्निमविन्दच्चरणे नदीनाम् (ऋ० सं० ८, ७, २७, ७)" ॥

(२) वाहिष्ठः। वोढृशब्दात् 'तुश्छन्दसि (५, ३, ५९)'—इतीष्ठनि 'तुरिष्ठेमेयःसु (६, ४, १५४)'—इति तृचो लोपः। वाहिष्ठ इति उपधादीर्घश्छान्दसः। अतिशयेन वोढा वाहिष्ठः। "वाहिष्ठोवां हवानाम् (ऋ० मं० ६, २, २६, १)" ॥

(३) दूतः।

(४) वावशानः। 'वश कान्तौ (अदा० प०)' 'वाशृ शब्दे (दि० आ०)'। 'लिटः कानज् वा (३, २, १०६)'। द्विर्वचनादिः। 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य (६, १, ७)'। 'न वशः (६, १, २०)'—इति यङि लिटि सम्प्रसारणनिषेधाद् विलप्रत्यये कानच्यपि न भवति, वाश्यतेरुपधाह्रस्वत्वञ्च व्यत्ययेनैव। यङ्लुकि शानचि रूपमिति श्रीनिवासः। "समस्वसुररुशीर्वावशानः (ऋ० मं० ७, ५, ३३, ५)" ॥

(५) वार्यम्। 'वृञ् वरणे (स्वा० उ०)'। एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् (३, १, १०९)'—इति क्यपि प्राप्ते 'ऋहलोर्ण्यत् (३, १, १२४)'—इति ण्यत्। 'क्यब्विधौ वृ-ग्रहणे वृञो ग्रहणमिष्यते न वृङः'—इति वैयाकरणाः। अथवाऽऽवश्यकार्थो ण्यत्प्रत्ययो द्रष्टव्यः। वार्यं वरणीयम्, अतिशयेन वरं श्रेष्ठं वा। "तद् वार्यं वृणीमहे (ऋ० मं० ६, २, २३, ३)" ॥

(६) अन्धः। व्याख्यातमन्ननामसु (२१६ पृ०)। "आमत्रेभिः सिञ्चता मद्यमन्धः (ऋ० मं० २, ६, १३, १)" ॥ तमोऽन्धश्चुरप्यन्धः। अत्र ध्यायतिर्नञ्पूर्वः अविद्यमानं ध्यानं दर्शनमस्मिन् आलोकाभावात्। चक्षुर्हीनं अकारान्तमिदम्।

"परयदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः (ऋ० सं० २, ३, १७, १)"—इति चक्षुर्हीनस्य ॥

(७) असश्चन्ती। सश्चतिर्गतिकर्मा, अत्र सश्चतिरस्यतेर्वार्थे वर्त्तते। शतरि ङीपा नञ्समासः। परस्परेण सम्मितिश्री-भवन्त्यौ। अवक्षिपन्त्यौ वाश्विने वा द्यावापृथिव्यौ उच्येते। "असश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती (ऋ० सं० ५, १, १४, २)" ॥

(८) वनुष्यति। व्याख्यातं क्रुध्यतिनामसु (२४७ पृ०)। अत्र तु हन्त्यर्थः। "वनुयाम वनुष्यतः (ऋ० सं० २, १, २१, १)" ॥

(९) तरुष्यति। नैरुक्तधातुर्गत्यर्थः। 'मृत्युं तरति' 'ब्रह्म-हत्यामुत्तरन्ति'। विनाशयन्ति व्यपोहन्तीति हन्त्यर्थे तरतेः प्रयोगदर्शनात् तरतेरुकारयकारावुपजनावित्याहुः। "इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम् (ऋ० सं० ५, ४, १५, २)" ॥

(१०) भन्दनाः। भदन्तेः स्तुतिकर्मणः 'युच् बहुलम् (उ० २, ७४)'—इति युच् टाप् शस्। भन्दना स्तुतिरित्यर्थः। "सभन्दना उदियर्त्ति प्रजावतीः (ऋ० सं० ७, ३, २०, १)" ॥

(११) आहनः। आहन्तेरसुनि आहन्ति आहनाः सम्बुद्धौ आहनः असहायवचनादाहन्तुः। "अन्येन मदाहनो याहि तूयम् (ऋ० सं० ७ ६, ७, ३)" ॥

(१२) नदः। व्याख्यातं स्तोतृनामसु (३४७ पृ०)। "नदस्य मा रुधतः काम आगन् (ऋ० सं० २, ४, २२, ४)" ॥

(१३) सोमो अक्षाः। अशोतेर्लुङि सिचि 'उदितो वा (७, २, ५६)'—इति अनिट् पक्षे आडागमे च आष्टेति, इट्पक्षे आशिष्टेति

प्राप्ते व्यत्ययेन तस्य स्थाने सिपि यस्य कादेशे आकार इतश्चविसर्जनीयौ। क्षियतेर्वा अक्षैपमिति प्राप्ते व्यत्ययेन वर्त्तमाने लुङ्, तिपः स्थाने सिप्, च्लेरङ्, धातोष्टिलोपः, दीर्घश्च, इतश्च विसर्जनीयौ। क्षियतीत्यर्थः। "अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः (ऋ० सं० ७, ५, १३, ४)"॥ 'क्षर सञ्चलने (भू० प०)' अक्षार्षीदिति प्राप्ते तिपि सिचि वृद्धौ बहुलञ्छन्दसीतीडभावे इतश्च लोपे संयोगान्तस्य लोपे रात्सस्येति सलोपे रेफस्य विसर्जनीयः आडागमः क्षरतीत्यर्थः। "सोमोदुग्धाभिरक्षाः (ऋ० सं० ७, ५, १३, ४)"। 'सर्वे क्षियतिनिगमाः'—इति शाकपूणिर्निर्वाह उक्तः॥

(१४) श्वात्रम्। व्याख्यातं धननामसु (२३८ पृ०)। इह क्षिप्रनाम। "श्वात्रमग्निरकृणोज्जातवेदाः (ऋ० सं० ८, ४, १०, ४)"॥

(१५) ऊतिः। अवतेः 'ऊतियूतिजूतिसातिहेति (३, ३, ९७)'—क्तिन्नुदात्तो निपात्यते। ज्वरत्वरेत्यूठ्। अत्रावनं रक्षणं तर्पणं वा। "आ त्वा रथं यथोतये (ऋ० सं० ६, ५, १, १)"॥

(१६) हासमाने। हासतिः स्पर्द्धायां हर्षणे वा वर्त्तते। स्पर्द्धमानौ परस्परं हृष्यन्तौ वा। "अश्वे इव विषिते हासमाने (ऋ० सं० ३, २, १२, १)"॥

(१७) पड्भिः। पिबतेः स्पाशयतेर्वा बन्धनार्थात् स्पृशतेर्वा 'सर्त्तेरटिः (उ० १, १३३)'—इति बाहुलकादटिप्रत्ययो धातूनां पकारागमश्च। पातेः सोमस्य। यद्वा, स्पाशनैर्बन्धनैः स्पर्शनैः

स्तुतिलक्षणैर्गुणानाम्। "वम्रकः पड्भिरुपसर्पदिन्द्रम् (ऋ० सं० ८, ५, १५, ६)" ॥

(१८) ससम्। 'षस स्वप्ने (अदा० प०)'। पचाद्यच् (३, १, १३४)। स्वपितीति ससम्, माध्यमिकं ज्योतिरुच्यते, वर्षाव्यतिरिक्तकालेऽदर्शनात् स्वापव्यपदेशः। "ससं न पक्वमविदच्छुचन्तम् (ऋ० सं० ८, ३, १४, ३)" ॥

(१९) द्विता। द्विशब्दात् 'सङ्ख्याया विधार्थे धा (५, ३, ४२)। धकारस्य तकारेण व्युत्पत्तिः। द्विधेत्यर्थः। "द्विता च सत्ता स्वधया च शम्भुः (ऋ० सं० ३, १, १७, ५)" ॥

(२०) व्राः। 'वृञ् वरणे (स्वा० उ०)'। 'गेहे कः (३, १, १४४)'—इति बाहुलकात् कः, यणादेशः, जस्। वरितारोऽन्वेष्टारो मृगादीनाम्। व्रात्यस्थानीयाः लुब्धकादयः। "मृगं न व्रा मृगयन्ते (ऋ० सं० ५, ७, १८, १)" ॥

(२१) वराहः। व्याख्यातो मेघनामसु (८३ पृ०)। निगमोऽपि तत्रैव दर्शितः ॥

(२२) स्वसराणि। अहर्नामसु व्याख्यातोऽयं शब्दः (७४ पृ०) निगमोऽपि तत्रैव दर्शितः ॥

(२३) शर्य्याः। अङ्गुलीनामसु व्याख्यातः (२०६ पृ०)। अत्र इषव उच्यन्ते। "शर्य्याभिर्न भरमाणो गभस्त्योः (ऋ० सं० ७, ५, २२, ५)" ॥

(२४) अर्कः। अर्चतेः 'कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः (उ० ३, ३८)'—इति कः। अर्चति जीवयतीत्यत्र मन्त्रम् इति अन्ये।

मूपमुदाहरणम्। अतएव केचित्र पठन्त्यत्र अर्कम्। वृक्षे-ऽप्यर्चति। "अर्कपर्णे जुहोति"॥

(२५) पविः। व्याख्यातो वाङ्नामसु (१८ पृ०)। रथनेमि यंत्राश्च पविः। "उत पव्या रथानाम् (ऋ० सं० ४, ३, ६, ४)"। यशस्य दर्शितः॥

(२६) वक्षः। वहतेः 'वहः सुट् च'—इत्यसुन्। मध्यं काय उपरि कायस्य प्राप्तं प्रापितं चेत्यर्थः। उर इत्युच्यते। "उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षः (ऋ० सं० २, १, ७, ४)"॥

(२७) धन्व। व्याख्यातमन्तरिक्षनामसु (४६ पृ०)। स एव निगमः॥

(२८) सिनम्। व्याख्यातमन्ननामसु (२२३ पृ०)। स एव निगमः॥

(२९) इत्था। इदंशब्दात् 'था हेतौ च छन्दसि (५, ३, २६)'—इति हेतौ प्रकारवचने थाल्प्रत्ययः। पत्नेवां थाल् 'प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल् छन्दसि (५, ३, १११)'—इति इवार्थे थाल् विहितो व्यत्ययेन प्रकृतिभूतादिदंशब्दादपि भवति। अनेन हेतुना, अनेन प्रकारेण, अयमेवेति पार्थः। "इत्था चन्द्रमसो गृहे (ऋ० सं० १, ६, ७, ५)"॥ 'अमुया (निरु० ५, ५)'—इत्यर्थकथनं कथमिति निरूपणीयम्, इत्थायिति स्कन्दस्वामि-मताश्च निरूपणीयः॥

(३०) सचा। सहार्थेऽयं निपातः। "आदित्यैरद्वैर्यमुभिः सचा भुवः (ऋ० सं० ६, ३, १४, १)"॥

(३१) चित्। निपातो नाम च। निपातोऽनुदात्तः। 'चिदि-त्येषोऽनेककर्मा'—इत्यादिना व्याख्यातः (निरु० १, ४)। "चतुरश्चिद्ददमानात् (ऋ० सं० १, ३, २३, ४)"—इत्युपमायाम्। अवकुत्सनादिष्वपि निगमा अन्वेष्याः। नाम तु चिनोतेश्चेतयतेर्वा क्विपि चिदिति भवति। चितां भागैः क्षीरादिभिः चिद्रूपा वा सोमक्रयण्युच्यते। "चिदसि मनासि धीरसि (य० वा० सं० ४, १९)"॥

(३२) आ। 'आ इत्यर्वागर्थे'—इत्युपसर्गो व्याख्यातः (निरु० १, ३)। "परा याहि मघवन्ना च याहि (ऋ० सं० ३, ३, १६, ५)"—इत्युपसर्गस्य। "जार आ भगम् (ऋ० सं० ७, ६, १०, १)"—इत्युपमायाः "आमेन्यस्य रजसो यदभ्र आँ अपः (ऋ० सं० ४, ३, २, १)"—इत्यध्यर्थस्य॥

(३३) द्युम्नम्। व्याख्यातं धननामसु (२४० पृ०)। अत्र यशोऽन्नं वाभिधीयते। "अस्मे द्युम्नमधिरत्नं च धेहि (ऋ० सं० ५, ३, ६, ३)"॥

(३४) पवित्रम्। पुनातेः 'पुवः सञ्ज्ञायाम् (३, २, १८५)' —'कर्त्तरि चर्षिदेवतयोः (३, २, १८६)'—इतीत्रप्रत्ययः। मन्त्ररश्म्यापोऽग्निवायुसोमसूर्य्येन्द्राश्चाभिधेयाः। मन्त्रादिषु करणसाधनः अग्न्यादिषु कर्मसाधनः। "येन देवाः पवित्रेण

१ २ ३ २ ३ १ २ ३

(सा० सं० २, ५, २, ८, ४)"—इति मन्त्रस्य। "गभस्तिपूतो नृभिरद्रिभिः सुतः (ऋ० सं० ७, ३, १८, ४)"—पवित्रवन्तः परि

पात्रमासते (ऋ० सं० ७, २, २६, ३)"—इति च रश्मीनाम् । "शतपवित्राः स्वधया मदन्तीः (ऋ० सं० ५, ४, १४, २)" —इत्यपाम् । "अग्निः पवित्रं स मा पुनातु वायुः सोमः सूर्य इन्द्रः पवित्रन्ते मा पुनन्तु (निरु० ५, ६)"—इत्यग्न्यादीनाम् ॥

(३५) तोदः । तुद्यते पुत्रपौत्रादिभिः स्वसमीहितसाधनाय । तुदेर्घञ् । यद्वा, 'देवसेवमेवादयः पचादौ द्रष्टव्याः'—इति पचाद्यच् । तुदति प्रेरयति कार्येषु कर्मकारानिति तोदो गृहस्थः । "तोदस्येव शरण आ महस्य (ऋ० सं० २, २, १६, १)" ॥

(३६) स्वञ्चाः । सुपूर्वादञ्चतेरसुन् । सुगमन इत्यर्थः । "आ जुह्वानो घृतपृष्ठः स्वञ्चाः (ऋ० सं० ८, २, ८, १)" ॥

(३७) शिपिविष्टः । (३८) विष्णुः । एते विष्णोरादित्यस्य नामनी । शिपिविष्टशब्दोऽत्र सामर्थ्यादन्तर्णीतोपमानार्थः । 'यादृशः शेपो निर्वेष्टितः तादृश इति, शेप इव वेष्टनत्वग्विवर्जितः' —इति श्रीभोजनिवासः । उदितमात्रत्वादप्रतिपन्नरश्मिः । अपिवा, 'उपमानयोगात् कुत्सितार्थीयमिदम्'—इत्यौपमन्यवः । पृषोदरादित्वाद्रूपसिद्धिः अर्थसङ्गिश्च । 'प्रशंसानाम'—इत्याचार्यः । शिपिभिः रश्मिभिः आविष्टः शिपिविष्टः उपात्तरश्मिः ॥ विष्णुशब्दो व्याख्यातो यज्ञनामसु (३५२ पृ०) अर्थोऽनुगुणः । "किमित्ते विष्णो परि चक्ष्यं भूत् प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि (ऋ० सं० ५, ६, २५, ६)"—इत्युभयोर्निगमः ॥

(३९) आघृणिः । घृणिशब्दो ज्वलन्नामसु (१७६ पृ०), क्रोधनामसु (२४८ पृ०) च व्याख्यातः । आगतदीप्तिरागतक्रोधो

सा। "आघृणे संसचावहै (ऋ० सं० ४, ८, २१, १)" —इति दीप्तिनामत्वे निगमः। क्रोधवचने त्वेम्य उदाहरणं कर्त्तव्यम्।

(४०) पृथुज्रयाः। 'ज्रि अभिभवे (भू० प०)'। असुनि बाहुलकात् ककारस्य रेफः। ज्रयो वेगः। पृथुः ज्रयो यस्य सः। वेगेनान्यानभिभविता महाजवः इत्यर्थः। "पृथुज्रया अमिनादायुर्दस्योः (ऋ० सं० ३, ३, १३, २)"॥

(४१) अथर्युम्। अततेः। 'जनिमनियजिदमिभ्यः'—इति बाहुलकात् युस्प्रत्ययो धातोरथरादेशश्च सकार इत्सञ्ज्ञकः। अतनं गमनमथर्युशब्देनोच्यते मत्वर्थीयस्य लुक् गमनवन्तमित्यर्थः। "दूरे दृशं गृहपतिमथर्युम् (ऋ० सं० ५, १, २३, १)"॥

(४२) काणुका। कान्तकान्तकृतशब्दानां काणुभावः। तत्र स्वार्थे कः। शसि 'शेश्छन्दसि बहुलम् (६, १, ७०)'—इति शेर्लुक्। कान्तानि प्रियानि, क्रान्तानि आहवनीयं प्रति गतानि, ऋत्विक् प्रति कृतानि, ऋत्विग्भिः संस्कृतानि सरांसि विशिष्यन्ते। यद्वा, काणुकेति इन्द्रविशेषणम्। सोमस्य कान्तः वल्लभः। यद्वा, कणेशब्दः 'कणेमनसी श्रद्धा प्रतिघाते'—इति, तस्य काणुकेति रूपं क्रियाविशेषणञ्च। "इन्द्रः सोमस्य काणुका (ऋ० सं० ६, ५, २१, ४)"॥

(४३) अध्रिगुः। अधिकृतो गौर्यस्मिन् मन्त्रे सोऽध्रिगुः। अधिकृतशब्दस्याध्रिभावः, गोशब्दश्चात्र पशुमात्रोपलक्षकः। छागादिष्वधिकृतत्वात्। यद्वा, अध्रिग्वादिशब्दयत्त्वादध्रिगुः।

अध्रिगवप्रभृतीनामध्रिगोर्मुख्यत्वादध्रिगुशब्देनाभिधानम्। अध्रिरिन्द्रश्चाध्रिगुशब्देनोच्यते। अधृतगमनः सर्वत्राप्रतिहतगतिरित्यर्थः। अत्राधृतशब्दस्याध्रिभावः। गमनं गौः। "अध्रिगोशमीध्वं (ऐ० ब्रा० २, १, ७)"—तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः (ऋ० सं० ३, १, २१, ४)"—"ऋचीषमायाध्रिगवमोहम् (ऋ० सं० १, ४, २७, १)"—इति क्रमेण निगमाः॥

(४४) आङ्गूषः। आङ्पूर्वात् घुषेर्घञ्। आघुष्यते आघोषः। घोकारस्य ङ्गूकारभावः। 'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि (६, १, १२६)'—इत्यनुनासिको व्यत्ययेन। स्तोमोऽभिधेयः। "प्र वाङ्गूषेण घयमिन्द्रवन्तः (ऋ० सं० १, ७, २३, ४)"॥

(४५) आपान्तमन्युः। आपादितमुत्पादितं संस्कारेण मन्युर्दीप्तिर्यस्य। आपादितशब्दस्यापान्तभावः, मन्युशब्दो व्याख्यातः क्रोधनामसु (२५७ पृ०)। सोम उच्यते। इन्द्रश्चापान्तमन्युः। उत्पादितर्दीप्तिर्यस्य उत्पादितक्रोधो वा। "आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा (ऋ० सं० ८, ४, १४, ५)"॥

(४६) श्मशा। श्म शरीरमश्नुते व्याप्नोति। श्मशब्दोपपदात् अश्नोतेः पचाद्यच्। उदकवाहिनी कुल्या नाड़ी पानजलवाहिनी वा श्मशोच्यते। श्म अश्नुते इति निर्वचनं स्कन्दस्वामिग्रन्थे नास्ति श्रीनिवासमते तु स्वशब्दोपपदात् अश्नोतेः पूर्ववद्च्। स्वं शासती श्मशा, वकारस्य मकारः। "आव श्मशा रुजद्वाः (ऋ० सं० ८, ५, २६, १)"॥

(४) उर्वशी। उरुशब्दोपपदात् अश्नोतेरुर्वशी इन् वर्ण-

धातुभ्यः (उ० ४, ११४)'—इतीन्प्रत्यये 'कृदिकारात् (४, १, ४५ वा०)'—ङीप् वशुत्तरपदे उरुशब्दस्य उलोपश्च। उरु महत् स्थानं यशो वा व्याप्नोति। उरुभ्यां वा अश्नुते सम्भोगकाले कामिनं वशीकरोति, शिल्पोपचारकुशलेत्यर्थः। उरुर्वा वशः कामो यस्याः महेच्छेत्यर्थः। व्यधिकरणो बहुव्रीहिः। बहुषु कामो यस्याः, बहूनां वा कामो यस्याः। "उर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः (ऋ० सं० ५, ३, २४, १)"॥

(४८) वयुनम्। व्याख्यातं प्रज्ञानामसु (२६६ पृ०)। कान्तिः प्रज्ञा वाभिप्रेया। "स इत्तमोऽवयुनं ततन्वत् सूर्येण वयुनवच्चकार (ऋ० सं० ४, ६, ११, ३)"॥

(४९) वाजपस्त्यम्। वाजशब्दो व्याख्यातोऽन्ननामसु (२२० पृ०), पस्त्यशब्दो गृहनामसु (३१५ पृ०) वाजश्च पस्त्यश्च परमेतद्द्वयमस्माकमिति मन्यमाना यस्मिन् देवाः पतन्ति तम्। सोम उच्यते। "सनेम वाजपस्त्यम् (ऋ० सं० ७, ४, २४, ६)"॥

(५०) वाजगन्ध्यम्। 'गन्धअर्दने' चुरादिरात्मनेपदी। अत्र मिश्रणार्थः। 'अचो यत् (३, १, ९७)'। गृह्णतेर्गन्ध्यादेशो वयचेति केचित्। गृह्यमाणस्य मिश्रीभावात् गन्ध्यं मिश्रयितव्यमित्यर्थः। "अश्याम वाजगन्ध्यम् (ऋ० सं० ७, ४, २५, ६)"॥

(५१) गध्यम्। गृह्णातेः अघ्न्यादित्वात् (उ० ४, १०८) यत्प्रत्ययो धातोर्गध्यादेशश्च। ग्राह्यं गृह्यमाणस्य मिश्रीभावात्

आत्मना मिश्रयितव्यं भक्षयितव्यमित्यर्थः। सोम उच्यते। "ऋत्रा वाजं न गध्यं युयूषन् (ऋ० सं० ३, ५, १६, १)" ॥

(५२) गधिता। ग्रहेः क्ते ग्रहस्य गधादेशः। "आगधिता परिगधिता" (ऋ० सं० २, १, ११, ६)"। आगृहीता, अवयवैर्गाढ़ं परिष्वक्ता सतीत्यर्थः। परिगधिता, सर्वतोऽन्तर्बहिश्च मिश्रितः आलिङ्गनचुम्बनपुरःसरं प्राप्तप्रजनना सती सानुरागं सम्भोगाय परिगृहीता च सतीत्यर्थः॥

(५३) कौरयाणः। कौरशब्दः कृतशब्दपर्यायः। शत्रून् प्रति कृतमेव यानमायानं नित्यं कृतमनः। यद्वा, हस्त्यश्वो रथ इत्यादिसङ्ग्रामं कृतं कल्पितं प्रयाणाभिमुखं यानं वाहनं यस्य स कौरयाणः। "पाक स्थामा कौरयाणः (ऋ० सं० ५, ७, २६, १)" ॥

(५४) तौरयाणः। तूर्णशब्दस्य तौरभावः। तूर्णयाणः क्षिप्रगमन इत्यर्थः। "स तौरयाण उपयाहि यज्ञम् (ऋ० सं० ३, २, १६, ३ वा०)" ॥

(५५) अह्रयाणः। ह्रीतशब्दस्य ह्रभावः। अह्रीयमाणः अलज्जितमानः यो हर्विभ्यो दातुं न शक्नोति, स हीनो गच्छति, तदस्य नास्ति, अतः ह्लाघ्यगमन इत्यर्थः। "अनुष्टुपा शृणुराह्रयाणः (ऋ० सं० ३, ४, २५, ४)" ॥

(५६) हरयाणः। हरतेः पचाद्यचि हरः। शत्रूणां जीवितैश्वर्यादिहन्तृ यानं यस्य सः। शत्रुजीवितादीनां हर्त्तेत्यर्थः। "रजतं हरयाणे ऋ० सं० ६, २, २५, २)" ॥

(५७) आरितः। 'ऋ गतौ'। 'सूचिसूत्रिमूत्र्यट्यर्त्यशूर्णोतीनाम् (३, १, २२ वा०)'—इति विहितस्य यङः 'यङोऽचि च (२, ४, ७४)'—इत्यत्र बहुलानुवृत्तेरनैमित्तिके लुकि प्रत्ययलक्षणेऽत्र 'सन्यङोः (६, १, ९)'—इति ऋइत्यस्य द्विर्वचने उरदत्त्वाभ्यासस्य ऋकारस्यात्वे 'हृग्रिको च लुकि (७, ४, ९१)'—इति लुकि निष्ठायां छान्दसत्वादिट्, ऋकारस्य यणादेशः 'रोरि (८, ३, १४)' इत्यभ्यासरेफलोपे ढ्रलोपे पूर्वस्य (६, ३, १११) दीर्घत्वे च आरित इति। ण्यन्तस्य लुगभावश्छान्दसत्वात्। स्तोमान् प्रति गतो यज्ञं प्रति गत इत्यर्थः। "य आरितः कर्मणि कर्मणि स्थिरः (ऋ० सं० १, ७, १२, ४)" ॥

(५८) ब्रन्दी। ब्रन्दति नैरुक्तधातुः। 'गमेरिनिः (उ० ४, ६)'—इति बाहुलकादिनिः। "शुष्णस्य चिद् ब्रन्दिनो रोरुवद् वना (ऋ० सं० १, ४, १७, ५)" ॥

(५९) निष्पपी। 'षप समवाये (भू० पू०)'—इत्यस्मात् स्पृशत्यर्थे वर्त्तमानात् अलुनि सकारपकारविपर्य्ययः। स्पर्शश्चात्र तद्वारकः सुखातिशयोऽभिप्रेतः। सपति स्पृशति सुखयतीति सपः, निःपूर्वः, निष्पपा इति प्राप्ते निष्पपी। "मा नो मघेव निष्पपी परा दाः (ऋ० सं० १, ७, १८, ५)"। यदा विनिर्गतपसा इति पठन्ति, तदा सपेरपि विपर्य्यस्ताक्षरात् 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः (३, ३, ११८)'। अर्थः स एव अन्यत् सर्वं पूर्ववत्। अथापि विनिर्गतपसा इति पाठस्य प्राचुर्य्यात् तमाश्रित्य स्कन्दस्वामिना व्याख्यातम् ॥

(६०) तूर्णाशम्। 'तूर्णाशमुदकं भवति। तूर्णमश्नुते (निरु० ५, १६)'—इति भाष्यम्। तूर्णाशमित्यनवगतं शब्दतश्चार्थतश्च उदकमभिधेयम्। तूर्णमश्नुते अत्यर्थं व्याप्नोति एवं निर्वचनात् तूर्णशब्दस्य क्रियाविशेषणत्वेनाकर्मत्वात् कर्मोपपदाभावात् को न स्यादिति चेत्,—अश्नुत इत्ययं तूर्णश्च तदशश्च तूर्णाशम्। "तूर्णाशं न गिरेरधि (ऋ० सं० ६, ३, १, ४)"॥

(६१) क्षुम्पम्। 'क्षुभ सञ्चलने (दि० प०)'। 'शकि लिङ् च (३, ३, १७२)'—इति शक्यार्थे ण्यत्। क्षौम्यमिति प्राप्ते औकारस्य ह्रस्वत्वं, भकारस्य पकारो यकारलोपो मकारश्चोपजनः। अयत्नेनैव क्षोभयितुं शक्यम्। अहिच्छत्रकमुच्यते। "यदा क्षुम्पमिव स्फुरन् (ऋ० सं० १, ६, ६, ३)॥

(६२) निचुम्पुणः। 'प्रीणास्थूणक्षणभ्रूणक्षूणत्राणतृणघृणादयः'—इति निचान्तनियमनीचैःशब्दोपपदेभ्यः प्रीणातिपृणातिपृणातिभ्यो णुक्प्रत्ययो धातूनां पुभावः उपपदानां निचुम्भावश्च निपात्यते। नीचैरुपपदात् दधातेर्वा पूर्ववन्निपातनम्। 'चमु अदने (दि० आ०)'। निचान्तो भक्षितः प्रीणातीति निचुम्पुणः सोमः। "अपां जामिर्निचुम्पुणः (ऋ० सं० ६, ६, २५, २)"। नियमेन चम्यते इति निचमनमुदकं, तेन पूर्यते इति समुद्रः। निगमः पर्येष्यः। नीचैरस्मिन् क्वणन्ति नीचैःशब्देनात्र कर्म कुर्वन्ति इत्यवभृथो निचुम्पुणः। "अवभृथनिचुम्पुण (य० वा० सं० ८, २७)"॥

(६३) पदिम्। 'पतॢ गतौ (भू० प०)'। 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'। पदिः पक्षी। आकाशे ह्यसौ नित्यं पत्यते गच्छति। "मुक्षीजयेव पदिमुत्सितानि (ऋ० सं० २, १, १०, २)"॥

(६४) पादुः। पद्यतेः 'छन्दसीणः (उ० १, २)'—इति बाहुलकादुण् वृद्धिः। पदनं पादुः। "स पादुरस्य निर्णिजो न मुच्यते (ऋ० सं० ७, ७, ११, ४)"॥

(६५) वृकः। व्युपसर्गार्थविशिष्टाद्, वृणोतेः 'सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कित् (उ० ३, ३१)'—इति कप्रत्ययः। वृकश्चन्द्रमाः। विवृतं स्पष्टज्योतिष्मत्वात् विवृत इत्युच्यते, न हि नक्षत्राणामिवाव्यक्तमस्य ज्योतिः। विकृतविक्रान्तशब्दयोर्वृकभावः। विकृतत्वं ज्योतिषः शीतत्वात् ह्रासवृद्धिभ्यां वा। विक्रान्तत्वं ज्योतिषो दिगन्तरगमनात्। "अरुणो मा सकृद्वृकः (ऋ० सं० १, ७, २३, ३)"। यद्वा, 'वृजी वर्जने' अदादिः। अनेकार्थत्वादावृणोत्यर्थः। पूर्वसूत्रेण बाहुलकात् को नकारजकारलोपश्च। आदित्य उच्यते। आवृङ्क्ते आवृणोति जगत् प्रकाशेन, आवृणोति चोदकानि रश्मिभिः सम्भजत इत्यर्थः। यद्वा, वृणक्तेर्वधकर्मणः पूर्ववद्रूपम्। विनाशयति तमांसि। "आस्नो यत्सोममुश्चतं वृकस्य (ऋ० सं० १, ८, १६, १)"। विविधं कृन्तति उरणादीनि विकर्त्ता सन् वृकश्च। विपूर्वात् कृन्ततेः पूर्ववद्रूपसिद्धिरुन्नेया। "वृकश्चिदस्य वारण उरामथिः (ऋ० सं० ६, ४, ४१, ३)"। अपि वा शृगाली शिवेति प्रसिद्धा

सा पृथयुच्यते। "शतं मेषान् वृक्ये चक्षदानम् (ऋ० मं० १, ८, ११, १)" ॥

(६६) जोषवाकम्। 'जुषी प्रीतिसेवनयोः (तु० आ०)' कर्मणि घञ्, वचेर्भावे। जोषयितव्यं वचनम्। विस्पष्टाय सेवितव्यं वचनम्। अविस्पष्टं वचनमित्यर्थः। "जोषवाकं वदतः पज्रहोषिणा (ऋ० मं० ४, ८, २५, ४)" ॥

(६७) कृत्तिः। कृन्ततेः रूपम्। यशोऽन्नं वा। यशो हि छिपन्तः कृन्तति दुर्मेकं यान्नं मायादि भोक्तारम्। "महो न कृत्तिः शरणा त इन्द्र (ऋ० मं० ६, ६, १३, ६)"। शरीरात् कृन्तति चर्ममप्यपि कृत्तिः। मृत्तमप्यपि कृत्तिः क्षादुपस्त्रावणप्रथितत्वात् कर्तनसामान्यात्। कृत्तिरिव कृत्तिः चर्म्मोच्यते। "कृत्तिं वसान आचर (य० वा० मं० १६, ५१)" ॥

(६८) श्वघ्नी। स्वशब्दे कर्मण्युपपदे मृतेऽर्थे 'कर्मणि हनः (३, २, ८६)'—इति णिनिप्रत्ययः। स्वं धनं हतवान् स्वघाती सन् श्वघ्नी कितवः। स्वशब्दः स्वप्रेत्यत्र (१४१ पृ०) व्याख्यातः। "कृतं न श्वघ्नी विचिनोति देवने (ऋ० मं० ७, ८, २४, ५)" ॥

(६९) समस्य। समशब्दः सर्वपर्यायः सर्वनामसु पठ्यते 'सर्वसमसिमनेमेत्यनुशानि (फि० ४)'—इति सर्वानुशासः। "मा नः समस्य दूढ्यः" (ऋ० मं० ६, ५, २५, ४)"। "उत-प्याशो अघायतः समस्मात् (य० वा० मं० ३, २६)"। "उत समस्मिन्नाशिशीहि नो वसोः (ऋ० मं० ६, २, २, ३)"। "नदस्यामनग्के समे (ऋ० मं० ६, ३, २२, १)" ॥

(७०) कुटस्य। (७१) चर्षणिः। कृतशब्दस्य कुटभावः। कुभर्थात् कुटेः कप्रत्यय इत्यन्ये। चर्षणिशब्दो व्याख्यातः पश्यतिकर्मसु (३३३ पृ०)। "पिता कुटस्य चर्षणि (ऋ० सं० १, ३, ३३, ४)" ॥

(७२) शम्बः। व्याख्यातं शम्बर इति मेघनामसु (८३ पृ०)। "उग्रो यः शम्बः पुरुहूत तेन (ऋ० सं० ७, ८, २३, २)" ॥

(७३) केपयः। कुशब्दोपपदात् पुनातेः 'अनिपुणकृतिभ्यः क्यप्'—इति बाहुलकात् क्यप्, कोः कादेशः। कपूयः दुःपूयः दुःशोध्यः दुःकामेत्यर्थः। कपूयेन तद्वन्तोऽपि कपूयाः, अकारो मत्वर्थीयः। कुत्सितकर्माण उत्थापितपापकर्माणो बोच्यन्ते। कपूयाः सन्तः केपयः। "ईं मेंवते न्यविशन्त केपयः (ऋ० सं० ७, ८, २७, १)" ॥

(७४) तूतुमाकृषे। 'तुतुमेत्यस्य शीघ्रगत्यर्थस्य तूर्णमित्यवगमः'—इति स्कन्दस्वामी। निर्वाहो निरूपणीयः। करोतेर्लेटि 'थासः से (३, ४, ८०)' उप्रत्ययस्य 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७३)'—इति लुक् कुरुष इत्यर्थः। "एता विश्वा सवना तूतुमा कृषे (ऋ० सं० ८, १, ६, ६)" ॥

(७५) अंसत्रम्। आङ्पूर्वाद्धन्तेरसुनि टिलोप आकारस्य ह्रस्वत्वं च। आहन्तीत्यंहः पापम्। पापेन चात्र तत्फलभूतप्रहारादिकं लक्ष्यते। अंहसस्त्रायते। 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)'—इत्यंहसस्त्रं सदंसत्रम्। धनुर्वा कवचन्न। "अंसत्रकोशं सिञ्चता नृपाणम् (ऋ० सं० ८, ५, १६, १)" ॥

(७६) काकुदम्। कौतेः शब्दकर्मणो यङि, पचाद्यचि, 'यङोऽचि च (२, ४, ७४)'—इति यङ्लुकि, द्विर्वचनादौ, 'न धातुलोप आर्द्धधातुके (१, १, ४)'—इति गुणनिषेधः। कोकूयते पुनः पुनः शब्दं करोतीति काकुर्जिह्वा। कोकुवाधानं सद्घ वर्णम्-त्यादिना काकुदं तालु। कोकूयमाना नुदतीति वा। कोकूयतेर्नुदेश्च काकुदम्। "अनुक्षरन्ति काकुदम् (ऋ० सं० ६, ५, ७, २)"॥

(७७) वीरिटे। भियो वा नक्षत्रादीनां भाभासस्ततिस्ततनं यस्मिन्। तत् भीतननं भास्ततनं वा सत् वीरिटमन्तरिक्षम्, मनुष्यगणो वा अनालम्बेऽन्तरिक्षे हि भीतिः कस्य न जायते, पृहदरेन्द्रो यतो हि तस्मात्तत्रापि तद् भयं। "आ विश्यती व वीरिटे इयाते (ऋ० सं० ५, ४, ६, २)"॥

(७८) अच्छ। निपातः। थमेरर्थे। आभिमुख्यार्थे वर्त्तते। आप्तुमित्यस्यार्थे इति शाकपूणिः॥

(७९) परि। (८०) ईम्। (८१) सीम्। इति व्याख्यातानि प्राथमिके निपातनप्रकरणे (नि० १, ३ पृ०) अनेकार्थत्वा-दिहोपन्यासः। एषामुदाहरणानि प्रसिद्धानि॥

(८२) एनम्। (८३) एनाम्। एतत्पदद्वयमन्या अन्येत्य-नेन पदद्वयेन 'उदात्तम् प्रथमादेशे, अनुदात्तमन्वादेशे'—इत्येवं व्याख्यातम् (निरु० ४, २५)। अनेकार्थत्वादुपन्यासः। "त्रित एनमायुनग्"—इत्येवमादीन्युदाहरणानि॥

(८४) सृणिः। 'सृ गतौ (भू० प०)'। 'घृघृषिप्रच्छिञ्च्य-स्तिस्तरिभ्यः क्विन्'—इति णिप्रत्ययः। लवितव्यं प्रति सरणात्

सृणिशब्देनात्र दात्रमभिप्रेतम्॥ "नदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात् (य० वा० सं० १२, ६८)" ॥

इति चतुरशीतिः पदानि ॥ २ ॥

आशुशुक्षणिः (१)। आशाभ्यः (२)। काशिः (३)। कुणारुम् (४)। अलातृणः (५)। सलल्रूकम् (६)। कत्पयम् (७)। विस्रुहः (८)। वीरुधः(९)। नक्षद्दाभम् (१०)। अस्कृधोयुः (११)। निशृम्भाः (१२)। बृबदुक्थम् (१३)। ऋदूदरः (१४)। ऋदूपे (१५)। पुलुकामः (१६)। असिन्वती (१७)। कपना (१८)। भाऋजीकः (१९)। रुजानाः (२०)। जूर्णिः (२१)। ओमना (२२)। उपलप्रक्षिणी (२३)। उपसि (२४)। प्रकलवित् (२५)। अभ्यर्धयज्वा (२६)। ईक्षे (२७)। क्षोणस्य (२८)। अस्मे (२९)। पाथः (३०)। सबीमनि(३१)। सप्रथाः (३२)। विदथानि(३३)। श्रायन्तः (३४)। आशीः (३५)। अजीगः(३६)।

अमूरः (३७)। शशमानः (३८)। देवोदेवाच्या-कृपा (३९)। विजामातुः(४०)। ओमासः(४१)। सोमानम् (४२)। अनवायम् (४३)। किमीदिने (४४)। अमवान् (४५)। अमीवा (४६)। दुरितम् (४७)। अप्वे (४८)। अमतिः(४९)। श्रुष्टी (५०)। पुरन्धिः (५१)। रुशत् (५२)। रिशादसः (५३)। सुदत्रः (५४)। सुविदत्रः (५५)। आनुषक् (५६)। तुर्वणिः (५७)। गिर्वणाः (५८)। असूर्त्ते सूर्त्ते (५९)। अम्यक् (६०)। यादृश्मिन् (६१)। जारयायि (६२)। अग्रिया (६३)। चनः (६४)। पचता (६५)। शुरुधः (६६)। अमिनः (६७)। जज्झतीः (६८)। अप्रतिष्कुतः (६९)। शाशदानः (७०)। सुप्रः (७१)। सुशिप्रः (७२)। रंसु (७३)। द्विबर्हाः (७४)। अक्र (७५) उराणः (७६)। स्तियानाम् (७७)। स्तिपाः (७८)। जबारु (७९)। जरूथम्

(८०)। कुलिशः (८१)। तुञ्जः (८२)। बर्हणा (८३)। ततनुष्टिम् (८४)। इलीबिशः (८५)। कियेधाः (८६)। भृमिः (८७)। विष्पितः(८८)। तुरीपम् (८९)। रास्पिनः (९०)। ऋञ्जतिः(९१)। ऋजुनीती (९२)। प्रतद्वसू (९३)। हिनोत (९४)। चोष्कूयमाणः (९५)। चोष्कूयते (९६)। सुमत् (९७)। दिविष्टिषु (९८)। दूतः (९९)। जिन्वति (१००)। अमत्रः (१०१)। ऋचीषमः (१०२)। अनर्शरातिम् (१०३)। अनर्वा (१०४)। असामि (१०५)। गल्दया (१०६)। जल्हवः(१०७)। बकुरः (१०८)। बेकनाटान् (१०९)। अभिधेतन (११०)। अंहुरः (१११)। वतः (११२)। वाताप्यम् (११३)। चाकन् (११४)। रथर्यति (११५)। असकाम् (११६)। आधवः (११७)। अनवब्रवः (११८)। सदान्वे (११९)। शिरिम्बिठः (१२०)। पराशरः (१२१)। क्रिविर्दती (१२२)।

करूलती (१२३)। दनः (१२४)। शारुः (१२५)। इदंयुः (१२६)। कीकटेषु (१२७)। बुन्दः (१२८) बृन्दम् (१२९)। किः (१३० । उल्बम् (१३१)। ऋबीसम् (१३२)। ऋबीसमिमिति द्वात्रिंशच्छतं पदानि ॥ ३ ॥

जहासत्रिमाशुशुक्षणिस्त्रीणि॥

इति निघण्टौ चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

(१) आशुशुक्षणिः। शुचेर्ज्वलतिकर्मणः क्विपि शुक् दीप्तिः, क्षणिर्हिंसार्थः, 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४),-इतनि, सनोतेर्वा इन्। आशु शुचा दीप्त्या क्षणिता हिंसिता तमसां सनिता सम्भक्ता वा पाके दाहप्रकाशनादेः स्वव्यापारस्य। अग्निरुच्यते। यद्वा, आङ्पूर्वाच्छुचेरन्तर्णीतण्यर्थात् सनि आशुशुक्ष इति स्थिते 'आङि शुषेः सनः'—इति विहितः अनिप्रत्ययो बाहुलकाच्छुचेरपि भवति। 'आङि शुचेः—इत्येव वा तत्र पाठः। आशु शोचयिषा आदीपयितुमिच्छा, तस्याः कर्त्ता आशुशुक्षणिः आदीपयिषुरित्यर्थः। "त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिः (ऋ० मं० २, ५, १७, १)" ॥

(२) आशाभ्यः। व्याख्यातं दिङ्नामसु (६१ पृ०)। स एव निगमः (ऋ० सं० २, ८, ६, २) ॥

(३) काशिः। काशतेः 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'—इतीन्प्रत्ययः। प्रकाश्यते इति काशिर्मुष्टिः। "यत्संगृभ्णा मघवन् काशिरित्ते (ऋ० सं० ३, २, १, ५)"॥

(४) कुणारुम्। क्वणतेः शब्दकर्मणः 'क्वणेरारुः'—इति बाहुलकात् आरुप्रत्ययस्ताच्छीलिकः, वकारस्य सम्प्रसारणञ्च। शब्दनशीलः कुणारुः, तन्मेघ उच्यते। "अहस्त मिन्द्र सम्पिणक् कुणारुम् (य० वा० सं० १८, ६६)"॥

(५) अलातृणः। अलंशब्दोपपदात् तृदेर्हिंसार्थात् 'धीणस्थूणभ्रणभ्रूणक्षूणतूणतृणघृणादयः (उ० ३, १३)'—इति णप्रत्ययो दकारलोपो गुणाभावोऽलमोमकारस्याकारश्च निपात्यते। यद्वा, तृदि दकारस्य लोपो गुणा भावश्च पृषोदरादित्वात्॥ अलं पर्याप्तमातर्दनं हिंसा यस्य, बहुदकत्वात् मेघो विशिष्यते। "अलातृणोवल इन्द्र व्रजो गोः (ऋ० सं० ३, २, २, ५)"॥

(६) सलल्लूकम्। सम्पूर्वाल्लुभेर्निर्ष्ठायां 'लुभो विमोहने (७, २, ५४)'—इतीडागमः। यद्वा, सर्त्तेः 'मण्डूकोलूकोलूकशूकशम्बूकयूकघरूकादयः (उ० ४, ४०)'—इत्यूकप्रत्यये गुणे रपरे कृते अरित्यस्य द्विवचनरेफयोर्लत्वापत्तिश्च निपात्यते। सरणशीलमत्यन्तदूरं नष्टमित्यर्थः। रक्षो विशिष्यते। "आ कीवत सलल्लूकं चकर्थ (ऋ० सं० ३, २, ४, २)"॥

(७) कत्पयम्। कमिति सुखनाम। तस्य मकारस्य तकारः पयसश्च सलोपः। कत्पयसं सुखपयसमित्यर्थः। मेघोऽभिप्रेयः। "त्यञ्चिदित्था कत्पयं शयानम् (ऋ० सं० ४, १, ३२, ६)"॥

(८) विस्रुहः। विपूर्वात् स्रवतेः क्विपि। विविधं स्रवन्तीति

विस्रुहः आपः। "यथा इव रुरुहुः सत विस्रुहः (ऋ० सं० ४, ५, ६, ६)"॥

(६) वीरुधः। विपूर्वात् रुहेः क्विपि वेर्दीर्घो हकारस्य धकारश्च। मूलविभुजादित्वात् के विरुहाः सत्यः वीरुधः। विविधं रोहन्तीति ओषधय उच्यन्ते। "वीरुधः पारयिष्णवः (ऋ० सं० ८, ५, ८, ३)"॥

(१०) नक्षद्दाभम्। नक्षतेर्गतिकर्मणो व्याप्तिकर्मणो वा शतरि नक्षन्, दम्नोतीति दभ्नोतेर्वधकर्मणः कर्मण्यणि नकारलोपश्छान्दसः, वृद्धिः। युद्धार्थमभिगच्छतां व्याप्नुवताञ्च शत्रूणां हन्तारमित्यर्थः। "नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठाम् (ऋ० सं० ४, ६, १३, २)"॥

(११) अस्कृधोयुः। दीर्घायुरित्यर्थः, चिरस्थायी पुत्रपौत्रान्वित इति यावत्। कृध्विति ह्रस्वनामसु व्याख्यातम् (३०५ पृ०)। नञ्पूर्वम् धातोः सकार उपजनः, धुशब्दस्य धोभावः। यद्वा, नञ्पूर्वात् करोतेर्निष्ठायामकृतशब्दस्याकृभावः, दधातेर्धियतेर्वा 'इणो णित्'—इति बाहुलकात् उसिप्रत्ययः, णित्वाद् युगागमः, धकारस्य धोभावः। अकृतदानो यादृशो न कस्मैचित्त्वया दत्तपूर्व इत्यर्थः। अकृतयानो वा अनुकपूर्वः केनचिदित्यर्थः। धनविशेष उच्यते। "यो अस्कृधोयुरजरः स्वर्वान् (ऋ० सं० ४, ६, १३, ३)"॥

(१२) निश्रम्भाः। निपूर्वात् 'श्रथि शैथिल्ये (भ्वा० आ०)'—इत्यस्मात् घञ्। निर्गतः श्रथः शैथिल्यं यस्याः सा निश्रथा

गतिः, अशिथिलया गत्या हरन्तीति 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डः। श्रथशब्दस्य श्रम्भावः। अशिथिलया गत्या हरणशीला अविश्रामहरणा इत्यर्थः। "निश्रम्भास्ते-जनश्रियम् (ऋ० सं० ४, ८, २१, ६)"। भाष्ये श्रथ्यशब्दः श्रथ शब्दपर्य्यायः (निरु० ६, ३)॥

(१३) वृबदुक्थम्। वृहच्छब्दो व्याख्यातो महन्नामसु (३०८ पृ०)। तत्र हकारस्य बः। यद्वा, 'संश्चत्तृपद्बृहत्' (उ० २, ८१)'—इति वृ धातोरतिप्रत्यये वृबच्छब्दो निपात्यते, उक्थशब्द उक्थ्य इत्यत्र व्याख्यातः (३५८ पृ०)। वृहद् वक्तव्यं वा उक्थं स्तुतिर्यस्य स वृहदुक्थः, तम्, स्तुत्यर्हमित्यर्थः। "वृबदुक्थं हवामहे (ऋ० सं० ६, ३, २, ५)"॥

(१४) ऋदूदरः। मृदु उदरमस्य। मृदुर्वा वमनविरेचनयोरकर्त्ता उदरे अस्तु इत्येवं य आशास्यते यजमानैः स मृदूदरः सोमः, आदेर्मकारस्य लोपः। "ऋदूदरेण सख्या सचेम (ऋ० सं० ६, ४, १२, ५)"। सोमपायिनः प्रायश्चित्तेष्टौ याज्यैषा॥

(१५) ऋदूपे। 'अर्द अर्दने' हिंसार्थः। 'छन्दसीणः (उ० १, २)'—इति बाहुलकादुण् धातोर्ऋदादेशः, ऋदुशब्दोपपदे पतेरन्तर्णीतण्यर्थात् 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डः, 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः। बाहुविशेषणमेतत्। शत्रूणामर्दनेन पातयितारौ। "ऋदूपे चिद्वृधा (ऋ० सं० ६, ५, २०, ६)"॥

(१६) पुलुकामः। पुरुर्बहुकामो यस्य सः। कपिलकादित्वाल्लत्वम्। "पुलुकामो हि मर्त्यः (ऋ० सं० २, ४, २२, ५)"॥

(१७) असिन्वती। 'षिञ् बन्धने (स्वा० उ०)'। अनेकार्थत्वाद्धातूनामत्र सङ्खादनार्थः। लटः शतरि श्नुः। 'उगितश्च (४, १, ६)'—इति ङीप्, पूर्वसवर्णदीर्घः। असङ्खादन्त्यावित्यर्थः। हनू विशेष्यते। "असिन्वती बप्सती भूर्यत्तः (ऋ० सं० ८, ३, १४, १)"॥

(१८) कपना। 'कपि चलने (भ्वा० आ०)'—इत्यस्मात् 'युच् बहुलम् (उ० ४, ७४)'—इति युचि बाहुलकादागमानित्यत्वान्नुम् न क्रियते। घुणाः क्रिमय उच्यन्ते। "मोपथा वृक्षङ्कपनेव वेधसः (ऋ० सं० ४, ३, १५, १)"॥

(१९) भाऋजीकः। ऋजुका अकुटिला अप्रतिहता प्रसिद्धा भा दीप्तिर्यस्य स ऋजुकभाः सन् भाऋजीकः। अग्निरुच्यते। "धूमकेतुः समिधा भाऋजीकः (ऋ० सं ७, ६, ११, २)"॥

(२०) रुजानाः। व्याख्यातं नदीनामसु (१५१ पृ०)। स निगमः (ऋ० सं० १, २, ३७, १)॥

(२१) जूर्णिः। व्याख्यातं क्रोधनामसु (२४६ पृ०)। अत्र सेनाभिधेया। "क्षिप्ता जूर्णिर्न वक्षति (ऋ० सं० २, १, १७, ३)"।

(२२) ओमना। अवनशब्दस्याकारवकारयोरोकारमकारौ विभक्तेराकारः। अवनाय अवनेन वा। "परिध्वंसमोमना वां वयोगात् (ऋ० सं० ५, ५, १६, ४)"॥

(२३) उपलप्रक्षिणी। उपलशब्दोपपदात् क्षिणोतेः क्षिपतेर्वा 'सुप्यजातौ (३, २, ७८)'—इति णिनिप्रत्यये व्यत्ययेन टिलोपः। उपलेषु श्लक्ष्णेषु वालुकासु यवान् क्षिणोति हिनस्ति भृज्जतीत्यर्थः, उपलेषु यवान् प्रक्षिपति चूर्णयतीत्यर्थः। सक्तुकारिकाभिधेया। "उपलप्रक्षिणी नना (ऋ० सं० ७, ५, २५, ३)" ॥

(२४) उपसि। उपस्थशब्दस्य। "आसीन ऊर्ध्वं मुपसि क्षिणाति (ऋ० सं० ७, ७, १७, ३)" ॥

(२५) प्रकलवित्। प्रकर्षेण कलाः मानोन्मानप्रतिमाना-दिविषयाः प्रकृष्टाश्वगणितरत्नपरीक्षादिका वेद विजानाति। 'सत्सूद्विष (३, २, ६१)'—इत्यादिना क्विपि 'ङ्यापोः संज्ञा-च्छन्दसोर्बहुलम् (६, ३, ६३)'—इति ह्रस्वः। प्रकलविद् वणिग् भवति। "दुर्मित्रासः प्रकलविन्मिमानाः (ऋ० सं० ५, २, २६, ५)" ॥

(२६) अभ्यर्धयज्वा। 'ऋधु वृद्धौ (दि० प०)'। णिजन्तात् पचाद्यचि णिलोपे अभ्यर्ध, यजेर्दानार्थात् 'सुयजोर्ङ्वनिप् (३, २, १०३)' अल्पानपि रसान् अभ्यर्धयन् मरुद्भ्यो ददाति धनं वा स्तोतृभ्यो यो ददाति सः। पूषा विशेष्यते। "सिषक्ति पूषा अभ्यर्धयज्वा (ऋ० सं० ४, ८, ८, ५)" ॥

(२७) ईशे। 'ईश ऐश्वर्ये (अदा० आ०)'। 'थासः से (३, ४, ८०)'। व्यत्ययेन ईशासे न भवति। "ईशे हि वस्व उभयस्य राजन् (ऋ० सं० ४, ६, ८, ५)" ॥

(२८) क्षोणस्य। 'क्षि निवासगत्योः (तु० प०)'। 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति कर्त्तरि ल्युट्। क्षयणस्येत्यत्र

यकारस्योकारे 'आद्गुणः (६, १, ८७)'। नियसितुरित्यर्थः। "महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय (ऋ० सं० १, ८, २४, ३)" ॥

(२६) अस्मे। अस्मदः। जसादीनां शे प्रगृह्यं, लुवेव शेः। जसादिषु सुबन्तेषु क्रमेणोदाहरणानि,—"अस्मे ते बन्धुः (य० वा० सं० ४, २२)" "अस्मे यातं नासत्या सजोषाः (ऋ० सं० १, ८, १६, ६)" "अस्मे समानेभिर्वृषभ पौंस्येभिः (ऋ० सं० २, ३, २५, २)" "अस्मे प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन् (ऋ० सं० ३, २, २०, ५)" "अस्मे आराच्चिद्द्वेषः सनुतर्युयोतु (ऋ० सं० ४, ७, २२, ३)" "ऊर्ध्व इव पप्रथे कामो अस्मे (ऋ० सं० ३, २, ३, ४)" "अस्मे धत्त वसवो वसूनि (य० वा० सं० ८, १८)" ॥

(३०) पाथः। पथतेः पन्थतेर्वा गत्यर्थादसुनि धातूनां पाथ इत्ययमादेशः। पथ्यते गम्यते पक्ष्यादिभिरन्तरिक्षवासिभिर्वा पाथः। अन्तरिक्षम्। "श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः (ऋ० सं० ५, ५, ५, ५)"। उदकमपि पाथः। 'पिबतेस्थुड्च'—इत्यसुन्। पीयते ह्युदकम्। अन्ने पिबतिरभ्यवहारार्थः। "आचष्ट आसां पाथो नदीनाम् (ऋ० सं० ५,३, २५,५)"—इत्युदकस्य। "देवानां पाथ उप प्रविद्वान् (ऋ० सं० ८, २, २२, ४)"—इत्यन्नस्य ॥

(३) सवीमनि। 'षु प्रसवैश्वर्ययोः' (भू० प०)। 'हृभृधृसृस्तृशृभ्य इमनिच् (उ० ४, १४३)'—इति इमनिच्। प्रसवशब्दस्य एव वर्णव्यत्ययादिना। प्रसवेऽभ्यनुज्ञाने। "देवस्य वयं सवितुः सवीमनि (ऋ० सं० ५, १, १५, २)" ॥

(३२) सप्रथाः। प्रथतेरसुन्। सर्वतःशब्दस्य सभाव.। सर्वतः पृथुः। "त्वमग्ने सप्रथा असि (ऋ० सं० ४, १, ५, ४)"॥

(३३) विदथानि। विदेरथक् (उ० ३, १११)। वेदनानि विज्ञानानीत्यर्थः। "विदथानि प्रचोदयन् (ऋ० सं० ३, १, २१, २)"॥

(३४) श्रायन्तः। 'श्रिञ् सेवायाम् (भू० आ०)'। शतरि शपि गुणे प्राप्ते व्यत्ययेन वृद्धिः। समाश्रयन्तः। यद्वा, भूते ल्युट्। समाश्रिताः। "श्रायन्त इव सूर्य्यम् (ऋ० सं० ६, ७, ३, ३)"॥

(३५) आशीः। आङ्पूर्वात् श्रयतेः शृणोतेर्वा 'क्विब्वचिप्रच्छि (३, २, १७८ वा० १)'—इत्यत्र 'प्राक् प्रत्ययनिर्देशादिष्टसिद्धिः (भा०)'—इत्युक्ते क्विपि प्रकृतेः शीरादेशः। यद्वा, एतयोरर्थे वर्त्तमानात् शृणातेः क्विपि शीरशब्दे निर्वाहः। आङ् ईषदर्थद्योतकः आश्रयणात् होमार्थस्य सोमस्य श्रपणं दध्युच्यते। "इन्द्राय गाव आशिरम् (ऋ० सं० ६, ५, ६, १)"। 'आङः शासु इच्छायाम्' इत्यस्मात् क्विपि। "सा मे सत्याशीर्देवान् गम्यात्" रेफान्तसकारान्तयोरपि साधारणं पाठः समाम्नाये॥

(३६) अजीगः। जिगर्त्तिर्निरुक्तधातुर्निगरणार्थो वा ग्रहणार्थो वा। लङि, सिपि, इतश्च लोपे, 'रात्सस्य (८, १, २४)'—इति सलोपः, रेफस्य विसर्जनीयः। अयमिरति, गृह्णाति वा। भक्षयतीत्यर्थः। "आदिद्ग्रसिष्ट ओषधीरजीगः (ऋ० सं० २, १२, २)"॥

(३७) अमुरः। 'मुह वैचित्त्ये (दि० प०)'। निष्ठायाम् उत्वम्, ष्टुत्वढलोपदीर्घाः, हकारस्य रेफः, नञ्पूर्वः सम्मुढो

अमूर। अमूढेत्यर्थः। "मूरा अमूर न वयं चिकित्वः (ऋ० सं० ७, ५, ३२, ४)" ॥

(३८) शशमानः। व्याख्यातोऽर्चतिकर्मसु (३३८ पृ०)। स निगमः (ऋ० सं० २, २, २१, २) ॥

(३९) देवोदेवाच्या कृपा। देवशब्दोपपदात् अञ्चतेः 'ऋत्विग् (३, २, ५९)'—इत्यादिना क्विन्, 'अनिदिताम् (६, ४, २४)'—इति नलोपः 'अचः (६, ४, १३८)'—इत्यकारलोपः, (६, ३, १३८)'—इति दीर्घे 'अञ्चतेश्चोपसङ्ख्यानम् (४, १, ६, वा०)'—इति ङीपि 'विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये (६, ३, ९२)' न भवति, 'कृपू सामर्थ्ये (भू० आ०)' क्विपि। देवान् प्रति गतया स्तुत्येत्यर्थः। "देवोदेवाच्या कृपा (ऋ० सं० २, १, १२, १)" ॥

(४०) विजामातुः। धनादन्ये कुलीनत्वादयो विगता जामातृगुणा यस्मात्, सोऽयमप्राप्तगुणो विजामाता कन्यापतिरुच्यते। ततः पञ्चमी। "विजामातुरुत वा घा स्यालात् (ऋ० सं० १, ७, २८, २)" ॥

(४१) ओमासः। अवतेः पालनार्थस्य तर्पणार्थस्य वा कर्त्तरि कर्मणि वा 'अविसिविसिशुषिभ्यः कित् (उ० १, १४१)'—इति मन्प्रत्यये 'ज्वरत्वर (६, ४, २०)'—इत्यादिना ऊठि ऊमास इति प्राप्ते व्यत्ययेन गुणः। जस्। 'आज्जसेरसुक् (७, १, ५०)'। रक्षितारस्तर्पयितारस्तर्पणीयाः। "ओमासश्चर्षणी धृतः (ऋ० सं० १, १, ६, १)" ॥

(४२) सोमानम्। सुनोतेर्मनिन्प्रत्ययः। अमि सोमानम्। सोतारम्। अभिषोतारं सोमानाम्। "सोमानं स्वरणम् (ऋ० सं० १, १, ३४, १)"॥

(४३) अनवायम्। (४४) किमीदिने। अनवयवशब्दस्यानवायभावः। अनवयवं सकलमित्यर्थः। किमिदानीं कस्य किञ्चिदिति चरति, किमिदं वर्त्तत इति वा चरति। साधुजनवैरी सदा विरुद्धबुद्धिः पिशुनोऽभिधेयः। किमिदंशब्दस्य वाक्यस्य वा किमीदिनभावः। "द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने (ऋ० सं० ५, ७, ५, २)"॥

(४५) अमवान्। अमा सहार्थाव्ययम्। तस्य मतुपि ह्रस्वः ससहायः। यद्वा, 'अम रोगे (चु० प०)'। 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः (३, ३, ११८)'। अमो रोगः कर्त्तव्यः शत्रूणां, रोगैस्तद्वान्, दस्यूनां रोगभूत इत्यर्थः। आत्मशब्दस्य वा अमभावः। यत्नवान् 'आत्मा जीवे यत्ने कलौ मनौ वातपि—इति निघण्टुः। "याहि राजे वामवाँ इभे न (ऋ० सं० ३, ४, २३, १)"॥

(४६) अमीवा। 'अम रोगे (चु० प०)'। 'अमेरीवः'—इति ईवप्रत्ययः। टाप्। अमीवा रोगः हिंसिता वा। यद्वा, 'शेवयह्वजिह्वाग्रीवाप्वामीवा (उ० १, १५२)'—इति वन्प्रत्ययान्तो निपात्यते। "यस्ते गर्भममीवा (ऋ० सं० ८, ८, २०, २)"॥

(४७) दुरितम्। दुर्मतिप्रापकं कारणभूतम्। 'पापकं कर्म दुरितमुच्यते,। "अतिक्रामन्तो दुरितानि विश्वा (निरु० ६, १२)"। दुःशब्दोऽत्र दुर्गतौ वर्त्तते। 'इणश्विधृषिभ्यः क्तः' इति बाहुलकात् करणे क्तः। दुर्गतिर्गम्यते येन तत् दुरितम्॥

(४८) अप्वे। अपपूर्वात् वेञ्धातोरन्तर्णीतण्यर्थात् 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डप्रत्यये अपेत्यस्यान्त्यलोपश्छान्दसः। टाप्। अपवयति अपगमयति सुखं प्राणांश्चेत्यर्थः। 'शीवयह्वजिह्वाग्रीवाप्वामीवा (उ० १, १५२)'—इति वन्प्रत्यये वेञो लोपोऽपशब्दस्यान्तलोपश्च निपात्यते। व्याधिर्वा भयं वा अप्वा। "गृहाणाङ्गान्यप्वे परे हि (ऋ० सं० ८, ५, २३, ६)" ॥

(४९) अमतिः। अमाशब्द आत्मवचनः। आत्ममयी ततिर्मतिर्वा अमतिः। तन्यत इति ततिर्दीप्तिः। मतिरपि प्रकाशरूपत्वाद् दीप्तिः। आत्मप्रकाशमयी ततिर्मतिर्वा अमतिः दीप्तिरभिधेया। अमाततिशब्दस्य आत्ममतिशब्दस्य वा अमतिभावः। सवितृविशेषणत्वादात्मप्रकाशमयी ततिर्मतिर्वा

३ २उ ३ २ ३ १ २उ ३

अमतिरित्युपपद्यते। 'ऊर्ध्वा यस्या मतिर्भा अदिद्युतत् (सा० छ० आ० ५, २,३, ८)" ॥

(५०) श्रुष्टी। (५१) पुरन्धिः। अश्नोतेः 'हृकृरिकर्षिवर्पिमुविशासुव्यशिश्याभ्यः क्तिन्'। 'कृदिकारादक्तिनः (४, १, ४५, ग० वा०)'—इत्यत्र स्त्रियां विहितस्य ग्रहणात् विकल्पो ङीप्। श्रु अपि व्याप्तिरत्र श्रुष्टी'। पुरुशब्दो बहुनाम। धीरिति कर्मनाम, प्रज्ञानाम वा। बहुकर्मा बहुप्रज्ञो वा पुरुधिः सन् पुरन्धिः। पुराणि दारयतीति वा पुरन्धिः। 'वेञो डिम्—इति बाहुल्यकात् डिदिन्प्रत्ययः, दकारस्य धकारः, नकार उपजनः। भगो वरुण इन्द्रश्च पुरन्धिः। "श्रुष्टी भगं नासत्या पुरन्धिम् (ऋ० सं० ५, ४,

६, ४)"। शुष्टीशब्दः सुखस्याभिधायको धान्यशलाकायाश्च। "शुष्टीवरीभूत नास्मभ्यमापः (ऋ० सं० ७, ७, २६, १)"—इति सुखस्याभिधायकः। "शुष्टी सहरा असहाः"—इति धान्यशलाकायाः॥

(५२) रुशत्। 'रुच दीप्तौ (भू० आ०)'। 'संश्चत्तृम्पद्वेहत् (उ० २, ७६)'—इति अतिप्रत्ययो गुणाभावश्च चकारस्य शकारश्च निपात्यते। रोचते रुशत् वर्णविशेषो ज्वलनाविर्भूतप्रकाशरूपोऽभिधीयते। यद्वा, रुशेर्हिंसार्थात्तुदादेः रोचत्यर्थे वर्त्तमानाल्लट् शतरि। "समिद्धस्य रुशददर्शि पाजः (ऋ० सं०३, ८, १२, २)"॥

(५३) रिशादसः। 'रिश हिंसायाम्' तुदादिः। अन्तर्णीतण्यर्थः। लटः शतरि छान्दसो दीर्घः। अस्यतेर्विच्। रिशतां शत्रूणां वा असितारः क्षेप्तारः नाशयितार इत्यर्थः। "अस्ति हि वः सजात्यं रिशादसः (ऋ० सं० ६, २, ३२, ५)"॥

(५४) सुदत्रः। सुपूर्वात् ददातेः प्त्रन्, प्त्रनि बाहुलकात् ह्रस्वत्वम्। सुदानः। "त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायः (ऋ० सं० ५, ३, २७, २)"॥

(५५) सुविदत्रः। सुपूर्वात् 'विद ज्ञाने (अदा० प०)—इत्यस्मात् 'अमियजिवधिपतिकलित्तिभ्योऽत्रन्'—इति बाहुलकादत्रन्प्रत्ययो गुणाभावश्च। सुविद्यत इत्यर्थः। "आग्नेयाभिः सुविदत्रे भिरर्वाङ् (ऋ० सं० ७, ६, १८, ३)"॥

(५६) आनुषक्। अनुपूर्वात् 'षञ्ज सङ्गे (भू० प०)'—इत्यस्मात् क्विपि 'अनिदिताम् (६, ४, २४)'—इति नलोपः,

अनोरकारस्य दीर्घश्छान्दसः। अनुपक्तमुपर्युपरि लग्नमित्यर्थः। "स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् (ऋ० सं० ६, ३, ४२, २)" ॥

(५७) तुर्वणिः। तूर्णशब्दोपपदात् वनोतेः 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'—इतीन्। तूर्णं वनोति सम्भजते। तूर्णवनिः। "स तुर्वणिर्महाँ अरेणु पौंस्ये (ऋ० सं० १, ४, २१, ३)" ॥

(५८) गिर्वणाः। गीःशब्दोपपदात् वनोतेर्ण्यन्तादसुनि वनेर्घटादित्वेन मित्संज्ञकत्वात् ह्रस्वत्वम्। गीर्वण इति प्राप्ते दीर्घाभावश्छान्दसः। निघण्टुकारपठितगीर्वाणशब्देन समानार्थः। अतो द्वैधोऽभिधेयः। स्तोतुरभिमतप्रदानादात्मानं स्तोतृभिः सम्भाजयति। भाष्ये तु (निरु० ६, १४) 'गीर्भिरेनं वनयन्ति'—इत्यर्थनिर्वचनमिति स्कन्दस्वामी। श्रीनिवासस्तु स्वार्थे णिच्। गीर्भिरेनं वनयन्ति। "जुष्टं गिर्वणसे बृहत् (ऋ० सं० ६, ६, १२, ७)" ॥

(५९) असूर्ते सूर्ते। असुशब्दपूर्वस्य सुशब्दपूर्वस्य च 'ईर गतौ (अदा० आ०)'—इत्यस्य निष्ठायां छान्दसत्वादिडभावे ईकारस्य पूर्वसवर्णे पूर्वत्र दीर्घश्छान्दसत्वात्। सप्तम्येकवचनम्। असुः प्राणः। प्राणश्च वातः। वातसमीरिता मन्दादयो हि सेव्याः। सूर्ते इति रजसीत्यस्य विशेषणम्। सुसमीरिते सुष्ठुः प्रेरिते विस्तीर्णे रजसि अन्तरिक्षलोकेऽपीत्यर्थः। असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते (ऋ० सं० ३, १, ७, ४)" ॥

(६०) अम्यक्। माशब्दद्वितीयैकवचन उपपदे अञ्चतेः क्विप् नकारलोपे माशब्दस्य ड्वदौ दृषृभ्योऽकारोपजननेन च माम्यम्।

आयुधाख्या शक्तिरभिधेया क्षिप्ता सती मां प्रति इव गता। यद्वा, अभिपूर्वादञ्चतेः क्विनि अभ्यक् सती भकारस्य मकारापत्त्या अम्यक्। शत्रून् प्रत्यभिगता। यद्वा, अमाशब्दः सहार्थे निपातः। अमाक् सती अम्यक् सहभूता। "अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे (ऋ० सं० २, ४, ८, ३)"॥

(६१) यादृश्मिन्। यादृशे इत्यर्थः "यादृश्मिन् धायितमपस्ययाविदत् (ऋ० सं० ४, २, २४, ३)"॥

(६२) जारयायि। उस्रविशेषणम्। तेन व्यत्ययेन नपुंसकत्वावगमः। ततश्चेदं नाख्यातम्। जार इत्यस्य वा धातोरेवभूतस्याख्यातस्यासम्भवात्। निघातप्रसङ्गश्च। अन्ये तु जनेरपत्याभिगतमाख्यातमेतदिति गम्यते। ततश्च जारयायि अजायतेत्यवगमः इत्युक्त्वा मन्त्रव्याख्याने निघातप्रसङ्गस्य भिन्नवाक्यत्वेन वाक्यादित्वादुदात्तप्रतिपादनेन परिहृतत्वात् अजायतेत्येव स्कन्दस्वामिनोऽप्यवगमः। उस्रविशेषणवादिनां जारश्चासौ यायीति जारयायि। गवां यौवनस्य जरयितृत्वाज्जारत्वम् गवामभिगमनाद् यायित्वम्। "उस्रः पितेव जारयायि यज्ञैः (ऋ० सं० ४, ५, १४, ४)"॥

(६३) अग्रिया। अग्रशब्दोपपदात् यातेः 'गेहेः कः (३, १, १४४)'—इति बाहुलकात् कः। आकारस्येकारः। तृतीयैकवचनस्याकारः। यद्वा, अग्रमर्हति 'छन्दसि च (५, १, ६७)' —इति यप्रत्यये इकार उपजनः। अर्हार्थो वा घनि घस्य इयादेशो विभक्तेराकारः। अग्रार्हा। यद्वा, अग्रा एवाग्रिया।

अन्नभूताम्राया। "विश्वे अग्नियोत वाजाः (ऋ० सं० ३, ७, २, ३)"॥

(६४) चनः। (६५) पचता। पचतेर्ल्युट् 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति कर्मणि ल्युटि पच्यत इति पचनम्। पचनशब्दस्य पकारलोपेनान्ते सकारोपजननेन चनः। अन्नम्। यद्वा, चचेरसुनि बाहुलकात् नोऽन्तादेशः। पचतेः 'मृडशिय-जिपचिवच्यमि' 'भूतेऽपि दृश्यन्ते (३, ३, २)'—इति वचनात् भूते द्रष्टव्यः। विभक्तेराकारः। पक्वः पक्वौ पक्वा इति वाक्यगमः। पदान्तस्य बहुलसमर्थ्याद् विशेषनिश्चयः। "चनो दधिष्व पचतोत सोमम् (ऋ० सं० ८, ६, २१, ३)"—इति बहुवचनस्य। "तम्मेदस्तः प्रति पचताग्रमीणाम् (निरु० ६, १६)"—इति द्विवचनस्य। "पुरोला अग्ने पचतः (ऋ० सं० ३, १, २१, २)"—इत्येकवचनस्य॥

(६६) शुरुधः। शुचं रुंधति' तापं वा रुधत्यः। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति क्विप्। शुग्रुधः शुरुधः। "ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः (ऋ० सं० ३, ६, १०, २)"॥

(६७) अमितः। 'माङ् माने (अदा० प०)'। निष्ठा क्तः। 'द्यतिस्यतिमास्थाम् (७, ४, ४०)"—इति इत्वम्। मितः परिच्छिन्नः। न मितः अमितः सदामितः अपरिमाण इत्यर्थः, अपरिगणितकालो वा। यद्वा, मिनोतिर्वधकर्मणः 'इणसिभ्-जिदीङुष्यविभ्यो नक् (उ० ३, २)'—इति बाहुलकात्मक्। नञ्समासः। अमितः अहिंसितः केनचित्। यद्वा, स एव

प्रत्ययः। अमितोऽभ्यमितो वा सन् अमिनः। "उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः (ऋ० सं० ४, ६, ७, १)"॥

(६८) जञ्झती। जञ्झतीरापो भवन्ति शब्दकारिण्य इति। जस्। पूर्वसवर्णः। "मरुतो जञ्झतीरिव (ऋ० सं० ४, ३, ६, ६)"॥

(६९) अप्रतिष्कुतः। 'स्कुञ् आप्रवणे (स्वा० उ०)'। आप्रवणमागमनम्। स्कुयतेर्गत्यर्थाद्वा निष्ठा। अपोपदेशत्वाद् व्यत्ययेन षत्वम्। अन्येनाप्रतिगतः अप्रतिष्कुतः। युद्धे अन्येनाप्रतिहतपूर्व इत्यर्थः अप्रतिस्खलितपूर्वो वा। अत्र पक्षे स्खलितशब्दस्य षकुतभावः। "असम्यमप्रतिष्कुतः (ऋ० सं० १, १, १४, १)"॥

(७०) शाशदानः। 'शद् शातने (भू० प०)'। अस्माद् यङ्लुगन्ताद् व्यत्ययेन शानच्। पुतः पुनरसुरांस्तत्पुराणि वा शातयन्तः "प्रस्त्वां मतिमतिरच्छाशदानः (ऋ० सं० १, ३, ३, ३)"॥

(७१) सृप्रः। शिप्रे इत्यत्र (३९२ पृ०) सृप्रशब्दो व्याख्यातः। "सृप्रकरस्नमतये (ऋ० सं० ६, ३, २, ५)"। सृप्रौ करस्नौ बाहू यस्य होमेन तर्पणाय पालनाय वात्मनः सर्पिस्तैलमपि सृप्रम् सर्पणात्। निगमः पर्येष्यः॥

(७२) सुशिप्रः। शिप्रे व्याख्याते (३९२ पृ०)। शोभनत्वविशिष्टत्वमत्र विशेषः। सुहनुः सुनासो वा सुशिप्रः। "वाजे सुशिप्र गोमति (ऋ० सं० ६, २, २, ३)"। कचिच्छिप्रशब्देन शिरस्त्राणमुच्यते। शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीरिति सुशिप्रः सुशिरस्त्राण इत्यर्थः सम्भवति॥

(७३) रंस। रमतेर्विच्। सप्तमीबहुवचनम्। रमणीयेष्वित्यर्थः। रमणीयशब्दस्य रम्भावः। "स त्रित्रेण चिकिते रंसु भासा (ऋ० सं० २, ४ २४, ५)" ॥

(७४) द्विबर्हाः। द्विशब्दे सप्तम्यन्ते उपपदे 'वृहु वृद्धौ (भू० ७८)'—इत्यस्मादसुन्। द्वयोः स्थानयोर्वीर्य्येण परिवृढः इन्द्रः। न ह्यन्तरिक्षे वीर्य्येणापरिवृढ शक्नोति वर्षितुं नापि दिवि आदित्याद्रसान् परिगृहीतुं दिवः सर्वदेवतासाधारणत्वात् देवराजत्वेन च प्रसिद्धिरितिहासेषु द्विबर्हा उच्यते। "उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः (ऋ० सं० ४, ६, ७, १)" ॥

(७५) अक्रः। आङ्पूर्वात् क्रमेः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डः, आङो ह्रस्वत्वम्। आक्रामति सर्वमित्यक्रमाकाशमाक्रम्यते वा। "अक्रो न बभ्रिः समिथे महीनाम् (ऋ० सं० २, ८, १५, २)" ॥

(७६) उराणः। उरु कुर्वाण इति प्राप्ते कवर्णादिलोपादिना वाक्यार्थः। उराण इति पदवचनम्। "दूत ईयसे प्रदिव उराणः (ऋ० सं० ३, ५, ७, ३)"। स्वल्पमपि हविः उरु बहु कुर्वाण'। तथा च श्रुतिः। "यद्वुवै देवो जोषत हविस्तत हिमोतुं यद्वंते अथोऽयमपरिमितः" – इति ॥

(७७) स्त्रियानाम्। स्त्यायतेः सङ्घातार्थात् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति विच्। दृशिग्रहणस्य प्रयोगानुसरणार्थत्वान्निरुपपदादपि भवति। इकार उपजनः। षष्ठीबहुवचनम्। हिममात्रेण संहता आप उच्यन्ते। "वृषा सिन्धू

नां वृषभः स्तियानाम् (ऋ० सं० ४, ७, २०, १)" ॥

(७८) स्तिपाः। स्तियाः पातीति विच्। स्तियापाः सन् स्तिपाः। यद्वा, उपस्थितपाः सन् अनेकवर्णलोपादिना स्तिपाः। अग्निरुच्यते। स ह्याहुतिद्वारेण पालयिता, अङ्गभावोपगमनेन चोपस्थितानां कर्त्तव्यतया ज्योतिष्टोमादीनाम्। "स नः स्तिपा उत भवा तनूपाः (ऋ० सं० ८, २, १६, ४)" ॥

(७९) जबारु। जवमद्भिर्जरमद्भिर्गरद्भिर्वा रश्मिभिर्यदारोहति तदादित्यमण्डलमुच्यते। जवमजुजरमद्गारमच्छब्दानां जबमावः, आङ्पूर्वाद्रुहेश्च डुप्रत्ययो निपात्यते। "अग्रे रुप आरुपितं जबारु (ऋ० सं० ३, ५, २, २)" ॥

(८०) जरूथम्। गृणातेः स्तुतिकर्मणो जरतेर्वार्चतिकर्मणः जॄ वृञ्भ्यो रूथन्'—इति भावे करणे वा रूथन्। बाहुलकाद् गकारस्य जकारः। स्तवनं स्तूयतेऽनेनेति वा जरूथं स्तोत्रम्। "जरूथं हन्यक्षि राये पुरन्धिम् (ऋ० सं० ५, २, १२, ६)" ॥

(८१) कुलिशः। वज्रनामसु व्याख्यातम् (२६७ पृ०)। स निगमः (ऋ० सं १, २, ३६, ५) ॥

(८२) तुञ्जः। तुञ्जतेर्दानकर्मणो भावे घञ्। दानमित्यर्थः "तुञ्जे तुञ्जे य उत्तरे (ऋ० सं० १, १, १४, २)"। वज्रोऽपि तुञ्ज स्तवैव व्याख्यातः ॥

(८३) बर्हणा। वृहेर्वृद्ध्यर्थस्य 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ११३)'—इति भूते कर्त्तरि ल्युट्। परिवृढः। हिंसाकर्मणो

धा भावे। हिंसा वर्हणा। तृतीयैकवचनस्थाने डादेशः। "वृदद्रूच्या असुरो वर्हणा कृतः (ऋ० सं० १, ४, १७, ३)"॥

(८४) ततनुष्टिम्। 'तनिमृङ्भ्यां किच्च (उ० ३, ८५)'—इति तनोतेः तन्प्रत्ययः, नुदेर्निष्ठायां नुन्नं नुष्टिभावः। यद्वा, ततशब्दस्य ततन्भावः, वशेर्वाः वाहुलकात् कर्तरि क्तिचि सम्प्रसारणे उष्टिः। तद्धर्मसन्तानादग्निहोत्रादेः कर्मणो नुन्नः प्रेरितः ततनं भोगसन्तानं वष्टि ततनुष्टिः, नलोपाभावः। ततनुष्टिम्। "अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति (ऋ० सं० ४, २, ३, ३)"॥

(८५) इलीविशः। इलाशब्द उवाशब्दपर्यायः। इला अन्नम्, अन्नाश्रहेतुभूते उदके वर्त्तते। विले दरे शेते इति 'अधिकरणे शेतेः (३, २, १५)'—इत्यच्। इलाविले शयो यस्य। निपातश्छान्दसः। मेघ उच्यते। इलाविलशयः सन् इलीविशः। "न्याविध्यदिलीविशस्य दृळ्हा (ऋ० सं० १, ३, ३, २)"॥

(८६) कियेधाः। कियच्छब्दे क्रममाणशब्दे वोपपदे दधातेर्विच्। कियदर्थं विज्ञायमानपरिमाणं स्ववलं धारयति, क्रममाणं वाभिमुखं परवलं धारयति निरुणद्धीति। कियद्धा क्रममाणधा वा सन् कियेधाः। इन्द्रविशेषः। "वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः (ऋ० स० १, ४, २६, २)"॥

(८७) भृमिः। 'भ्रमेः सम्प्रसारणञ्च (उ० ४, ११७)'—इतीन्प्रत्ययः। अग्निरुच्यते। भ्रमिता। स्वयं त्रिष्वपि लोकेष्वप्रतिहतगतिरित्यर्थः। अन्तर्णीतण्यर्थो वा भ्रमिः। भ्रामयिता। "भृमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम् (ऋ० सं० १, २, ३५, १)"॥

(८८) विप्पितः। विप्राप्तशब्दस्य विप्पितभावः। यद्वा, विपेर्व्याप्त्यर्थात् क्तः, इकारपकारावुपजनौ। विस्तीर्ण इत्यर्थः। "पारं नो अस्य विप्पितस्य पर्षन् (ऋ० सं० ५, ५, २, १)"॥

(८९) तुरीपम्। तूर्णं व्याप्तुं शीलमस्य णिनिः। तुर्णापि सत् तुरीपम्। उदकमभिधेयम्। "तन्न स्तुरीपमद्भुतम् (ऋ० सं० २, २, ११, ४)"॥

(९०) रास्पिनः। रपतेर्वा रसतेर्वा कर्मणि भावे वा घञ्। रापो रासो वा शब्दा यस्य तद्वापि रासि वा सत् सकारपकारोपजनेन रास्पिशब्दो बहूदकं स्तोत्रं चोच्यते। तदस्यास्तीत्यर्थे आदित्वादन् प्रकृतिभावश्च द्रष्टव्यः। दण्डिमती शालेति यथा। अतश्च शब्दवदुदकं तद्वान्मेघोऽभिधेयः। उच्चार्यमाणेन स्तोत्रेण स्तोता वा। "प्रमातरा रास्पिनस्यायोः (ऋ० सं० २, १, १, ४)"॥

(९१) ऋञ्जतिः। धातुनिर्देशात् 'ऋजी भर्जने' भूवादिरत्र प्रसाधनकर्मविषयस्य समीकरणं प्रसाधनमात्मसात् करणं तदस्यैत्यर्थः। "यजिष्ठमृञ्जसे गिरा (ऋ० सं० ३, ५, ८, १)"॥

(९२) ऋजुनीती। "ऋजुनीती नो वरुणः (ऋ० सं० १, ६, २७, १)"॥

(९३) प्रतद्वसू। प्राप्तवसुनौ। पकारलोपहस्वत्वतकारोपजनैः प्रतद्वसू। हरी विशेष्यौ। "हरी इन्द्र प्रतद्वसू अभिस्वर (ऋ० सं० ६, १, १२, २)"॥

(९४) हिनोत। 'हि गतौ (स्वा० प०)'। लोटि थस्य तः 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—इत्यार्द्धधातुकत्वात् ङित्या-

भावे गुणः प्रहिणुत्यर्थः। "हिनोता नो अध्वरं देवयज्या (ऋ० सं० ७, ७, २६, १)"॥

(९५) चोष्कूयमाणः। (९६) चोष्कूयते। 'स्कुञ् आप्रवणे (स्वा० उ०)' इह दानार्थः, कचिद् व्युदसनार्थश्च। यङ्पूर्वत्र लट् शानच्, उत्तरत्र व्यत्ययेन पत्वम्। "चोष्कूयमाण इन्द्र भूरिवामम् (ऋ० सं० १, ३, १, ३)। अत्यर्थं ददित्यर्थः। "चोष्कूयते विश इन्द्रो मनुष्यान् (ऋ० सं० ४, ७, ३३, १)"। अत्यर्थं व्युदस्यति॥

(९७) सुमत्। स्वयमित्यर्थे वर्त्तमानो निपातः। "उपप्रागात् सुमन्मे धायि मन्म (ऋ० सं० २, ३, ८, २)"॥

(९८) दिविष्टिषु। दिविशब्दोपपदात् इषेर्गत्यर्थादिच्छार्थाद्वा करणे क्तिन्। द्यौर्गम्यते प्रार्थ्यते वा याभिस्ताः। "कुरुङ्गस्य दिविष्टिषु (ऋ० सं० ५, ७, ३२, ४)"॥

(९९) दूतः। जवतेर्द्रवतेर्वारयतेर्वा 'दुतनिभ्याम् (उ० ३, ८३, ८५)'—इति बाहुलकात् क्तप्रत्ययो धातूनां दूभावश्च। गच्छति हि सः, द्रवते वा शैघ्र्यात्, वारयति हि स्वसामर्थ्यादिभिरपरम्। "स्तोमो दूतोहु वज्ररा (ऋ० सं० ६, २, २६, १)"॥

(१००) जिन्वति। जिविः प्रीणात्यर्थः भ्वादिः इदित्वान्नुम्। "भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति (ऋ० सं० २, ३, २३, ५)"॥

(१०१) अमत्रः। अमात्रशब्दस्य ह्रस्वः। मात्रा परिमाणमपरिमाणोऽस्यमितो वा अहिंसितः। मितशब्दस्य मत्रभावः। महाँ अमत्रो वृजने विरप्शी (ऋ० सं० ३, २, १६, ४)"॥

(१०२) ऋचीषमः। 'ऋच स्तुतौ (तु० प०)'। इप्रत्ययः। 'कृदिकारात् (४, १, ४५ ग० वा०)'—इति ङीष्। ऋची स्तुतिः। तया समः। अधिकगुणाध्यारोपेणापि कृता स्तुतिः नातिरिच्यत इत्यर्थः। "स्तवे वज्र्यृचीषमः (ऋ० सं० ७, ७, ६, २)"॥

(१०३) अनर्शरातिम्। अर्शशब्दोऽश्लीलवाची। रातेः क्तिनि रातिर्दानम्। अश्लीलविषया रातिर्दानं यस्य सोऽर्शरातिः पापकदानस्तद्विपरीतोऽनर्शरातिः। उत्कृष्टस्य दातेत्यर्थः। "अनर्शरातिं वसुदामुपस्तुहि (ऋ० सं० ६, ७, ३, ४)"॥

(१०४) अनर्वा। अर्तेः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति वनिप्। नञ्समासः। 'अर्वणस्त्रसावनञः (६, ४, १२७)—इति शतृवद्भावाभावः। अप्रत्यृतः अप्रतिगतोऽन्यस्मिन् अन्यमनाश्रितः स्वतन्त्र इत्यर्थः। "अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वम् (ऋ० सं० २, ५, १२, १)"। अनर्वाणमप्रतिगतमन्यं प्रत्याश्रितं तथा अपराश्रितमित्यर्थः॥

(१०५) असामि। असामीत्यनवगतम्। अग्रे च सामिशब्द एवानवगतः। यत आह—'सामि प्रतिषिद्धम् असामि (निरु० ६, २३)'—इति। सामि कस्मात्। स्यतेः समाप्त्यर्थस्येति केचित्। तेन सामि समाप्तं चोच्यते। तस्य नञ्प्रतिषेधः। ततश्च असामि असमाप्तमित्यर्थः। अथवा न सामीति। किन्तर्हि। असुसमाप्तमिति। पाठान्तरेणार्थमाह उदाहरणम् (निरु० ६, २३)—"असाम्योजो बिभृथा सुदानवः (ऋ० सं० १,

३, १६, ५)"। असामि असमाप्तमनन्तमित्यर्थः। सुष्ठु वा असमास' पूर्वेयदित्यर्थः। 'स्यतेः कित्'—इति बाहुलकात् मिन्प्रत्ययः। साम्यर्थधर्मसामिसमग्रमित्यस्य भाष्ये (निरु० ६, २३) द्रष्टव्यम्॥

(१०६) गल्दया। गल्दाशब्दो गालनपर्यायः। गल्दया गालनेन क्षारणेन प्रदानेन पूरणेन तृप्तेनेत्यर्थः। "मा त्वा सोमस्य गल्दया (ऋ० सं० ५, ७, १३, ५)"॥

(१०७) जल्हवः। ज्वलतेः क्विपि ज्वलनं ज्वल्, ज्वल्नं जहातीति 'मृगय्वादयश्च (उ० १, २६)'—इति कुप्रत्ययः पूर्वपदस्य जल्भावश्च निपात्यते। ज्वलनेनाग्निना हीना इत्यर्थः। "नारायासो न जल्हवः (ऋ० सं० ६, ४, ३७, ६)"॥

(१०८) बकुरः। भास्करशब्दस्य भासमानद्रविणशब्दस्य वा बकुरभावः। "अभि दस्युं बकुरेणाधमन्त (ऋ० सं० १, ८, १७, १)"। बकुरेण भास्करेण दीप्तेन भयङ्करेण वा भासमानगमनेन वा सामर्थ्यात् स्वेनायुधेन ज्योतिषा वा॥

(१०९) बेकनाटान्। बेक इति द्विशब्दस्यार्थे बहुशो दृष्टः। एकं कार्षापणमापणिकाय प्रयच्छन् द्वौ मह्यं प्रदातव्याविस्त्येवमभिनायनं दर्शयन्ति। ततो द्विशब्दादेकशब्दाद्यत्ययतेश्च बेकनाटाः। एतदेतेनाटाः द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनो वा द्विगुणं कामयन्ते इति वेति। द्वयेकयोर्नाटा नटनं तद्वन्तो बेकनाटाः। मत्वर्थीयस्य लुक्। नटेर्घञि नाटः। द्वयेकशब्दस्य बेकभावः। वार्द्धुषिका अभिधेयाः। "इन्द्रो विश्वान् बेकनाटाँ अहर्दृशः (ऋ० सं० ६, ४, ४६, ५)"॥

(११०) अभिधेतन। धावतेर्लोण्मध्यमपुरुषबहुवचनस्य 'तप्तनप्तनथनाश्च (७, १, ४५)'—इति तनबादेशः। धावशब्दस्य धेभावः। अभिधावत। "जीवाओ अभिधेतन (ऋ० सं० ६, ४, ५१, ५)"॥

(१११) अंहुरः। आङ्पूर्वाद्धन्तेः मृगय्वादित्वात् (उ० १, ३६) कुप्रत्ययः। आङो ह्रस्वत्वं रुगागमश्च निपात्यते। आ हन्ति श्रेयसो विनश्यन्तीति अंहः पापं, रो मत्वर्थीयः अंहुरः। अंहस्वान्। "तासामेकामिदभ्यंहुरीगात् (ऋ० सं० ७, ५, ३३, ६)"॥

(११२) वतः। सत्ववाची प्रथमान्तः। वलादतीत इति वाक्यस्यार्थे पदम्। वलशब्दादततेर्निष्ठायां च वलातीतः सन् वतः दुर्बल इत्यर्थः। वत निपातोऽसत्ववचनोऽप्यव्ययम्, खेदो दुःखमानसः, अनुकम्पा दया, तयोर्वर्त्तते। "वतो वतासि यम नैव ते मनः (ऋ० सं० ७, ६, ८, ३)"॥

(११३) वाताप्यम्। आङ्पूर्वादाप्यायतेरन्तर्णीतण्यर्थात् 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इत्यपिशब्दस्य सर्वोपाधिव्यभिचारार्थत्वात् कर्मणि डः। उदकं वृष्टिलक्षणमभिधेयम्। वातः पुरोवात एव। तत्वृष्ट्युदकमाप्याययति वातेनाप्याय्यत इत्यर्थः। अथवा वातो यदाप्याययति कर्मोपपदात् कर्त्तरि प्रत्ययः। वातमाप्याययति वाताप्यम्। "पुनानो वाताप्यं विश्वश्चन्द्रम् (ऋ० सं० ७, ४, ३, ५)"॥

(११४) चाकन्। चायतेः सर्त्तिरयाल्डः शतरि यकारस्य ककारो धातुलकात्। अनेकार्थत्वादिच्छार्थोऽपि। चायन्

कामयमानो वा। "वने न वायो न्यधायि चाकन् (ऋ० सं० ७, ७, २२, १)" ॥ शाकल्यपक्षे चाकन्नित्याख्यातम्। तत्र लटि फिर्यस्य कत्वं 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (६, ४, ७५)'। कामयते इत्यर्थः ॥

(११५) रथर्यति। रथमात्मन इच्छतीति क्यचि रथीयर्तीति प्राप्ते रेफ उपजनो व्यवधानादीत्वाभावः। "प च देवो रथर्यति (ऋ० सं० ६, ७, २०, ५)" ॥

(११६) असक्राम्। सम्पर्वात् समानपूर्वाद्वा क्रमेः 'जनसनक्रमगमो विट् (३, २, ६७)'। छन्दस्युपसर्गेऽपि इति हि तत्रानुवर्तते। 'विड्वनोरनुनासिकः स्यात् (६, ४, ४१)'। आतो लोपश्छान्दसः। समानस्य छन्दस्यमूर्द्धः (६, ३, ४)'—इति समानशब्दस्य सभावः। न सक्रा असक्रा तां यावज्जीवमनपायिनीमस्मत्सन्ततेरप्राप्तपूर्वामित्यर्थः। "धेनुं न इषं पिन्वतमसक्राम् (ऋ० सं० ५, १, ४, ३)" ॥

(११७) आधवः। 'धूञ् कम्पने (स्वा० प०)'। पचाद्यच्। अन्तर्णीतण्यर्थोऽत्र धूञ्। आधावकः। कम्पयितेत्यर्थः। "विप्राणाभ्राधवम् (ऋ० सं० ७,७, १३, ४)" ॥

(११८) अनवब्रवः। ब्रूञः। 'ऋदोरप् (३, ३, ५७)'। 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—इत्यपः सार्वधातुकत्वाद् वच्यादेशो न भवति। ब्रवः वचनम्। अनवक्षितवचनः। 'प्रादिभ्यो धातुजस्य (२, ४, ७१, वा०)'—इति समासादिः। अप्रतिहतशासन इत्यर्थः। "विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवः (ऋ० सं० ८, ३, १६, ५)" ॥

(११९) सदान्वे। सदानोनुवशब्दात् सम्बुद्धौ नोनुवशब्दस्य न्वभावः। दुर्भिक्षाधिदेवता अलक्ष्मी चाभिप्रेया। सदाकरणनलक्षणशब्दकारिणीत्यर्थः। "गिरिङ्गच्छ सदान्वे (ऋ० सं० ८, ८, १३, १)" ॥

(१२०) शिरिम्बिठः। "शिरिम्बिठस्य सत्वभिः (ऋ० सं० ८, ८, १३, १)" ॥

(१२१) पराशरः। परापूर्वस्य शृणातेः विशरणार्थस्य हिंसार्थस्य वा 'ऋदोरप् (३, ३, ५७)'—इति रूपम्। पराशीर्णः पराशरः ऋषिः। पराशीर्णस्य स्थविरस्य लघिष्ठस्य नप्ता चिरसृते शक्तौ जात इत्यर्थः। "पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः (ऋ० सं० ५, २, २८, १)"। रक्षसां परा शातयिता पराशर इन्द्रः। "इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरः (ऋ० सं० ५, ७, ६, १)" ॥

(१२२) क्रिविर्दती। 'कृविघृविच्छविस्थविकिकीदिवि (उ० ४, ५६)'—इति विन्प्रत्ययो रिदादेशश्च निपात्यते। ददातेः शतरि 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७३)'—इति शपो लुक्। 'उगितश्च (४, १, ६)'—इति ङीप्। क्रिविर्विकर्तनस्य दती। रेफ उपजनः। शातग्रामायुधविशेषे वर्त्तते। "यत्रा वो दिद्युद्रदति क्रिविर्दती (ऋ० सं० २, ४, २, १)" ॥

(१२३) करूलती। कृत्तदन्तशब्दस्य करूलतीभावः। 'सुपां सुलुक् (७, १, ३९)'—इति सोर्लुक्। स्त्रीलिङ्गप्रतिरूपकमेतत्। 'तत्कः (निरु० ६, २१)'—इति पुंलिङ्गनिर्देशात् पुरोच्यत इति निश्चयः। भग इति पूर्वः पक्षः। तस्मात् 'अदन्तकः पूषा

(शत० ब्रा० ८, ७३)'—इति च श्रुतिः। "धामं देवः करूलती (ऋ० सं० ३, ६, २३, ४)" ॥

(१२४) दनः। दानमानस इत्यस्य दनस्भावः। दानमानस इत्यर्थः। "दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः (ऋ० सं० २, ४, १६, २)" ॥

(१२५) शरारुः। समुपसर्गार्थविशिष्टात् शृणातेः 'शृवन्द्योरारुः (३, २, १७३)'—इति ताच्छील्यादिषु विहित आरुप्रत्ययेन इच्छायां भवति। "शरारुरभिमन्यते (ऋ० सं० ८, ४, २, ४)"। संशिशरिषुः संशयिषुर्वा दीर्घनिद्रया हि मन्यते दुष्टेनातिशयेन हि भवति ॥

(१२६) इदंयुः। इत्यनवगतम्। क्यचि मान्ताव्ययप्रतिषेधात्। 'इदं कामयमान उच्यते (निरु० ६, ३१)'। कर्म इदं सामान्येन प्रदर्शितम्। तथाहि लक्षितं धनादि तद् य इच्छति स इदंयुः। शंयुः किंयुः विप्रयुः इत्याद्यवगतानवगतस्वजन्तमात्रोपलक्षणार्थं निगमेषु पठितम्, न विशेषार्थमिति निरुक्तकाराभिप्रायः। अतएव च सामान्यविशेषयोरुदाहरणमिदम्। तेषाञ्च "वसूयवो वसुकामाः"—इत्यादि बहुधागतत्वाद् विशेषेण नेह किञ्चित् भाष्यकारेणोदाजहार। अनेकार्थतां दर्शयन्नाह—'अथापि तद्वदर्थे भाष्यते (निरु० ६, ३१)' प्रयुज्यत इत्यर्थः। तद्वदिति मतुप्प्रकृतिः सामान्येन निर्दिश्यते। तेन तद्वदर्थे मत्वर्थे इत्यर्थः। "अध्वर्युर्वा व्यूरयवंसयुरिन्द्रः (ऋ० सं० १, ४, ११, ४)" ॥

(१२७) कीकटेषु। मन्त्रे समाम्नात इति तथैव निगमेषु पठ्यते। किं कृताः। किं क्रिया वा सन्तः कीकटाः किं कृताः

किमर्थमुत्पादिताः असदाचाराः। अथवा यागदानादिभिः क्रियाभिः कृताभिः पिबत खादतेत्येवमभिप्राया नेह येषां ते किंक्रियाः। "किन्ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः (ऋ० सं० ३, ३, २१, ४)"। कीकटनाम्न्यनार्यनिवासे देशे। कृपणा वा कीकटाः॥

(१२८) बुन्दः। (१२९) वृन्दम्। भिन्द इति वा भयद इति वा भासमानो द्रवतीति वाक्यार्थपदवचनं विदारणभयदानभासमानद्रवणलक्षणानामर्थेषु सम्भवात् पदलक्षणवर्णसामान्याच्चेदमुक्तम्। 'वृङ् सम्भक्तौ (स्वा० आ०)'। 'भूवृतुकुम्यो दनूच्'—इति दनूच्प्रत्ययः। बवयोरभेदः। बाहुलकात् लुगभावश्च। अनेकार्थत्वात् पूर्वोक्तार्थवृत्तित्वं बोद्धव्यम्। बुन्दो वज्रम्। "साधुर्बुन्दो हिरण्ययः (ऋ० सं० ६, ५, ३०, ६)"। "इन्द्रो बुन्दं स्वाततम् (ऋ० सं० ६, ५, ३०, १)"॥

वृन्देषु शत्रुविदारणभयदारणभयदानभासमानद्रवणरूपा अर्थाः सम्भवन्ति। प्रसिद्धत्वान्निगमो न प्रदर्शितः॥

(१३०) किः। करोतेः 'वेञो वयिः'—इति बाहुलकात् इन्प्रत्ययः। कर्त्तेत्यर्थः। "अयं यो होता किरु स यमस्य (ऋ० सं० ८, ६, १२, ३)"॥

(१३१) उल्वम्। उर्णोतेर्वृणोतेर्वा। 'अतिशलोरित उश्च'—इति विधियमानो वप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति, ऋतेरुल्लापश्च। गर्भस्याच्छादनमभिधेयम्। "महत्तदुल्वंस्थविरं तदासीत् (ऋ० सं० ८, १, १०, १)"। जरायोरन्तर्गर्भवेष्टनं श्रुतम्॥

(१३२) अर्वीसम्। पृथ्वीयमित्येयम्। अपगतमासमित्येवमाद्याः (निरु० ६, ३५) शब्दसमाधय उत्पद्यन्ते। धात्वन्यत्वकृतो विशेषः। अपगतापचितापहतान्तर्हितशब्दानामन्यतमत् पूर्वपदं मासशब्द उत्तरपदम्। पूर्वस्य ऋभावः, भकारस्य यकार आकारस्य ईकारश्च॥ "अर्वीसे अत्रिमश्विनावनीतम् (ऋ० सं० १, ८, ६, ३)"॥

अध्यायपरिसमाप्तिकं द्विर्वचनम्॥

इति देवराजयज्वरचिते नैगमकाण्डनिर्वचनं समाप्तम्॥

समाप्तश्च चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः।



अथ देवताकाण्डनिर्वचनं व्याख्यायते—

अग्निः (१)। जातवेदाः (२)। वैश्वानरः (३) इति त्रीणि पदानि॥ १॥

(१) अग्निः। अग्राद्युपपदात् नयतेः 'सत्सूद्विष (३, २, ६१)' इत्यादिना क्विप्। पृषोदरादित्वात् अग्निः। यद्वा, 'वेञो यविः'—इति बाहुलकादिप्रत्ययोऽग्रशब्दस्य रेफाकारयोर्लोपश्च।

अग्रणीः। मुख्यत्वञ्च 'अग्निर्हि देवानां सेनानीः'—इति श्रुतेः। अग्रं प्रथमं यज्ञेषु कर्त्तव्येषु तादर्थ्येन प्रणीयते। अङ्गोपपदाद्वा समर्थविशिष्टात् नयतेः पूर्ववदिकारलोपश्च। अङ्गं शरीरं यज्ञस्य, ततः सन्नममानः स्वयमेव प्रह्वीभवन् हविषां पाककरणत्वेन साधनभावं प्रतिपाद्यमानो नयति। नञ्पूर्वात् क्नोपयतेः स्नेहनार्थात् किन्प्रत्यये ककारनकारव्यतिरिक्तं लुप्यते, ककारस्य गकारापत्तिश्च। नञ्विशिष्टेन स्नेहनेन च तद्विपरीतं विरूक्षणञ्च लक्ष्यते, विरूक्षयतीत्यर्थः, दग्धव्यस्य पथ्यादेः शोषणात् विरूक्षण इत्यर्थः। यद्वा, एतेरयनमित्यादौ दर्शनादकारः। अञ्जेर्जकारस्य दहेर्हकारस्य च निष्ठायां गकारापत्तिर्द्रष्टव्येति तयोरन्यतरस्माद् कारः, नयतेः पूर्ववन्निः। इतश्च अञ्जनमभिव्यक्तं वसुप्रकाशकत्वात्मकत्वेन वा नयतीत्यग्निः। "अग्निमीळे पुरोहितं (ऋ० सं० १, १, १, १)" ॥

(२) जातवेदाः। जातशब्दोपपदात् विद्तेर्विदेर्विचारार्थाद्वा असुन्, जातानि सर्वाणि भूतानि वेद, लोकपालत्वात्। जाते जाते सर्वस्मिन् भूतजाते विद्यते। जातं वेदो हविर्लक्षणं धनमैश्वर्यादि इतरद्वा यस्य सः। जातं वेदो विचारणं यस्य, वैश्वानरविषयापि न एतद्विचार इत्यर्थः। जातमात्र एव विद्योतते प्रज्ञानस्वभावत्वात्, जातं वेदः प्रज्ञानं वा अस्य। "प्रनूनं जातवेदसम् (ऋ० सं० ८, ८, ४५, १)" ॥

(३) वैश्वानरः। विश्वान् नरान् इतो लोकात् लोकान्तरं नयति। इदमर्थंत विश्वानराणां नेतृत्वेन सम्पन्नो वा कर्माधं-

प्रणेतृत्वेन सम्पादितोऽस्य वैश्वानरः। 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः। अपि वा विश्वान् जन्तून् अरः। 'ऋ गतौ'—इत्यस्य छान्दसत्वात् पचाद्यच् उपपदविभक्तेश्चालुक्। सर्वाणि भूतान्यरः प्रत्यृतः प्रतिगतः प्रविशति विश्वानरः प्राणः। तेन जन्यमानत्वात्तस्यापत्यं वैश्वानरः। 'प्राणाद्धि बलान्मथ्यमानो हि जायते'—इति ब्राह्मणम्। "वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम (ऋ० सं० १, ७, ६, १)"॥

द्रविणोदाः(१)। इध्मः(२)। तनूनपात्(३)। नराशंसः (४)। इळः (५)। बर्हिः (६)। द्वारः (७)। उषासानक्ता (८)। दैव्याहोतारा (९)। तिस्रोदेवीः (१०)। त्वष्टा (११)। वनस्पतिः (१२)। स्वाहाकृतयः (१३)। इति त्रयोदश पदानि ॥ २ ॥

(१) द्रविणोदाः। द्रविणशब्दो व्याख्यातो धननामत्वेन (२४३ पृ०)। तस्य सकार उपजनः। ददातेरसुनि बाहुलकादाकारलोपः। धनस्य बलस्य वा दाता द्रविणोदाः। "द्रविणोदा द्रविणसः (ऋ० सं० १, ७, ४, ३)"। ऋतुयाजप्रैषेषु सकारलोपो द्रष्टव्यः॥

अग्रणीः। मुख्यत्वञ्च 'अग्निर्हि देवानां सेनानीः'—इति श्रुतेः। अग्रं प्रथमं यज्ञेषु कर्त्तव्येषु तादर्थ्येन प्रणीयते। अङ्गोपपदाद्वा समर्थविशिष्टात् नयतेः पूर्ववदिकारलोपश्च। अङ्गं शरीरं यज्ञस्य, ततः सन्नममानः स्वयमेव प्रह्वीभवन् हविषां पाककरणत्वेन साधनभावं प्रतिपाद्यमानो नयति। नञ्पूर्वात् क्नोपयतेः स्नेहनार्थात् किन्प्रत्यये ककारनकारव्यतिरिक्तं लुप्यते, ककारस्य गकारापत्तिश्च। नञ्विशिष्टेन स्नेहनेन च तद्विपरीतं विरूक्षणञ्च लक्ष्यते, विरूक्षयतीत्यर्थः, दग्धव्यस्य एधादेः शोषणात् विरूक्षण इत्यर्थः। यद्वा, एतेरयनमित्यादौ दर्शनादकारः। अञ्जेर्जकारस्य दहेर्हकारस्य च निष्ठायां गकारापत्तिर्द्रष्टव्येति तयोरन्यतरस्माद् कारः, नयतेः पूर्ववन्निः। इतश्च अञ्जनमभिव्यक्तं वसुप्रकाशकत्वात्मकत्वेन वा नयतीत्यग्निः। "अग्निमीळे पुरोहितं (ऋ० सं० १, १, १, १)"॥

(२) जातवेदाः। जातशब्दोपपदात् वित्तेर्विदेर्विचारार्थाद्वा असुन्, जातानि सर्वाणि भूतानि वेद, लोकपालत्वात्। जाते जाते सर्वस्मिन् भूतजाते विद्यते। जातं वेदो हविर्लक्षणं धनमैश्वर्यादि इतरद्वा यस्य सः। जातं वेदो विचारणं यस्य, वैश्वनरविषयापि च कृतविचार इत्यर्थः। जातमात्र एव विद्योतते प्रज्ञानस्वभावत्वात्, जातं वेदः प्रज्ञानं वा अस्य। "प्रनूनं जातवेदसम् (ऋ० सं० ८, ८, ४५, १)"॥

(३) वैश्वानरः। विश्वान् नरान् इतो लोकात् लोकान्तरं नयति। इदमर्थेन विश्वानराणां नेतृत्वेन सम्पद्यन्ते वा कर्मार्थ-

प्रणेतृत्वेन सम्पादितोऽस्य वैश्वानरः। 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः। अपि वा विश्वान् जन्तून् अरः। 'ऋ गतौ'—इत्यस्य छान्दसत्वात् पचाद्यच् उपपदविभक्तेश्चालुक्। सर्वाणि भूतान्यरः प्रत्यृतः प्रतिगतः प्रविष्टति विश्वानरः प्राणः। तेन जन्यमानत्वात्तस्यापत्यं वैश्वानरः। 'प्राणाद्धि बलान्मथ्यमानो हि जायते'—इति ब्राह्मणम्। "वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम (ऋ० सं० १, ७, ६, १)"॥

द्रविणोदाः(१)। इध्मः(२)। तनूनपात्(३)। नराशंसः (४)। इळः (५)। बर्हिः (६)। द्वारः (७)। उषासानक्ता (८)। दैव्याहोतारा (९)। तिस्रोदेवीः (१०)। त्वष्टा (११)। वनस्पतिः (१२)। स्वाहाकृतयः (१३)। इति त्रयोदश पदानि॥ २॥

(१) द्रविणोदाः। द्रविणशब्दो व्याख्यातो धननामत्वेन (२४३ पृ०)। तस्य सकार उपजनः। ददातेरसुनि बाहुलकादाकारलोपः। धनस्य बलस्य वा दाता द्रविणोदाः। "द्रविणोदा द्रविणसः (ऋ० सं० १, ७, ४, ३)"। ऋतुयाजप्रैषेषु सकारलोपो द्रष्टव्यः॥

(२) इध्मः। 'ञि इन्धी दीप्तौ (भू० उ०)'। इध्यतेऽनेनाग्निरिति इध्मः यज्ञेध्म। समिध्यत इत्यस्ति अग्नेः समिन्धत्वम्। ज्वलन्नाम वेध्मः। "समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे (ऋ० सं० ८, ६, ८, १)"॥

(३) तनूनपात्। नपाच्छब्दोऽपत्यनामसु व्याख्यातः (१६१ पृ०)। इह पौत्रे वर्त्तते। यद्वा, नुतशब्दस्य नपाद्भावः। पुत्रापेक्षया नीचैः सुतरां नुतो हि पौत्रः। तनोतेः 'हृभृशीतृचरित्सरितनिधनिमस्जिभ्य ऊः'। तन्वन्त्यस्यां पयआदिभोगाः इति तनूः गोनाम। अस्याः पयो जायते। पयस आज्यमिति। आज्यं तनूनपात्। अथवा तता अन्तरिक्षे इति तत्वः आपः। ताभ्य ओषधिवनस्पतयो जायन्ते। ओषधिवनस्पतिभ्योऽग्निर्जायते इति। अग्निस्तनूनपात्। "तनूनपात्पथ ऋतस्य यानात् (ऋ० सं० ८, ६, ८, २)"॥

(४) नराशंसः। नरैः ऋत्विग्भिः शस्यतेऽस्मिन् 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः। यज्ञ उच्यते। नरैः प्रशस्यते स्तूयते इत्यग्निः। 'नराशंसस्य महिमानमेषाम् (ऋ० सं० ५, २, १, २)"॥

(५) इळः। इळाशब्दो व्याख्यातः पृथिवीनामसु (३४ पृ०) "आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्च (ऋ० सं० ८, ६, ८, ३)"॥ "होतारमिळः प्रथमं यजत्यै (ऋ० सं० २, ८, २२, ३)॥

(६) बर्हिः। व्याख्यातं महन्नामसु (३१३ पृ०)। बर्हिरेषोक्तं दर्भमयम्। यद्वा, 'बृही उद्यमने (भू० प०)'—इत्यस्मा-

दीप्तिः। वकारयोरभेदादुक्तम्। अग्निपक्षे परिवृद्धत्वाद् बर्हिः। "प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या (ऋ० मं० ८, ६, ८, ४)" ॥

(७) द्वारः। जवतेर्द्रवतेर्वा गतिकर्मणः वारयतेर्वा स्यात्। जवतेर्जकारस्य दकारः, द्रवतेः रेफलोपः, वारयतेरिडागमश्च निपातनात्। गम्यन्ते ह्याभिर्यज्ञगृहम्, अनभिमतो हि वाय्येव निवार्यते। अग्निपक्षे, ज्वाला आगम्यन्ते आभिः, शीतादिनिवारणम्। "देवी द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा (ऋ० मं० ८, ६, ८, ५)"।

(८) उषासानक्ता। 'उच्छी विवासे (भ्वा० प०)' 'वश कान्तौ (अदा० प०)'—'इषिरञ्जिभूशम्यः किन्'—इति बाहुलकाच्छकारस्य शकारस्य वा षकारः। 'ग्रहिज्या (६, १, १६)'—इति सम्प्रसारणम्। उच्छति कान्ता वा उषा। नक्तशब्दो रात्रिवचनः। 'उषासोषसः (६, ३, ३१)'—इति उषासादेशः। द्विवचनस्याकारः। अग्निपक्षे, उषा दीप्तिः, तमसो विवासनात्, आहुतिस्तद्युक्ता अनक्त्यग्निमिति। "उषासानक्ता सदतां नियोनौ (ऋ० मं० ८, ६, ८, ६)" ॥

(९) दैव्याहोतारा। उभयत्राकारो द्विवचनस्य। आह्वातारौ देवानाम्। पार्थिवमध्यमावग्नी उच्येते। "दैव्याहोतारा प्रथमा सुवाचा (ऋ० मं० ८, ६, ९, १)" ॥

(१०) तिस्रोदेव्यः। प्रथमार्थे द्वितीया। भारतीळासरस्वत्यः। अत्रापि पृथिव्यामिति त्रियः इति प्रत्यक्षेण पठिताया अपि तिस्रोदेव्यः इति सामान्येन पाठात् पृथिवीस्थानं भाष्य-

कारेण ज्ञापितम्। सरस्वती मध्यमस्थाना। "आनो यज्ञं भारती (ऋ० सं० ८, ६, ६, २)"—इति निगमः॥

(११) त्वष्टा। तूर्णशब्दोपपदादश्नोतेस्तृन्निपात्यते। त्वष्टा मध्यमस्थानः। आप्रीत्वादिह समाम्नातः। तूर्णश्नुते वायुरूपत्वात्। त्विषेर्देवताग्रामकारश्चोपधाया अनिट्त्वञ्चेति वा दीप्तो ह्यसौ वैद्युतत्वात्। त्वष्टा पूर्ववन्निपातनम्। अग्निपक्षेऽप्युपपद्यन्ते निर्वचनानि। "देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् (ऋ० सं० ८, ६, ६, ३)"। "उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात् (ऋ० सं० १, ७, १, ५)"॥

(१२) वनस्पतिः। वनानां पाता। वन्यते सेव्यते इति वनम्। 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः (३, ३, ११८)'। पतिशब्दो व्याख्यात "ईश्वरनामसु (३०० पृ०)। अग्निरन्तरनुप्रविष्टोऽपि यतो न वहति अतः पातेति व्यपदिश्यते। पिबतेर्वैतद्रूपम्। यूपपक्षे वनस्पतिविकारत्वाद् वनस्पतिः। पारस्करादित्वात् सुट् (६, १, १५७)। "वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः (ऋ० सं० ८, ६, ६, १०)"। "वनस्पते मधुना दैव्येन (ऋ० सं० ३, १, ३, ९)"॥

(१३) स्वाहाकृतयः। स्वाहाशब्दो व्याख्यातो वाङ्नामसु (१०१ पृ०)। अत्र स्मरणार्थमुत्क्रमस्य प्रयाजस्य वक्ष्यमाणदेवतासङ्कीर्त्तनपरत्वात्, स्वाहास्वाहेत्येवं पूर्वं कतिवारमुच्चारणं वा समीक्ष्यमाणदेवतानां ताः स्वाहाकृतय उच्यन्ते। "स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः (ऋ० सं० ८, ६, ६, ५)"। "स्वाहाकृतीषु रोचते (ऋ० सं० २, ५, ६, ६)"॥

अश्वः (१)। शकुनिः (२)। मण्डूकाः (३)। अक्षाः (४)। ग्रावाणः (५)। नाराशंसः (६)। रथः (७)। दुन्दुभिः (८)। इषुधिः (९)। हस्तघ्नः (१०)। अभीशवः (११)। धनुः (१२)। ज्या (१३)। इषुः (१४)। अश्वाजनी (१५)। उलूखलम् (१६)। वृषभः (१७)। द्रुघणः (१८)। पितुः (१९)। नद्यः (२०)। आपः (२१)। ओषधयः (२२)। रात्रिः (२३)। अरण्यानी (२४)। श्रद्धा (२५)। पृथिवी (२६)। अप्वा (२७)। अग्नायी (२८)। उलूखलमुसले (२९)। हविर्धाने (३०)। द्यावापृथिवी (३१)। विपाट्छुतुद्री (३२)। आर्त्नी (३३)। शुनासीरौ (३४)। देवीजोष्ट्री (३५)। देवोऊर्जाहुती (३६)। इति षट्त्रिंशत् पदानि ॥ ३ ॥

(१) अश्वः। व्याख्याताऽश्वनामसु (१६८ पृ०)। "यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेः (ऋ० सं० २, ३, ७, २)"। "सूरादश्वं वसवो निरतष्ट (ऋ० सं० २, ३, ११, २)" ॥

(२) शकुनिः। शकेः क्विपि शक्। उन्नयतेः 'वेञो डित्' —इति बाहुलकात् डिदिन्प्रत्यये उदस्तलोपः। शक्नोत्युन्नेतुमात्मानं शकुनिः ककारस्य जशत्वाभावः। शक्नोत्युन्नयनादिक्रियाः कर्त्तुम्। "सुमङ्गलश्च शकुने भवासि (ऋ० सं० २, ८, ११, १)" ॥

(३) मण्डूकाः। मस्जेः 'शलिमण्डिभ्यामूकन् (उ० ४, ४२)' —इति बाहुलकादूकनि जशत्वचुत्वाभ्यां मज्जूका इति प्राप्ते छान्दसत्वात् जकारस्य डकारापत्त्या अन्त्यात् पूर्वस्य नुमि ण्त्वम्। निमज्जन्ति हि ते जले। मदतेस्तृप्त्यर्थात् मन्दतेर्वा मोदत्यर्थात् पूर्ववदूकश् रूपसिद्धिश्च। नित्यमदत्वात्, नित्यतृप्तत्वात् नित्यहृष्टत्वाद्वा मण्डूकाः। मण्डतेर्वा यथाप्राप्ते ऊकनि मण्डूकाः। यद्वा, मण्डो मदतेः। 'गेहे कः (३, १, १४४)'—इति बाहुलकात् कप्रत्यये रूपसिद्धिश्च मण्ड उदकम्। हृष्यन्ति हि तत्र स्नानपानावगाहार्थिनः। मण्डे ओको निवास एवं मण्डशब्दादोकशब्दाच्च मण्डूकाः। "प्र मण्डूका अवादिषुः (ऋ० सं० ५, ७,३, ६)" ॥

(४) अक्षाः। अश्नोतेः 'अशेर्देवने (उ० ३, ६२)'—इति सप्रत्ययः। अक्ष घन्ते व्याप्नुवन्ति गृह्णन्त्येनानुद्देवितारः। अतिव्याप्नुवन्त्येभिः परस्परमिति वा। "अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व (ऋ० सं० ७, ८, ५, ३)" ॥

(५) ग्रावाणः। व्याख्यातः पर्वतनामसु (७१ पृ०)। "ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः (ऋ० सं० ८, ४, ६, १)" ॥

(६) नाराशंसः। नरान् शंसतीति कर्मोपपदेऽण्, 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'। ततः प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकोऽण्। नराशंस एव नाराशंसः। मन्त्रोऽत्राभिप्रेयः। "अमन्दाँस्तोमान् प्र भरे मनीषा (ऋ० सं० २, १, ११, १)"॥

(७) रथः। रंहतेर्गतिकर्मणः। 'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् (उ० २, २)'—इति क्थन्, बाहुलकान्नकारहकारलोपश्च। गच्छत्यनेन। स्थिरतिर्नैरुक्तधातुः। विपरीताक्षरः। 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः (३, ३, ११८)'। सकारिकारयोर्लोपः। दृढगठितत्वात् स्थिरो हि सः। यद्वा, रमतेस्तिष्ठतेश्च द्विधातुजं रूपम्। रममाणो विस्रब्धोऽस्मिंस्तिष्ठति रथी। यद्वा, रमतेरेव यथाप्राप्तः क्थन्। रमणीयो हि रथः। रसतेर्वा शब्दार्थात् पूर्वसूत्रेण बाहुलकात् क्थनि सकारलोपः। भवति हि तस्यागच्छत उपलब्धिः। "तत्रा रथमुप शग्मं सदेम (ऋ० सं० ५, १, २०, ३)"॥

(८) दुन्दुभिः। शब्दानुकरणनिमित्तकमेतन्नाम। द्रुमशब्दस्य वा रेफान्तलोपः। भिदेश्चाद्यन्तविपर्ययः उकारश्चोपजनः। दुन्दुम्यतेर्वा नैरुक्तधातोर्वधकर्मणः इन्। ताड्यते ह्यसौ युद्धसमये। "स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैः (ऋ० सं० ४, ७, ३५, ४)"॥

(९) इषुधिः। इषवो निधीयन्तेऽस्मिन्। 'कर्मण्यधिकरणे च (३, ३, ९३)'—इति किः। "इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः"॥

(१०) हस्तघ्नः। हस्ते हस्तसमीपे स्थितो हन्यते ज्यया शरपुङ्खेन वा। 'अमनुष्ये कविधानम् (३, ३, ५८ वा० २)'—इति कः। "हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान् (ऋ० सं० ५, १, २१, ४)"॥

(११) अभीशवः। व्याख्याता रश्मिनामसु (५३ पृ०)। निगमश्च दर्शितः॥

(१२) धनुः। धन्वतेर्गत्यर्थाद् वधार्थाद्वा 'अर्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित् (उ० २, १७०)'—इति बाहुलकादुसिः प्रत्ययो वकारलोपश्च। धनिर्मारणार्थ इति क्षीरस्वामी। यथाप्राप्त उसिः। धन्वन्त्यपनयन्त्यस्मादिषवः, घ्नन्ति वा। "धनुः शत्रोरपकामं कृणोति (ऋ० सं० ५, १, १६, २)"॥

(१३) ज्या। जयतेर्जिनातेर्वाऽन्तर्णीतण्यर्थाद् वा 'मध्यविध्यशिक्य'—इत्यादिना यक्प्रत्ययो धातोर्जेकारभावश्च निपात्यते। 'अघ्न्यादयश्च (उ० ४, १०८)'—इति निपातनम्। जयसाधनं हि ज्या। "धन्वञ्ज्या इयं समने पारयन्ती (ऋ० सं० ५, १, १६, ३)"॥

(१४) इषुः। इषतेर्गतिकर्मणो वधार्थाद्वा 'इषेः किच्च (उ० १, १३)'—इति उप्रत्ययः। गच्छति शत्रून्, हन्ति वा तान्। "तथास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन् (ऋ० सं० ५, १, २१, १)"॥

(१५) अश्वाजनी। अश्वा अज्यन्ते क्षिप्यन्ते प्रेर्यन्तेऽनया। ल्युट्, 'वा यौ (२, ४, ५७)'—इतिवीभावविकल्पः, टित्त्वात् ङीप्। अश्वानामजनी अश्वाजनी कशोच्यते। "अश्वाजनि प्रचेतसः (ऋ० सं० ५, १, २१, ३)"॥

(१६) उलूखलम्। उरु विस्तीर्णं खलं मुसलस्य, उद्र्ध्वे वा उपरिभागे खलं मुसलस्य। ऊर्क् अन्नं तत् करोति। किरतेर्वा उत्कीर्णं तत्। शब्दानुकरणनिमित्तं वा नामैतत्, यतो मुसला-

घातजनितध्वनिमुख मैषु कुर्वित्येवमब्रवीत्। सर्वथैव तेषु वर्णव्यत्ययादि वाच्यम्। "उलूखलक युज्यसे (ऋ० सं० १, २, २५,७)" ॥

(१७) वृषभः। 'वृषु सेचने (भू० प०)'। 'ऋषिवृषिभ्यां कित् (उ० ३, ११६)'—इत्यभच्प्रत्ययः। प्रजाहेतुभूतं बीजं वर्षति सिञ्चति। बृहेर्वा बाहुलकात् अभचि हकारस्य षकारः। अतिशयेन रेतः सेक्तुं बृहति उद्यच्छति आत्मानम्। "अमेहयन् वृषभं मध्य आजेः (ऋ० सं० ८, ५, २०, ५)" ॥

(१८) द्रुघणः। द्रुशब्दो द्रुमशब्दपर्य्यायः। द्रुमविकारः काष्ठखण्डोऽत्र द्रुशब्देनोच्यते। द्रुर्हन्यतेऽनेन। 'करणेऽयोविद्रुषु (३, ३, ८२)'—इति हन्तेरप् घनादेशश्च। क्षुभ्नादिषु (८, ४, ३९) पाठाण्णत्वम्, 'पूर्वपदात् सञ्ज्ञायामगः (८, ४, ३)'—इति वा। "काष्ठायामध्ये द्रुघणं शयानम् (ऋ० सं० ८, ५, २१, ४)" ॥

(१९) पितुः। अन्ननामसु व्याख्यातम् (२२२ पृ०)। स निगमः (ऋ० सं० २, ५, ६, १) ॥

(२०) नद्यः। (२१) आपः। व्याख्याताः (१५६ पृ०। १४१ पृ०)। निगमौ च दर्शितौ सामान्येन। "इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति (ऋ० सं० ८, ३, ६, ५)"—इति, विशेषेण। "आपो हि ष्ठा मयोभुवः (ऋ० सं० ७, ६, ५, १)" ॥

(२२) ओषधयः। ओषशब्दे दोषशब्दे चोपपदे धयतेः 'कर्मण्यधिकरणे च (३, ३, ९३)'—इति किप्रत्ययः, 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति कर्त्तरि वा। ओषं दाहं धयति पिबति विनाशयतीत्यर्थः, दोषं वातपित्तादिकं वा।

दकारलोपो द्रष्टव्यः। "या ओषधीः पूर्वा जाता (ऋ० सं० ८, ५, ८, १)" ॥

(२३) रात्रिः। प्रोपसर्गार्थविशिष्टात् अन्तर्णीतण्यर्थात् रमतेः 'राशदिभ्यां त्रिप् (उ० ४, ६७)'—इति बाहुलकात् त्रिप्प्रत्ययो मकारस्याकारश्च रातेर्वा त्रिप्प्रत्ययो यथाप्राप्तः। प्ररमयन्ति भूतानि नक्तञ्चारीणि, उपरमयन्ति दिवाचराणि स्वव्यापारेभ्यः, प्रदीयन्तेऽस्यामवश्याया मध्यमेन। "आ रात्रि पार्थिवं रजः (य० वा० स० ३४, ३२)" ॥

(२४) अरण्यानी। अपपूर्वात् रिणतेर्गतिकर्मणो नञ्पूर्वाद्रमतेर्वा अर्त्यादित्वात् (उ० ४, ११८) यत्प्रत्यये, रूपसिद्धिर्निपात्यते। अपार्णमपगतं ग्रामाद्धि अरमणं वा, न हि तद्रमयति अरण्यं घनम्। अरण्यपालयित्री अधिदेवता काचित् नैरुक्ताः महदरण्यमिति वैयाकरणाः। 'हिमारण्ययोर्महत्त्वे (४, १, ४९, वा० १)' —इति विधीयते। "अरण्यान्यरण्यानि (ऋ० सं० ८,८,४,१)" ॥

(२५) श्रद्धा। श्रत् सत्यम्, तस्मिन् धीयते। तथाच मन्त्रः "अश्रद्धामनृते दधातन श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः"—इति। 'आतश्चोपसर्गे (३, ३, १०६)'—इत्यङ्। 'श्रच्छब्दस्योपसङ्ख्यानम्' इत्युपसर्गसंज्ञा। धर्मार्थसुखापवर्गेषु यथाशास्त्रमधिकृतः पुरुषस्य कर्मानुष्ठानहेतुभावप्रत्यानात् बुद्ध्यधिदेवता श्रद्धा। "श्रद्धयाग्निः समिध्यते (ऋ० सं० ८, ८, ६, १)" ॥

(२६) पृथिवी। 'प्रथ प्रख्याने (भ्वा०)'। 'प्रथे षिवन् सम्प्रसारणञ्च (उ० १, १४१)'। 'षिद्गौरादिभ्यश्च (४, १,

४१)'। पृथ्वीत्यर्थः। "स्योना पृथिवि भव (ऋ० सं० १, २, ६, ५)" ॥

(२७) अप्वा। व्याख्यातं नैगमे सनिगमम् ॥

(२८) अग्नायी। अग्नेः पत्नी। 'वृषाकप्यग्निकुसितकुसिदानामुदात्तः (४, १, ३७)'—इत्यैकारादेशः, पुंयोगलक्षणो ङीप्। "अग्नायीं सोमपीतये (ऋ० सं० १, २, ६, २)" ॥

(२९) उलूखलमुसले। उलूखलं व्याख्यातम्। मुहुःशब्दोपपदात् सर्तेः 'पुरूलोरूलमुसलकुवल'—इत्यादिना अलप्रत्ययो टिलोपो मुहुःशब्दस्य मुसभावश्च निपात्यते। उत्क्षिप्योत्क्षिप्य निपातनात् मुहुः सरणं मुसलं द्विर्वचनम्। "आयजी वाजसातमा (ऋ० सं० १, २, २६, २)"। अग्रेध्मवत् श्रुतिरसत्यपि लिङ्गयोगे ॥

(३०) हविर्धाने। सोमलक्षणानि हवींषि विधीयन्ते ययोः। "आ द्यामुपस्थमद्रुहाः (ऋ० सं० २, ८, १०, ६)"। पूर्ववदुदाहरणत्वम् ॥

(३१) द्यावापृथिवी। दिवो द्युत्यर्थात् 'दिवेर्डिविः'—इति डिविप्रत्ययः। द्योतत इति द्यौः। पृथिवी व्याख्याता (२२ पृ०)। द्यौश्च पृथिवी च 'दिवोद्यावा (६, ३, २९)'—इति द्यावादेशः। 'वाच्छन्दसि (६, १, १०६)'—इति पूर्वसवर्णः। "द्यावा नः पृथिवी इमम् (ऋ० सं० २, ८, १०, ५)" ॥

(३२) विपाट्छुतुद्र्यौ। 'पद गतौ (दि० आ०)' 'पश बाधनस्पर्शनयोः (चु० प०)' विपूर्वः। आप्लृ व्याप्तौ (स्वा० प०)' विप्रपूर्वः। णिजन्तात् 'क्विप्चवि (३, २, १७८ वा० १,)'—

इत्यत्र 'प्राक्प्रत्ययनिर्देशादिष्टसिद्धिः'—इत्युक्ते क्विपि प्रशब्दस्य रैफलोपादि। विविधं कुलपाटनात्, विपाशनात्। अपुत्रस्योद्भूततमोवृत्तेर्मुमूर्षोर्वसिष्ठस्य कण्ठे शिलाबन्धने साधनभूताः पाशा अस्याम्। विविधदेशप्रापणाद्वोदकस्यापनस्त्वात् विपाट्। शुतुद्री शुद्राविणीत्यर्थः। आशुतुन्नद्राविणीशब्देभ्यो वा। आशुतुन्ने प्रतोदे द्रवतीति शुतुद्री। विपाट् च शुतुद्री च विपाट्छुतुद्री पूर्वसवर्णः। "विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते (ऋ० सं० २, २, १२, १)"॥

(३३) आर्त्नी। अर्त्तेः रिपतेर्वा 'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नि: (उ० ४, ५१)'—इति बाहुलकात् निप्रत्ययो धातोरार्त्तभावश्च। 'कृदिकारात् (४, १, ४५, वा० १)'—इति ङीष्। गते ज्यया ऋप्यमाणे सङ्गच्छेते हिंसासाधने वा भवतः। "आर्त्नी इमे विस्फुरन्ती अमित्रान् (ऋ० सं० ५, १, ११, ४)"॥

(३४) शुनासीरौ। शुशब्दार्थविशिष्टात् 'शुन गतौ (तु० प०)'—इत्यस्मात् इगुपधलक्षणः कः (३, १, १३५)। क्षिप्रं गच्छत्यन्तरिक्षमिति शुनो वायुः। यद्वा, शुशब्दोपपदात्नयतेर्गतिकर्मणः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डः। भाष्ये तु शु-एतदर्थतो निर्वचनं प्रायेण। सर्त्तेः 'डिण्डीरपानीरगभीरगम्भीरकुम्भीरशरीरकाश्मीरजम्बीरकीरसीरादयः'—इति ईरन्प्रत्ययष्टिलोपश्च निपात्यते। सदा सरणात् सीर आदित्यः। शुनश्च सीरश्च देवताद्वन्द्वे च (६, ३, २६)'—इत्यङ्। "शुनासीराविमां वाचं जुषेथाम् (ऋ० सं० ३, ८, ६, ५)"॥

(३५) देवीजोष्ट्री। देवशब्दः पचाद्यजन्तः। देवडिति पाठात् 'टिड्ढाणञ् (४, १, १५)'—इति ङीप्। जुषतेष्ट्रनप्रत्ययः (उ० ४, १५५)। षित्त्वात् ङीप् (४, १, ४१)। देव्यौ जोषयित्र्यौ। पूर्वसवर्णः। द्यावापृथिव्यौ, अहोरात्रे वाभिधेये। सस्यसमे इति कात्थक्यः। सस्यं व्रीहिः, समा संवत्सरः। "देवी जोष्ट्री वसुधिती ययोः (निरु० ६, ४२)"॥

(३६) देवी ऊर्जाहुती। ऊर्क्शब्दो व्याख्यातोऽन्ननामसु (२२४ पृ०)। आह्वयतेः क्विपि 'वचिस्वपि (६, १, १५)'—इति सम्प्रसारणम्, 'हलः (६, ४, २)'—इति दीर्घाभावो व्यत्ययेन। ऊर्क्शब्दात् हेतौ तृतीया। ऊर्जा हेतुभूतया आह्वातव्ये। ऊर्क् इत्यत्र 'साविकाचः (६, १, १६८)'—इति विभक्तेरुदात्तत्वम्, आहुतिशब्दोऽपि 'तादौ च निति कृत्यतौ (६, २, ५०)'—इति आद्युदात्तः, 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः (८, २, ५)'। "देवी ऊर्जाहुती इषमूर्जमन्या वक्षत् (य० वा० सं० २१, ५२)"॥

इति पृथिवीस्थानदेवताः॥ १॥

वायुः(१)। वरुणः(२)। रुद्रः(३)। इन्द्रः(४)। पर्जन्यः(५)। बृहस्पतिः(६)। ब्रह्मणस्पतिः (७)। क्षेत्रस्यपतिः (८)। वास्तोष्पतिः (९)। वाचस्पतिः (१०)। अपान्नपात् (११)। यमः (१२)।

मित्रः (१३)। कः (१४)। सरस्वान् (१५)। विश्वकर्मा (१६)। तार्क्ष्यः (१७)। मन्युः (१८)। दधिक्राः (१९)। सविता (२०)। त्वष्टा (२१)। वातः (२२)। अग्निः (२३)। ववेनः (२४)। असुनीतिः (२५)। ऋतः (२६)। इन्दुः (२७)। प्रजापतिः (२८)। अहिः (२९)। अहिर्बुध्न्यः (३०)। सुपर्णः (३१)। पुरूरवाः (३२)। इति द्वात्रिंशत् पदानि ॥ ४ ॥

(१) वायुः। 'वा गतिगन्धनयोः (अदा० प०)'। 'कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् (उ० १, १)'। 'आतो युक् चिण्कृतोः (७, ३, ३३)'। यद्वा, वेतेर्गतिकर्मणो बाहुलकादण् यद्वा, 'छन्दसीणः (उ० १, २)'—इत्युणि वकारोपजनः। गच्छत्यन्तरिक्षे। "वायवा याहि दर्शतेमे (ऋ० सं० १, १, ३, १)"॥

(२) वरुणः। 'वृञ् वरणे (स्वा० उ०)'। 'कृवृदारिभ्य उनन् (उ० ३, ५०)'। अन्तरिक्षे उदकमावृणोति। "नीचीनबारं वरुणः कवन्धम् (ऋ० सं० ४, ४, ३२, ३)"॥

(३) रुद्रः। रौतेः क्विपि। रुत्शब्दं करोति। 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)'। यो रुवन् एति, रौतीति वक्तुं शक्यते। रोरूयमाणोऽत्यर्थं शब्दं कुर्वन् मेघोदरेभ्यो द्रवतीति, रोरूयमाण-

शब्दपूर्वाद् द्रवतेर्वा 'रोदेर्णिलुक् च (उ० २, २०)'—इति रक्। स हि शत्रुकलत्राणि रोदयति रुदैरेव वा णिजन्तात् बाहुलकाद्रक्। 'इन्द्रः किं पितरं प्रजापतिमिथुना चिच्छेद तमनुशोचन्नरुदद् यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् (बृ० आ० ३, ६, ४)'—इति काठकम्। 'यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्'—इति हारिद्रवकम्। "इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः (ऋ० सं० ५, ४, १३, १)" ॥

(४) इन्द्रः। इराशब्द उपपदे दृणातेर्दधातेर्दारयतेर्वा 'ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र (उ० २, २७)'—इति रक्प्रत्ययान्तो निपात्यते। निपातनाद्रूपसिद्धिरूह्या। इरा अन्नमनेन सम्बन्धाद्वा तद्धेतुभूतकं बलं लक्ष्यते। तेन बललक्षितलक्षणया तदाधारभूतो मेघः। इरां मेघं धारात्मना दृणाति विदारयति। बीजं व्रीह्यादि तथासौ वृष्टिप्रदानेन विदारयति। अङ्कुरोद्भेदाभिकाङ्क्षया विदारणम्। इरामन्नं तद्ददाति वा। इरां दधाति धारयति वा। इन्द्रावुपपदे द्रवतेः रमतेर्वा निपातनम्। इन्दवे द्रवति गच्छति सोमं पातुमित्यर्थः। इन्दौ रमतेऽतिप्रियत्वात् नान्यत्र। इन्धेर्वा निपातनम्॥ इन्धे दीपयति शरीरमध्यवर्त्ती पञ्चवृत्तिः प्राणो वायुः शरीरभूतादि इध्यते वा प्राणैः। शरीरमध्यवर्त्ती प्राणभावेन क्षेत्रज्ञसम्बन्धकः। प्राणैर्योगादिभिर्योगबलेन वा सम्यगाभिमुख्येन दीपयति आत्मोपासकाः। इदमुन्पादीकरोति पश्यति वा इन्द्रः। इदं सकलं जगद् वृष्टिप्रदानद्वारेण करोति लोकपालत्वात्, अस्य सर्वस्य शुभाशुभकर्मणो द्रष्टा वा। इदुपपदे दारयतेर्द्रावयतेर्वा इन्द्रपदम्। यथा, इनाञ्च शत्रूणां दारयिता द्रावयिता च। यद्वा,

इताश्च यज्वनामादरयिता च। सर्वत्र निपातनाद्रूपसिद्धिः। "महान्तमिन्द्र पर्वतं वियद्वः (ऋ० सं० ४, १, ३२, १)" ॥

(५) पर्जन्यः। तृपेरन्तर्णीतण्यर्थात् क्विपि तर्पयतीति तृप्। जनहितो जन्यः हितार्थे यत्। तृप् चासौ जन्यश्चेति तृप्शब्दस्य पर्भावः। परशब्दोपपदात् जायतेर्जनयतेर्वा अघ्न्यादित्वात् यत्, नुम्, परशब्दातो लोपश्च निपात्यते। परः प्रकृष्टो जेताजनयिता वा। प्ररसशब्दोपपदादर्जयते वा अघ्न्यादित्वान्निपातनन्तेन पर्जन्यः प्रकर्षेणोपार्जयिता सङ्ग्रहीता रसानाम्। "यत् पर्जन्यस्तनयन् हन्ति दुष्कृतः (ऋ० सं० ४, ४, २७, २)" ॥

(६) बृहस्पतिः। बृहच्छब्दो व्याख्यातो महन्नामसु (३०८ पृ०) पतिशब्दस्तु ईश्वरनामसु (३०१ पृ०)। अत्र पिबतेरपि बाहुलकात् पतिः। बृहतः सोमरसस्य वाय्वात्मना पाता पालयिता रक्षिता वा। पिता रक्षयिता महतो जगतो वा। "बृहस्पतिर्विश्वेणा विकृत्य (ऋ० सं० ८, २, १८, २)" ॥

(७) ब्रह्मणस्पतिः।

(८) क्षेत्रस्य पतिः। 'क्षि निवासगत्योः (तु० प०)'। 'गुधृवीपचिवचियमिमनितनिसदिक्षदिभ्यस्त्रन् (उ० ४, १६२)'—इति त्रन्प्रत्ययः। निवसन्ति हि येन च हेतुभूतेन, तस्य पाता। "क्षेत्रस्य पतिना वयम् (ऋ० सं० ३, ८, ६, १)" ॥

(६) वास्तोष्पतिः। 'वस निवासे (भू० प०)' 'वसेस्तुन् णिच्च इति। सामर्थ्यात्तत्र वास्त्वन्तरिक्षम्, तस्य पाता विभुत्वेन। "अमी वदा वास्तोष्पते (ऋ० सं० ५, ४, २२, १)" ॥

(१०) वाचस्पतिः। प्राणात्मेन्द्रः। अतः प्राणस्य धाम्न्-पतयाप्यवस्थानात् प्राणो वाचस्पतिरिति व्यपदिश्यते। "पुनरेहि वाचस्पते (अथ० सं० १, १, २)" ॥

(११) अपांनपात्। तनूनपात् व्याख्यातः (४५६ पृ०)। "अपांनपान्मधुमतीरपोदाः (ऋ० सं० ७, ७, २४, ४)" ॥

(१२) यमः। मध्यस्थानो वायुः। यच्छति प्रयच्छति स्तोतृभ्यः कामानि। पचाद्यच्। "यमं राजानं हविषा दुवस्य (ऋ० सं० ७, ६, १४, १)" ॥

(१३) मित्रः। प्रमीतान्मरणात् त्रायते। 'सुपि स्थः (३, २, ४)'—इत्यत्र सुपीति योगविभागात् प्रमीतशब्दस्य मिद्भावः। यद्वा, 'डुमिञ् प्रक्षेपणे (स्वा० उ०)'। यद्वा, 'मिषि मिषि सेचने (भू० प०)'। सम्मिन्वानः सम्यक् वृष्टिं प्रक्षिपन् सम्यक् सिञ्चन् वा द्रवत्यन्तरिक्षे। मिन्वानशब्दस्य मिद्भावः, द्रवतेः डप्रत्ययान्तस्य त्रभावः। 'ञि मिदा स्नेहने (भू० आ०)' अन्तर्णीत-ण्यर्थः। 'अमिचिमिमिदिशंसिभ्यः क्त्रिः (उ० ४, १४६)'—इति त्रन्प्रत्ययः। णिजन्ताद्वा बाहुलकाद्रूपसिद्धिः। सर्व-शस्यान्युदकेन स्नेहयति। "मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणः (ऋ० सं० ३, ४, ५, १)"। 'ञिमिदा स्नेहने (भू० आ०)' अन्तर्णीत-ण्यर्थः ॥

(१४) कः। कनेः कमेर्वा 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)—इति डप्रत्यये कमते रेफलोपो बाहुलकात्, 'प्रजापतिरकामयत'—इति बहुलकामत्वात् कः प्रजापतिः। कमणो वा कम-

यत्यन्तरिक्षे। कमिति सुखनाम, सुखो वा वृष्टिप्रदानादिना। "कस्मै देवाय हविषा विधेम (ऋ० सं० ८, ७, ३, १)" ॥

(१५) सरस्वान्। सर इत्युक्तं, तेन तद्वान्। "ये ते सरस्व ऊर्मयः (ऋ० सं० ५, ६, २०, ५)" ॥

(१६) विश्वकर्मा। करोतेः कर्त्तरि मनिन्। मध्यमस्थानो वायुः। वृष्टिद्वारेण सर्वस्य कर्त्ता सर्वचेष्टानां तदधीनत्वात्। "विश्वकर्मा विमना आदिद्विहायाः (ऋ० सं० ८, ३, १७, २)" ॥

(१७) तार्क्ष्यः। स्तीर्णशब्दे तूर्णशब्दे चोपपदे क्षियतिक्षरति-रक्षत्यश्नातिभ्योऽघ्न्यादित्वात् (उ० ४, १८) यत्प्रत्ययादि निपात्यते। स्तीर्णे विस्तीर्णेऽन्तरिक्षे क्षियति क्षरति रक्षत्यश्नाति, तूर्णं वार्थमुदकाख्यं क्षियति क्षरति वा अश्नुते वा तमः। "स्वस्तये तार्क्ष्य मिहाहुवेम (ऋ० सं० ८, ८, ३६, १)" ॥

(१८) मन्युः। व्याख्यातः क्रोधनामसु (२५० पृ०)। दीप्तः क्रुद्धो वा। "त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो (ऋ० सं० ८, ३, १६, १)" ॥

(१९) दधिक्राः। व्याख्यातोऽश्वनामसु (१६१ पृ०)। दध-द्धारयद् धृष्णु युदकमन्तरिक्षे क्रामति गच्छति, क्रन्दति स्तनयितु-लक्षणं शब्दं करोति। "आ दधिक्राः शवसा पञ्च कृष्टीः (ऋ० सं० ३, ७, १२, ५)" ॥

(२०) सविता। 'षु प्रसवैश्वर्ययोः (भ्वा० प०)'। तृन् 'स्वपतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा (७, २, ४४)'। सर्वकर्मणां वृष्टिप्रदानादिना सविता अभ्यनुज्ञाता। "सविता यन्त्रैः पृथिवी-मरम्णात् (ऋ० सं० ८, ८, ७, १)" ॥

(२१) त्वष्टा। व्याख्यातः (४५८ पृ०)। "देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः (ऋ० सं० ३, ३, ३१, ४)" ॥

(२२) वातः। वातेः 'हसिमृग्रिण्वामिदमिलूपूधूर्विभ्यस्तन् (उ० ३, ८६)'। वाति वातः। "वात आवातु भेषजम् (ऋ० सं ८, ८, ४४, १)" ॥

(२३) अग्निः। व्याख्यातः (४५३ पृ०)। इह मध्यमोऽभिधेयः। "मरुद्भिरग्न आ गहि (ऋ० सं० १, १, ३६, १)" ॥

(२४) वेनः। वेनतेः कान्तिकर्मणो पचाद्यच् (३, १, १३४)। कान्तो दीप्तो मध्यमस्थानः। "अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा (ऋ० सं० ८, ७, ७, १)" ॥

(२५) असुनीतिः। असुशब्दे उपपदे नयतेः 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' ... बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति क्तिन्। असून् नयतीति असुनीतिः। स च मध्यमः प्राणः। प्राणश्च वायुः। स हि शरीरादुत्क्रामन्तोऽसून् नयति। विज्ञायते हि प्राणा उत्क्रामन्तः सर्वेऽनूत्क्रामन्ति। "असुनीते मनो अस्मासु धारय (ऋ० सं० ८, १, २२, ५)" ॥

(२६) ऋतः। 'ऋ गतौ (भू० प०)'। गत्यर्थात् कर्त्तरि क्तः। अर्त्ता गन्ता अन्तरिक्षे। "ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः (ऋ० सं० ३, ६, १०, ३)" ॥

(२७) इन्दुः। इन्धेः 'भृमृशीतृचरित्सरितनि (उ० १, ७)' —इत्यादिना बाहुलकादुप्रत्ययो धकारस्य दकारश्च। उनत्तेर्वा 'उन्देरिच्चादेः (उ० १, १२)'—इत्युप्रत्ययः। दीप्यते उनत्ति वा वर्षेण। "प्र तद्वो वयम्भव्यायेन्दवे (ऋ० सं० २, १, १७, १)" ॥

(२८) प्रजापतिः। प्रजानां पाता। "प्रजापते न त्वदेतान्यन्यः (ऋ० सं० ८, ७, ४, ५)"॥

(२९) अहिः। व्याख्यातो मेघनामसु (८७ पृ०)। इह त्विन्द्रोऽभिधेयः। "अब्जामुक्थैरहिङ्गृणीषे (ऋ० सं० ५, ३, २६, ६)"॥

(३०) अहिर्बुध्न्यः। योऽहिः स एव बुध्न्यश्चेति समानाधिकरणश्चाहिर्बुध्न्यशब्दोऽसमस्तः। तथाच 'अहिना बुध्न्येन (३, ३, १२ ऐ० ब्रा०)'—इति श्रुतौ लिङ्गम्। "मनोऽहिर्बुध्न्यो रिपे धात (ऋ० सं० ५, ३, २६, ६)"॥

(३१) सुपर्णः। व्याख्यातो रश्मिनामसु (५७ पृ०)। इह शोभनगमनत्वान्मध्यम उच्यते। "एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश (ऋ० सं० ८, ६, १६, ४)"॥

(३२) पुरूरवाः। पुरुशब्दोपपदात् भृशार्थविशिष्टात् रौतेरसुनि 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति पूर्वपदस्य दीर्घः। अनेकविधमित्यर्थः। स्तनयित्नुलक्षणं शब्दं करोति पुरूरवाः। विज्ञायते हि वाताः प्राणा एव पुरूरवा इति। "महे यत्त्वा पुरूरवो रणाय (ऋ० सं० ८, ५, ३, २)"॥

श्येनः (१)। सोमः (२)। चन्द्रमाः (३)। मृत्युः (४)। विश्वानरः (५)। धाता (६)। विधाता (७)। मरुतः (८)। रुद्राः (९)। ऋभवः (१०)। अङ्गिरसः (११)। पितरः (१२)। अथ-

र्वाणः (१३)। भृगवः (१४)। आप्त्याः (१५)। अदितिः (१६)। सरमा (१७)। सरस्वती (१८)। वाक् (१९)। अनुमतिः (२०)। राका (२१)। सिनीवाली (२२)। कुहूः (२३)। यमी (२४)। उर्वशी (२५)। पृथिवी (२६)। इन्द्राणी (२७)। गौरी (२८)। गौः (२९)। धेनुः (३०)। अघ्न्या (३१)। पथ्या (३२)। स्वस्तिः (३३)। उषाः (३४) इला (३५)। रोदसी (३६)। इति षट्-त्रिंशत् पदानि ॥ ५ ॥

(१) श्येनः। श्येनोऽश्वनामसु व्याख्यातः (१६६ पृ०)। इह मध्यमोऽभिधेयः। "आदाय श्येनो अभरत् सोमम् (ऋ० सं० ३, ६, १५, ७)" ॥

(२) सोमः। 'षुञ् अभिषवे (स्वा० उ०)'। अर्त्तिस्तुसुहु-धृक्षि (उ० १, १३७)'—इति मन्। सूयते सोमः। "पवस्व सोम धारया (ऋ० सं० ६, ७, १६, १)" ॥

(३) चन्द्रमाः। चायनात् द्रमतेरसुन्। चायन्शब्दस्य चन्सावः। चायन् पश्यन् लोकपालत्वात् द्रमन् गच्छति। यद्वा, चन्द्रशब्दे उपपदे मातेश्च 'चन्द्रे मो डित् (उ० ४, २२२)'

—इत्यसुन्। चन्द्रश्चासौ निर्माता। चन्द्रमानं निर्माणमात्मनः कर्मणां चास्य। यद्वा, चान्द्रं चन्द्रसम्बन्धि मानमस्य चान्द्रमाः सन् ह्रस्वत्वेन चन्द्रमाः। यद्वा, चारुशब्दे उपपदे द्रवतेरसुनि बाहुलकाद्रूपसिद्धिः। चारु शोभनं द्रवति गच्छति मन्दगतित्वात् वा। चिरं द्रवति वा। "प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः (ऋ० सं० ८, ३, २३, ४)"॥

(४) मृत्युः। म्रियतेरन्तर्णीतण्यर्थात् 'भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ (उ० ३, १६)'—इति त्युक्प्रत्ययः। मारयति प्राणिनः मृतं च्यावयतीति वा। मृतमिति वर्त्तमानसामीप्ये आसन्नमृत्युं चरमोच्छ्वासकाले शरीरात् च्यावयति। अथवा, मृत क्षीणायुःसंस्कार उच्यते, तम् मृतं मध्यमः प्राणः शरीरात् च्यावयतीति मृत्युः। मृतशब्दोपपदात् च्यावयतेः 'अन्यादयश्च (उ० ४, १०८)'—इति उप्रत्ययः, मृतान्तलोपः, च्यावयतेस्त्युभावश्च निपात्यते। "परं मृत्यो अनु परे हि पन्थाम् (ऋ० सं० ७, ६, २६, १)"॥

(५) विश्वानरः। 'अपि वा विश्वानर एवेति व्याख्यातम् (निरु० ७, २१)'। "अर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे (ऋ० सं० ४, १, ६, १)"॥

(६) धाता। (७) विधाता। व्युपसर्गार्थविशिष्टात्तदुपपदाच्च धाञस्तृच्। सर्वकर्मणा सर्वं स हि दधाति। "धाता ददातु दाशुषे (अथ० सं० ७, १, ४, २)"। "धातर्विधातः कलशाँ अभक्षयम् (ऋ० सं० ८, ८, २५, ३)"॥

(८) मरुतः। व्याख्याताः (३५३ पृ०)। मितं रुवन्ति स्तनयित्नुलक्षणं शब्दं कुर्वन्ति। अमितं वा बहुप्रकारं रुवन्ति। महदुच्चैर्द्रवन्ति, महदन्तरिक्षं द्रवन्तीति वा मरुतः। "आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैः (ऋ० सं० १, ६, १४, १)" ॥

(९) रुद्राः। रुद्रशब्दो व्याख्यातः (४६८ पृ०)। अत्र बहुवचनम्। "आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसः (४, ३, २१, १)" ॥

(१०) ऋभवः। ऋभुशब्दो व्याख्यातो मेधावितामसु (२४३ पृ०) विद्युत्प्रकाशनमुरु विस्तीर्णं भाति, ऋतेन यादृक्षेन दीप्यन्ते, ऋतेन सत्येन चान्तःसहाया भवन्ति। "सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः (ऋ० सं० १, ७, ३०, ४)" ॥

(११) अङ्गिरसः। 'देवस्य वितते यज्ञे महतो वरुणस्य च। ब्रह्मणोऽप्सरसो दृष्ट्वा रेतश्चस्कन्द कर्हिचित्। तत् प्रतीक्ष्य समर्येन स जुहाव विभावसौ। अङ्गारेभ्योऽङ्गिराः'। जस्। "ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे (ऋ० सं० ८, २, १, ५)" ॥

(१२) पितरः। 'पिता पाता वा (निरु० ४, २१),—इत्यादिना व्याख्याताः। जस्। "उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः (ऋ० सं० ७, ६, १७, १)" ॥

(१३) अथर्वाणः। (१४) भृगवः। थर्वतिश्चरतिकर्मा नैरुक्त-धातुः। न थर्वणमथर्वणमगमनं सतो जसि अथर्वणाः सन्तः आथर्वणः। यद्वा, थर्वतेः 'श्वन्नुक्षन्पूषन् (उ० १, १५५)'—इत्यादिना कनिनप्रत्ययान्तो निपात्यते। अथर्वाणोऽगतन्तारः। भृगवः। भृज्यमानाः महत्तेजस्त्वात्। भ्रस्ज पाके (तु०

उ०)'। 'प्रथिम्रदिभ्रसृजां सम्प्रसारणं सलोपश्च (उ० १, २७)'—इत्युप्रत्ययः, न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम्। "अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः (ऋ० सं० ७, ६, १४, १)" ॥

(१५) आप्त्याः। आप्नोतेः अघ्न्यादित्वात् (उ० ४, १०८) यत्प्रत्ययः तुगागमश्च निपात्यते। आप्नुवन्ति सर्वमाप्त्या मध्यमस्थाना इन्द्रसहचारिदेवगणाः। "इनतममाप्त्यानाम् (ऋ० सं० ८, ७, २, १)" ॥

(१६) अदितिः। 'सर्वास्त्रियो मध्यमस्थाना पुमान् वायुश्च सर्वशः। गणाश्च सर्वे मरुत इति वृद्धानुशासनम्'। अदिति व्याख्याता नैगमे (३३ पृ०)। "दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते (ऋ० सं० ८, २, ६, ५)" ॥

(१७) सरमा। 'सृ गतौ (भू० प०)'। 'कलिकर्योरमः (उ० ४, ८२)'—इति बाहुलकादमप्रत्ययः। पणिभिरसुरैः गूढानि गा अन्वेष्टुं प्रहिता इन्द्रेण सरमा देवशुनी। "किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानट् (ऋ० सं० ८, ६, ५, १)" ॥

(१८) सरस्वती। व्याख्याता वाङ्नामसु (१०० पृ०)। "पावका नः सरस्वती (ऋ० सं० १, १, ६, ४)" ॥

(१९) वाक्। व्याख्याता स्वननामसु (११० पृ०)। "यद्वाग् वदन्त्यविचेतनानि (ऋ० सं० ६, ७, ५, ४)" ॥

(२०) अनुमतिः। (२१) राका। अनुपूर्वान्मन्यतेर्बाहुलकात् कर्त्तरि क्तिन्। अनुमन्यते यदनुमन्तव्यम्। 'रा दाने (अदा० प०) कृतापारादिकलिभ्यः कः'—इति कप्रत्ययः।

दीयते हि तस्यां देवेभ्यो हविः। मध्यमस्थाने 'देवपत्न्यौ (११, २८)'—इति नैरुक्ताः। पौर्णमास्याविति याज्ञिकाः। "अन्विदनुमते त्वम् (य० वा० सं० ३४, ८)"। "राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे (ऋ० सं० २, ७, १५, ४)"॥

(२२) सिनीवाली। देवपत्न्यावमावास्ये वा। सिनमन्नमस्तु व्याख्यातम् (२२३ पृ०)। वालं पर्व। "सिनीवालि पृथुष्टुके (ऋ० सं० २, ७, १५, ६)"॥

(२३) कुहूः। 'गुहू संवरणे (भू० उ०)' अस्मात्, कशब्दोपपदात् भवतेर्ह्वयतेर्वा 'नृतिशृध्योः कूः (उ० १, ८८)'—इति बाहुलकात् ऊप्रत्ययो गकारस्य ककारादि च। गुह्यः, द्रष्टश्चन्द्रमा न भवति तस्याप्रत्यक्षत्वात्। क पुनरसाविति चितर्यश्च चन्द्रमा भवति। "कुहूमहं सुवृतं विद्मनापसम् (तै० ब्रा० ३, ३, ११)"॥

(२४) यमी। यमेन व्याख्याता (४३१ पृ०)। 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'—इतीन्। 'कृदिकारात् (४, १, ४५ वा०)'—इति ङीप्। "अन्यमूषुत्वं यम्यन्यउ त्वाम् (ऋ० सं० ७, ६, ७८, ४)"॥

(२५) उर्वशी। व्याख्याता (४१३ पृ०)। उर्वश्नुते इत्यादि यथानुसन्धानं योज्यम्। "प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः (ऋ० सं० १, ५, २, ४)"॥

(२६) पृथिवी। व्याख्याता (४७ पृ०)। इह मध्यमाभिप्रेता। "इदं बिभर्षि पृथिवि (ऋ० सं० ४, ४, २१, १)"॥

(२७) इन्द्राणी। 'इन्द्रवरुण (१, १, ४९)'—इति ङीपानुक् च। मध्यमस्थाना इन्द्रस्य पत्नी वा। "इन्द्राणीमासु नारिषु (ऋ० सं० ८, ४, ३, १)"॥

(२८) गौरी। (२९) गौः। (३०) धेनुः। व्याख्याता वाङ्नामसु (९५, ९४, १११ पृ०)। "गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षति (ऋ० सं० २, ३, २२, १)"। गौरीमीमेदनु वत्सं मिषन्तम् (ऋ० सं० २, ३, २६, ३)"। "उपह्वये सुदुघां धेनुमेताम् (ऋ० सं० २, ३, २६, १)"॥

(३१) अघ्न्या। व्याख्याता गोनामसु (२४४ पृ०)। "अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीम् (ऋ० सं० २, ३, २१, ५)"॥

(३२) पथ्या। (३३) स्वस्ति। 'पन्थाः पततेः'—इत्यादिना पथिन्शब्दो व्याख्यातः (निरु० २, २८)। पद्यते तत्स्थानिभिरिति पन्था अन्तरिक्षम्। तत्र भवा पथ्या 'भवे छन्दसि (४, ४, ११०)'—इति यत्, 'नस्तद्धिते (६, ४, १४४)'—इति टिलोपः। सुपूर्वादस्तेः क्तिन्, 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—इत्यसार्वधातुकत्वात् भूभावाभावः, आर्द्धधातुकत्वच्छसोरल्लोपो न भवति। शोभना अस्ति रसवत्तया यस्याः स्वस्ति। शोभनत्वञ्चाविनाशित्वात्। 'पथ्यां स्वस्तिं प्रथमां प्रायणीये यजति'—इति दृष्टत्वात् द्विपदमेव समाम्नातम्। "स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा (ऋ० सं० ८, २, ५, ६)"॥

(३४) उषाः। उच्छतीति व्याख्याता (निरु० २, १८)। सा ह्युदकादि विवासयति विवास्यति वा मेघात्। "अपोषा अनसः सरत् (ऋ० सं० ३, ६, २०, ५)"॥

(३५) इला। व्याख्याता वाङ्नामसु (६४ पृ०)। "अभि न इला यूथस्य माता (ऋ० सं० ४, २, १६, ४)" ॥

(३६) रोदसी। व्याख्याता द्यावापृथिवीनामसु (३७२ पृ०)। अत्र पुंयोगलक्षणो ङीप् (४, १, ४८)। रुद्रस्य मध्यमस्थानस्य पत्नी माध्यमिका वाक्। "सचा मरुत्सु रोदसी (ऋ० सं० ४, ३, २०, ३)" ॥

इति मध्यस्थानदेवताः ॥ २ ॥

अश्विनौ (१)। उषाः (२)। सूर्या (३)। वृषाकपायी (४)। सरण्यूः (५)। त्वष्टा (६)। सविता। (७) भगः (८)। सूर्यः (९)। पूषा (१०)। विष्णुः (११)। विश्वानरः (१२)। वरुणः (१३)। केशी (१४)। केशिनः (१५)। वृषाकपिः (१६)। यमः (१७)। अजएकपात् (१८)। पृथिवी (१९)। समुद्रः (२०)। दध्यङ् (२१)। अथर्वा (२२)। मनुः (२३)। आदित्याः (२४)। सप्तऋषयः (२५)। देवाः (२६)। विश्वेदेवाः (२७)। साध्याः (२८)। वसवः (२९)। वाजिनः

(३०)। देवपत्न्यः (३१)। देवपत्न्य इत्येकत्रिंशत्पदानि ॥ ६ ॥

इति निघण्टौ पञ्चमाध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

(१) अश्विनौ। अश्वशब्दो व्याख्यातोऽश्वनामसु (१६८पृ०)। भासा सर्वं जगद् व्याप्नुतः। अवश्यायरसेन मध्यमः, तेजसोत्तमः। द्यावापृथिव्यावहोरात्रे सूर्याचन्द्रमसौ वाश्विशब्दाभिधेयौ। द्यौः ज्योतिषाश्नुते, पृथिवी रसेनान्नलक्षणेन। अहर्ज्योतिषा, रात्रिरवश्यायेन। सूर्यो ज्योतिषा चन्द्रमा रसेनाह्लादादिना वा। अश्वैस्तुरङ्गैस्तद्वन्तौ राजानौ पुण्यकृतावित्यौर्णवाभः। "कदेदमश्विना युवम् (निरु० १२, २)"॥ तयोः कालः ऊर्ध्वमर्द्धरात्रात् सूर्योदयपर्यन्तः। तस्मिन्नान्या देवता उपास्ते ॥

(२) उषाः। वष्टेर्वोच्छतेर्वा। "उषस्तच्चित्रमा भर (य० वा० सं० ३४, ३३)"॥

(३) सूर्या। व्याख्याता वाङ्नामसु (१०० पृ०)। एषैवोषाः सूर्या सम्पद्यते। "आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकम् (ऋ० सं० ८, ३, २३, ५)"॥

(४) वृषाकपायी। वृषाकपेरादित्यस्य पत्नी। 'वृषाकप्यग्निकुसितकुसिद (४, १, ३७)'—इत्यैकारङीषौ। "वृषाकपायि रेवति (ऋ० सं० ८, ४, ३, ३)"॥

(५) सरण्यूः। सैवोषा प्रभातकृदुदयावस्था सूर्यं प्रत्यात्मानं सरणेन नयति तदा सरण्यूरुच्यते। सर्तेः 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः (३, ३, ११८)'। सरेण सरणेन नयति 'मृतिमृदिकुदिभ्यः'—इति बाहुलकान्नयतेरूकप्रत्ययः, 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य (६, ४, ८२)'। "अजहादुक्ता मिथुना सरण्यूः (ऋ० सं० ७, ६, २३, २)" ॥

(६) त्वष्टा। (७) सविता। व्याख्याते (४५८ पृ०, ४७२ पृ०) तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्काकीर्णरश्मिर्भवति। "विनाकमख्यत् सविता वरेण्यः (य० वा० सं० १२, ३)" ॥

(८) भगः। व्याख्यातो धननामसु (२३१ पृ०)। भजनीयो भूतानां स्वकार्यप्रयुक्तानाम्। त्वष्टृकालानन्तर्यसिज्ज्योतिर्विशेषो भगाख्यः। प्रागुत्सर्पणाद्नाविर्भूतमण्डल इत्यर्थः। "प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम (ऋ० सं० ५, ४, ८, २)" ॥

(९) सूर्यः। व्याख्यातः सूर्याशब्देन (१०० पृ०) प्रागवस्थानः। सरति कर्मसु जगत् प्रेरयति वायुना घटाम्। सुष्ठु सर्वदैवोदयास्तमयौ प्रति ईर्यते। "दृशे विश्वाय सूर्यम् (ऋ० सं० १, ४, ७, १)" ॥

(१०) पूषा। 'पुष पुष्टौ (क्र्या० प०)'। 'श्वन्नुक्षन् (उ० १, १५५)'—इति कनिन्प्रत्यये उपधादीर्घत्वं निपात्यते। यदा रश्मिभिः परिपुष्टो भवति तदा पूषा। "भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु (ऋ० सं० ४, ८, २४, १)" ॥

(११) विष्णुः। व्याख्यातो यज्ञनामसु (३५१ पृ०) तीव्ररश्मिद्वारेण सर्वत्र व्याविशति। विशेर्बाहुलकान्नुप्रत्ययादि।

विश्वं रश्मिभिर्व्यश्नुते वा। "इदं विष्णुर्विचक्रमे (ऋ० सं० १, २, ७, २)" ॥

(१२) विश्वानरः। व्याख्यातः (४५४ पृ०)। इह उत्तमोऽभिधेयः। "विश्वानरस्य वस्पतिम् (ऋ० सं० ६, ५, १, ४)" ॥

(१३) वरुणः। "व्याख्यातः (४६८ पृ०)। "त्वं वरुण पश्यसि (ऋ० सं० १, ४, ७, ५)" ॥

(१४) केशी। (१५) केशिनः। केशा रश्मयः। प्रशंसायामिनिः। प्रकृष्टैः केशैस्तद्वान् 'काश्ट दीप्तौ (भू० आ०)' काशनं काशः, तद्वान् काशी सन् केशी। तमलोमध्यगत आदित्य उच्यते। "केश्यग्निं केशी विषम् (ऋ० सं० ८, ७, २४, १)" ॥

(१६) वृषाकपिः। 'वृष सेचने (भू० प०)'। 'कनिन्युवृषि (उ० १, १५४)'—इत्यादिना कनिन्। 'कपि चलने (भू० आ०)'। 'कुण्डिकम्प्योर्नलोपश्च (उ० ४, १३१)'—इतीप्रत्ययः णिजन्तो वा। अयञ्च सेचयिता, अवश्यायादीन् कम्पयंश्च चरति, दिवा चारीणि भूतानि भयात् कम्पयतीति वा। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम् (६, ३, १४)'—इति बहुलवचनादलुक्। "पुनरेहि वृषाकपे (ऋ० सं० ८, ४, ४, ३)" ॥

(१७) यमः। व्याख्यातः (४७१ पृ०)। सङ्गच्छते रश्मिभिरिति अस्तमयावस्थ आदित्य उच्यते। "देवैः सम्पिबते यमः (ऋ० सं० ८, ७, २३, १)" ॥

(१८) अजएकपात्। अस्तमावस्थ आदित्य उच्यते। द्विपदं चैतत्। अजतेः पचाद्यचि बाहुलकात् वीभावाभावः। एकश्च

पादः कस्य ब्रह्मणः। कुत एतत् विज्ञाते हि अग्निः पादः, वायुः पादः, आदित्यः पादः, दिशः पादः, इति। तेनाजश्चासावेकपाच्चेति। 'संख्यासुपूर्वस्य (५, ४, १४०)—इत्यबहुव्रीहावपि पादस्याकारलोपः। एकेन पादेनांशेन सर्वमिदं जगत् ज्योतिरात्मना प्रविशन् पाति, एकेनांशेन उदकं सर्वस्य जगतः पिबति, क्विपि वकारोपजनः। एकोऽस्य पाद इत्ययथाप्राप्तः पादान्त्यलोपः। "पाथीरवीतन्यतुरेकपादजः (ऋ० सं० ८, २, ११, ३)" ॥

(१९) पृथिवी। व्याख्यातः (४७ पृ०)। इह द्यौरुच्यते। "यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्याम् (ऋ० सं० १, ७, २७, ३)" ॥

(२०) समुद्रः। व्याख्यातोऽन्तरिक्षनामसु (४६ पृ०)। निर्वचनेषु योज्यम्। उत्तमोऽभिधेयः। "महः समुद्रं वरुणस्तिरोदधे (ऋ० सं० ७, २, २६, ३)" ॥

(२१) दध्यङ्। ध्यानं ज्ञानं लोककृत्याकृत्यविषयं लोकपालत्वात्। ध्यानं प्रतिगतं प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा। ध्यानशब्दोपपदात् अञ्चतेः क्विनि पृषोदरादित्वात् ध्यानशब्दस्य दधिभावः, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः (८, २, ६२)' ॥

(२२) अथर्वा। व्याख्यातोऽथर्वाण इत्यत्र (४७७ पृ०)। इह तु उत्तमो वाच्यः। न ह्ययं स्वाधिकारं व्यभिचरति, रसादानादिकं नित्यमनुतिष्ठतीत्यर्थः ॥

(२३) मनुः। मन्यतेर्मननार्थाद् दर्शतिकर्मणो वा 'शॄस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च (उ० १, १०)'—इत्युप्रत्ययः। मननात् स्वाधिकारादेः, अर्च्यते इति वा मनुरादित्यः।

"यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत (ऋ० सं० १, ५, ३१, ६)" ॥

(२४) आदित्याः। आङ्पूर्वात् दातेर्दीप्यतेर्वा अघ्न्यादित्वात् (उ० ४, १०८) यत्प्रत्ययः। आकारेकारयोरिकारः, दाजस्तुक् दीप्यतेः पकारस्य तकारश्च निपात्यते। भुवो रसं रश्मिभिरादत्ते। ज्योतिषां चन्द्रनक्षत्रग्रहादीनां भासमादत्ते वा, तदुदयेऽतद्भावादादानव्यपदेशः। आदीप्तः ज्योतिरन्तरापेक्षया हि स्वभासा। अदितेः पुत्रा वा आदित्याः 'दित्यदित्यादित्य (४, १, ८५)'—इति ण्यः। तथा च 'अदितेः पुत्रकम्'—इत्यादि ब्राह्मणम्। जसि आदित्याः मित्रादयः। "इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः (ऋ० सं० २, ७, ६, १)" ॥

(२५) सप्त ऋषयः। व्याख्याताः (५६ पृ०)। रश्मयः। षडिन्द्रियाणि वा मनःषष्ठानि विद्यासप्तमानि। "सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे (य० वा० सं० ३४, ५५)" ॥

(२६) देवाः। दिव्यतिर्दानार्थो दीप्त्यर्थो वा। पचाद्यच् (३, १, १३४)। दातारोऽभिमतानां भक्तेभ्यः। तैजसत्वाद् दीप्ता वा। द्युतेर्वापि बाहुलकाद्रूपसिद्धिः। अर्थः समानः। दिवः सम्बन्धिनो वा देवाः। तस्येदम् (४, ३, १२०)'—इत्यणि वृद्ध्यभावश्छान्दसः। 'द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् (४, २, १०१)'—इति यत्प्रत्ययो नात्र भवति। द्युस्थाना इत्यर्थः। देवा रश्मय उच्यन्ते। "देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयताम् (ऋ० सं० १, ६, १५, २)" ॥

(२७) विश्वेदेवाः। सर्वे देवाः। "विश्वेदेवास आगत (ऋ० सं० १, १, ६, १)" ॥

(२८) साध्याः। व्याख्याताः रश्मिनामसु (५७ पृ०)। नैरुक्तपक्षे रश्मयः। ऐतिहासिकानान्तु कर्मभिरात्मभिरात्मसाधनात् पूर्वे देवसमूहाः, ये च किल विश्वसृजो नाम ऋषयः। "यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः (ऋ० सं० २, ३, २३, ४)" ॥

(२९) वसवः। व्याख्याता रश्मिनामसु (५५ पृ०)। त्रिभागेनावस्थितमिदं सर्वमाच्छादयन्ति। अत्र त्रिस्थाने छादकत्वात्। वसवो यावत् किञ्चित् पृथिवीस्थानमग्निभक्ति तत् सर्वं वसुत्वेनाभिप्रेत्यैतदुच्यते,—'अग्निर्वसुभिर्वासव इति समाख्या तस्मात् पृथिवीस्थानाः (निरु० १२, ४१)'। एवमिन्द्रो वासवः, मरुतो हि वासवाः समाख्याताः, तस्मात् मध्यमस्थानाः। वसव आदित्यरश्मयो विवासनात्तमसां तस्मात् द्युस्थानाः। "अस्मे धत्त वसवो वसूनि (य० वा० सं० ८, १८)" ॥ "उभया अत्र वसवो रन्त देवाः (ऋ० सं० ५, ४, ६, ३)" ॥

(३०) वाजिनः। वाजिशब्दश्चाश्वनामसु व्याख्यातः (१६० पृ०) रश्मयोऽभिप्रेयाः। देवाश्च वाजिनः। "शन्नो भवन्तु वाजिना हवेषु (ऋ० सं० ५, ४, ५, ७)" ॥

(३१) देवपत्न्यः। देवानां पाल्यित्र्यः पालनीया वा। "देवानां पत्नी रुशतीरवन्तु नः (ऋ० सं० ४, २, २८, ७)" ॥

अध्यायपरिसमाप्तिर्द्विर्वचनं, श्रुतिदर्शनात् ॥

अग्निर्द्रविणोदा अश्वो वायुः श्येनाि

अत्रिगोत्रर्श्रीदेवराजयज्वनः कृते निघण्टुनि

पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

आद्यं नैघण्टुकं काण्डं द्वितीयं नैगमं
तृतीयं दैवतञ्चेति समाम्नायस्त्रिधा स्थि
गौराद्यपारपर्य्यन्तमाद्यं नैघण्टुकं मत
जहाद्यु लूवमृचीसान्तं नैगमं सम्प्रचक्ष
अग्न्यादिदेवपत्न्यन्तं देवताकाण्डमुच्यते

तत्र च—

अग्न्यादिर्देवीऊर्जाहुत्यन्तः क्षितिगतो गण
वाय्वादयो भगान्ताः स्युरन्तरिक्षस्थदेवत
सूर्य्यादिदेवपत्न्यन्ता द्युस्थानदेवता इति
गौरादिर्देवपत्न्यन्तः समाम्नायोऽभिधीयते

इति निघण्टुः समाप्तः ॥

॥ श्रीः ॥

निरुक्ते (निघण्टु भागस्य) शुद्धिपत्रम्

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
२	६	निर्त्र्ं घता	निर्त्र्ं घता
३	१७	शुद्वया	शुद्धा
१०	१३	मूर्त्याः	मर्त्याः
११	३	अर्भीशवः	अभीशवः
१२	५	द्यम्रम्	द्युम्नम्
१२	११	हलते	हेलते
१४	१६	संयत	संयत्
२१	८	तृतीयोध्ऽयायः	तृतीयोऽध्यायः
२८	६	परिवाजकः	परिव्राजकः
२८	१०	घार्थें	घार्थे
२६	१८	वृष्य्या	वृष्ट्या
३७	५	त्रत्यप्रयः	प्रत्ययः
३७	७	त्रैड्	त्रैड्
३८	६	वाणिज्य	वाणिज्य
३६	१०	गच्छत	गच्छति

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
३६	१६	ह्रियते	ह्रियते
४०	८	वृहदारण्यके	वृहदारण्यके
४०	८	मात्रा मपा	मात्रामपा
४१	११	र्धाप्यते	र्धार्य्यते
४८	८	पूर्वेण	पूर्वेण
४८	१०	मार्गौ	मार्गौत
४८	१८	तर्णौ	तर्णौ
४८	२२	सर्गे	सर्गे
४६		चतुर्थो	प्रथमो
५१		तृतीयो	„
५१	६	मयूखा	मयूखाः
५१	१६	रस्मिः	रश्मिः
५२	६	पष्ठ्येन	ष्ण्येन
५३		चतुर्थौ	प्रथमो
५३	३	योजनाॅ	योजनाँऽ
५३	५	रश्मिमिस्त	रश्मिमिस्तऽ
५४	१५	७।	७,
५५	३	नाश्च	नाश्च
५५	१५	उमया	उमयाऽ
५८	४	त्वयँ	त्वयँ
५८	१६	उपसर्ग	उपसर्ग

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
५६	४	र्घेत्रथ	र्घेत्रर्थे
६२	११	हिसायाम्	हिंसायाम्
६६	१६	लॅक्षणम्	लॅक्षणम्
७०	१	सवें	सर्वें
७०	७	सगें	सर्गे
७१	६	घर्णं	वर्णं
७१	१७	रूपी	रूपी
७१	१८	ञ	ञ्ञ
७४	४	स्वार्थें	स्वार्थें
७४	६	म्च्	रच्
७४	६	स्वार्थें	स्वार्थें
७४	२१	सत्तें	सत्तें
७५	७	घ्रंस	घ्रंसः
७५	१५	जिघत्तें	जिघत्तें
७५	१५	द्दीङः	द्दीङ
७७	६	मॅघ	मॅघ
७८	८	स्वार्थें	स्वार्थें
७९	६	वत्र	पत्र
८०	१५	ऐश्वर्ये	ऐश्वर्ये
८१	१५	चर्पंण	चर्वेण
८२	२	इद	इदु

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
८२	१६	मंघः	मेघः
८६	१५	वक्ष्य	वक्ष्य
८८	४	सर्व	सर्व
८६	१६	त्यर्थः	त्यर्थः
८६	२२	त्रिन्द्रेन	त्रिन्द्रेण
६०	२	दर्शं	दर्शं
६०	५	सन्दिधम्	सन्दिग्धम्
६०	२०	शस्त्र	शस्त्र
६३	१२	क्वि	क्विप्
६४	११	यह्न	वह्न
६६	६	पृषोदर	पृषोदरा
६६	१२	।त्यये	प्रत्यये
६६	२	कर्म	कर्म
६६	२२	ह्यर्थेन	ह्यर्थेन
१००	१३	स्वार्थे	स्वार्थे
१०१	१	देवाता	देवता
१०१	२०	अथचा	अथवा
१०३	१२	निगमा	निगमाः
१०३	१७	वृष्ट्युदकं	वृष्ट्युदकं
१०४	११	यडन्त	यङन्त
१०६	६	वों	वों

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१०६	१०	दीर्घः	दीर्घः
१०७	२	इद्य	इच
१०७	१६	अमि	अभि
१०८	६	न पूर्वः	न पूर्वः
१०८	१२	वर्ण	वर्ण
१०९	२२	वर्पण	वर्पेण
११०	११	सर्वः	सर्वः
"	१५	गत्यर्थी	गत्यर्थौ
"	१५	दृप्र	दृप्रः
"	१६	भिन्नें	भिन्नें
१११	१	वृद्ध्यर्थः	वृद्ध्यर्थः
१११	४	स्पर्शों	स्पर्शौ
१११	१५	निगम	निगमः
११२	१२	सर्गं	सर्ग
११३	८	( )	(१)
११३	८	क्षत्रः	क्षत्र
११४	३	त्वः	शवः
११६	१५	प्राणितां	प्राणिनां
११७	५	सवममः	सर्वममः
११८	२०	पुनर्वं	पुनर्वं
१२३	८	अग्नेर्वं	अग्नेर्वें

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१२३	१३	सर्वें	सर्वे
१२४	६	स्निर्णयः	न्निर्णयः
१२५	१०	सर्गें	सर्गे
११६	५	सङ्ख्या	सङ्ख्या
१३१	१	सवन्ध	सम्बन्ध
१३१	१२	स्थैर्यें	स्थैर्ये
१३२	३		(
१३२	५	प्रजन	प्रजनन
१३२	८	मुख्यार्थौं	मुख्यार्थौ
१३३	८	सर्वें	सर्वे
१३३	१७	वर्तमाने	वर्त्तमाने
१३४	१६	ऋवयः	ऋषयः
१३६	२	निरुत्त	निरुक्तया
,,	६	गभीर	गभीरऽ
,,	१५	अजथनाव	अजथनावऽ
१३६	२२	दर्थें	दर्थे
१४०	७	पूर्वंवत्	पूर्ववत्
१४०	१७	यह्वो	यह्वोऽ
,,	१७	वर्द्धंते	वर्द्धते
१४२	६	,,	,,
१४३	२	निश्चि	निश्चि

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१४३	८	घञर्थं	घञर्थे
१४५	३	त्यर्थं:	त्यर्थः
१४६	१०	रुद्र	रुद्रं
१	१४	कर्मिन	कर्मिनं
१४८	८	हृंञः	हृंञः
१४८	१८	स्थैर्यें	स्थैर्यं
१५२	२०	पूर्वें ण	पूर्वेण
१५४	१०	न्वेषणीय	न्वेषणीयः
१५६	१	हृद्रं	हृदं
”	१६	वलं	वलं
१५६	४	नद्या	नद्यो
१६०	२	धामत्या	धामत्याऽ
१६०	२	कर्पं	कर्णं
१६०	१८	घञ	घञ्
१६२	१	चक्षुः	चक्षुः
१६४	८	ईषद्दः	ईषद्दुः
१६४	८	कृच्छ्रार्थेप	कृच्छ्रार्थेषु
१६४	२१	क्षीयतेर्वो	क्षीयतेर्वो
१७०	२	युयुजे	युयुजेऽ
१७०	८	यदेतदयुक्ता	यदेदयुक्त
१७१	७	कृग	कृग

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१७४	१८	श्रृङ्गाणिः	श्रृङ्गाणि
१८०	१८	कर्तृन्	कर्तृन्
१८४	१	करिकत्	करिकत्
१८५	१	कर्त्तौं	कर्तौ
१६४		निग्रण्टः	निघण्टुः
१६५	१	कृपृयः	कृप्र्यः
१६८	१२	इत्यस्मात	इत्यस्मात्
२०१	१४	त्यौ	इत्यौ
२०४	६	२५	३
२०७	५	इपि घनि	इति वनिप्
२०८	८	अग्रलोपः	ग्रलोपः
२०६	६	(५)	(६)
२०६	६	निर्वचने	निर्वचने
२०६	१०		इति युच्
२१०	२१	लोंपः	लोपः
२१२	६	मिप	मिण्
२१३	८	विसर्जनीयः	विसर्जनीयः
२१६	१५, १६	समयौं गा	समयौं गा ऽ
२१७	१६	हर्यंतः	हर्यतः
२२०	१४	मर्यो	मर्यो
२२२	१४	प्रजन	प्रजनन

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
२२८	१२	पृथुन्य	पृथून्य
२३५	१४	मस्जी	मस्जो
२४६	१२	१६'	११
२४८	८	इत्येकादशः	इत्येकादश
२५२		निघण्टः	निघण्टुः
२५३	४		१४॥
२५५	१५	शप्मे	शुप्मे
२५५	१६	विसखा	विसखाऽ
२५८		निघण्टः	निघण्टुः
२६१	८	स्वसारः	स्वसारः
२६१	८	मञ्जुपन्	मञ्जुपन्
२६१	१२	कर्माः	कर्मा
२६१	१८	विहायसां	विहायसा
२६२	२	श्यनो	श्येनो
२६२	२	दीतन्न	दीयन्न
२६६	१६	मस्जी	मस्जो
२७६	२०	एवमर्थो	एवमर्थो
२८५	२१	शत्रन्	शत्रून्
"	२२	त्स	स
२९२	१४	बहुल	बहुलं
२९४	२	सिद्धि	सिद्धिः

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
३६४	१	द्रुपदे	द्रुपदे
"	२	"	"
४०१	२२	चयम	व्ययसऽ
४०२	२१	धार्य्यम	धार्य्यम्
४०५	१७	श्रेष्ठ	श्रेष्ठं
४०६	१३	भदन्तैः	भन्दतेः
४०७	८	विसर्जे	विसर्जे
४०६	१४	थाल	थाल्
४०६	१५	इधार्थैं	इवार्थे
४१०	८	सर्गौं	सर्गौ
४१३	१	मुंखरव्य	मुंरव्य
"	२२	(४)	(४७)
४१५	१३	तूर्णं	सूर्ण
४१६	१३	त्रना	धना
४१७	२२	स०	सं०
४२०	१५	स	से
४२०	२०	सर्गं	सर्गे
४२१		चतुर्थौं	चतुर्थौ
४२१	४	चर्णन्तु	चर्णांशु
४२३	५	अप्त्वे	अपूर्वे
४२६	११	गुणा भाच	गुणाभाव

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
४२७	८	दम्रो	दम्नो
४२८	७	सृप	सृम्य
४३१		नतुर्थां	चतुर्थी
४३१	१६	हादकम्	हादकम्
४३२	१	सवंतः	सर्वतः
४३७	२८	सुष्टुः	सुष्टु
४४२		निघण्टः	निघण्टुः
४४३	२२	मृमि	भूमि
४४६	११	अर्वणग्न	अर्वणम्न
४४६	११	वचनों	वचनो
४४८	२२	च्छार्थौ	च्छार्थो
४४६	८	सम्पर्यात्	सम्पूर्यात्
४४६	६	सर्गे	सर्गे
४५१	१	श्रतिः	श्रुतिः
४५२	२०	विधि	विधी
४५४	११	कारः	गकारः
४५४	१६	लक्षपं	लक्षणं
४५७	२०	प्रथमार्थे	प्रथमार्थे
४५८	१६	पूर्वं	पूर्व
४५६	१५	स्याता	स्यातो
४६०	१	उग्रयतेः	उग्रयतेः

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
४६०	४	भवासिः	भवासि
४६०	१८	अश्न	अश्नु
४६१	७	नैं रुक्त	नैरुक्त
४६२	१८	अश्त्रा	अश्वा
४६३	१८	शर्व्द	शब्दे
४६४	८	(स०)	(सं०)
४६७	२	घ्नन	घ्नन्
४६८	६	अहिंयु	अहिंयुं
४७२	१०	स्तीर्प	स्तीर्णे
४७२		निघण्टः	निघण्टुः
४७६	४	घति	द्रवति
४७७	४	विद्यन्	विद्युन्
४७७	८	विद्यन्	विद्युत्
४८५	३	संत्यास	संव्यासु

इति निरुक्ते (निघण्टु भाग्स्य) शुद्धाशुद्धि पत्रम् ।

ॐ तत्सत्